CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति का विकास

(द्वितीय खण्ड)

औपनिषद धारा

विद्यामार्तण्ड (कां० वि०)
डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री
एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन)
पूर्व-उपकुलपति
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय विद्या-प्रकाशन
वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक

किशोर चन्द जैन

प्रोप्राइटर

भारतीय विद्या-प्रकाशन,

पो० बाक्स १०८, कचौड़ी गली

वाराणसी

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य १२.००

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ६५६२-२२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"सत्यस्य सत्यम्" (बृह० उप० २ । १ । २०)
आदर्श के अनुगामी सत्यव्रती दिव्य लोकवासी
सन्त राजेश (१९२७-१९६४)
की पवित्र स्मृति में ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राक्कथन

वेदान्त संस्कृति की सर्वतोभद्र मीमांसा

(औपनिषद धारा)

मनुष्य-जीवन जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से व्याप्त और अभिभूत है, ऐसा देखकर कष्टी हुए मानव ने स्वर्ग की कल्पना की और माना कि वहाँ देव रहते हैं जो अजर अमर होते हैं। अमृत का पान और अप्सराओं का गान और आलिंगन वहाँ मिलता रहता है; ऐसी सुखद कल्पना उसने की और प्रचार चलाया कि अश्वालंभ, गवालंभ आदि यज्ञ करने से उसके पुण्य-फलस्वरूप स्वर्ग मिलता है—"स्वर्ग-कामो यजेत"। यहाँ तक सब ठीक था। लेकिन हर एक का पुण्य एक-सा नहीं होता, इसलिए स्वर्ग में किसी का स्थान ऊँचा, किसी का नीचा। फिर स्वाभाविक था कि ऊँचेवाले अभिमान और दर्प से नीचेवालों को तुच्छ गिनें और नीचेवाले ऊपरवालों की ईर्ष्या करें—जैसा इहलोक में होता है (हमारे स्वर्ग में साम्यवाद नहीं था)।

पुण्य के द्वारा मिलनेवाले स्वर्ग में दूसरी कठिनाई आ गई। स्वर्ग का उपभोग करते पुण्य क्षीण होता है और पुण्य का बॅन्क बॅलन्स ख़त्म होने पर फिर से मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ता है। ("क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति")। इस तरह स्वर्ग का आनंद भी किरकिरा हो गया।

वैदिक संस्कृति की इस कल्पना में दो बातें थीं। स्वर्ग का एक काल्पनिक चित्र और यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है यह अंध-विश्वास। लेकिन जब वेदों का अपौरुषेयत्व सर्वमान्य था, स्मृति आप्तवाक्य होने से उस पर अविश्वास करना अयोग्य था। फलतः वेदकाल के सुधारकों ने कभी भी यह कहने की हिम्मत नहीं की कि स्वर्ग का चित्र काल्पनिक है और यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है यह केवल अंधविश्वास है। उन्होंने ये दो बातें बाजू पर रखकर प्रचार चलाया कि स्वर्ग-सुख तुच्छ है और क़ायमी नहीं है। क़ायमी सुख तो स्वर्ग को पहुँचना और वहाँ से गिर जाना, इस झंझट से तथा जन्म-मृत्यु के जीवन-चक्र से मुक्त होने में ही है।

चंद लोगों ने पशुहिंसा की कठोर प्रवृत्ति से ऊबकर प्रश्न पूछा सही (किन्तु वे शायद वेदबाह्य होंगे) कि यज्ञ का अग्नि प्रज्वलित रखने के लिए पेड़ों को तोड़कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और यज्ञ में अर्पण करने के लिए पशुओं को मारकर रक्तमांस का कीचड़ करना, यह अगर स्वर्ग जाने का रास्ता है तो बताइये नरक जाने का रास्ता कौन-सा है ?

स्वर्ग-सुख का चित्र ही काल्पनिक था। यज्ञ के 'पुण्य' बलपर स्वर्ग जाकर, पुण्य ख़त्म होने पर जो लोग मनुष्य-लोक में लौटे, उनके मुँह से भी स्वर्गसुख का अनुभव किसी ने सुना नहीं। ऐसी हालत में, मनुष्य का काल्पनिक स्वर्ग पर का और पशुहत्या आदि द्रव्ययज्ञ-विषयक विश्वास ढीला हो गया। रूढ़ि के कारण और प्रतिष्ठा के कारण यज्ञों की संख्या और यज्ञों का वैभव चाहे जितना बढ़ा हो, रूढ़ यज्ञ की संस्था विचारशील लोगों के मन में अप्रतिष्ठित हो गई।

इसी से वैदिक कर्मकांड अप्रतिष्ठित होकर ज्ञान-चर्चा ने ज़ोर पकड़ा। मुनि-संप्रदाय ने सोचा—जटिल जीवन से ही बचना अच्छा। ज्ञान और ध्यान के बल पर निर्वाण प्राप्ति करना ही है जीवन प्राप्ति का लक्ष्य। लेकिन जीवन को शून्य बना देना किसी को कैसे पसंद हो सके ? मनुष्य ने निर्वाण के पोलेपन को ब्रह्म-प्राप्ति के आदर्श से भर दिया और मोक्ष को ठोस बनाया। और वैदिक कर्मकाण्ड के साथ समस्त कार्य-कलाप को छोड़नेवाले पक्ष को समझाया कि जीवन-साफल्य के लिए कर्म तो करना ही होगा; वैदिक कर्मकाण्ड जैसे काम्य कर्म को भले छोड़ो, कर्ममात्र का त्याग करने की बात मत करो। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म आवश्यक हैं। लोकयात्रा अथवा ऊर्ध्वगामी जीवन-प्रवृत्ति चलाने के लिए और चित्त की शुद्धि के लिए निष्काम कर्म करना ज़रूरी है। केवल कर्मत्याग से वासनात्याग नहीं होता है। लोक-संग्रहात्मक कर्म निष्काम भाव से करने से ही वासना-त्याग होता है और लोक-कल्याण भी साध्य हो सकता है।

स्वर्गकामना से पशु-वध-मूलक तथा द्रव्य-यज्ञ-विषयक रूढयज्ञ की प्रवृत्ति का इस तरह से अंत हो गया। और मोक्ष अथवा ब्रह्मविद्यावाली लोक-संग्रह को मान्यता देनेवाली संस्कृति का उदय हुआ। इस महान् परिवर्तन की प्रक्रिया को तुष्ट ढंग से समझानेवाला यह ग्रन्थ श्री मंगलदेव शास्त्री ने हमें दिया है। इसे पढ़के जो प्रसन्नता और संतोष मुझे हुआ उसे व्यक्त करने के लिए मैं कहूँगा—

श्री मङ्गलदेवो यद् अत्र अब्रवीत्
तद् युक्तियुक्तमितिहाससिद्धम् भेषजं च।

अब वेदान्त शब्द का अर्थ हम ज़रा समझें। अदृढ नौका के जैसे यज्ञ रूपी वेदों के अंत में वैदिक साहित्य का जो आख़िरी ज्ञानचर्चात्मक विभाग है, उसे वेदान्त कहा जाता है। वैदिक साहित्य के ज्ञानकांड हिस्से को वेदान्त कहते हैं, क्योंकि वह वैदिक साहित्य का अंतिम हिस्सा है। उपनिषद् साहित्य को हम वेदान्त कहने लगे। इस साहित्य की परिगणना ईशोपनिषद् से प्रारंभ करती है। यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईशोपनिषद् मंत्रोपनिषद् है। यजुर्वेद के अन्त में आता है, इसलिये इसे अक्षरशः वेदान्त कह सकते हैं।

वेदान्त शब्द का यही मूलार्थ है। लेकिन हम उसका व्यापक अर्थ भी करते हैं। मेरे एक आदरणीय शास्त्री और गीताभक्त विनोद में कहते हैं—जिस विचार-प्रणाली ने वैदिक संस्कृति का अंत कर डाला, वही है वेदान्त।

इस वेदान्त संस्कृति का प्राचीन उपनिषदों से प्रारंभ हुआ, ब्रह्मसूत्रों ने उसे ब्रह्म-जिज्ञासा-मूलक ज्ञानमार्ग की ओर खींचा और गीता ने समन्वय-वृत्ति से वेदान्त संस्कृति को जीवन-परायण बनाया और जीवन को शून्य न बनाते हुए, भावसंशुद्धि द्वारा मोक्ष-मार्ग की ओर खींचकर मानव-समाज को ब्रह्मनिर्वाण की ओर ले जाने-वाली दैवी संपत्ति की दीक्षा दी। हम कह सकते हैं कि वेद-संस्कृति की पौष्टिक घास खाकर उपनिषद्-रूपी गोवंश परिपुष्ट हुआ और श्रीकृष्ण भगवान् ने इन गायों को दोहकर गीतामृत रूपी दूध बुद्धियुक्त मानव-जाति को अर्पण किया।

गायों की उपमा हम भारतीयों को अत्यंत प्रिय होती है। घोड़े के रथ की उपमा भी हमें इतनी ही प्रिय है। और आर्यों की प्यारी तीसरी उपमा मधुमक्खी की है। ये मक्खियाँ छोटे-बड़े फूलों के हृदय में से अमृतरस निकालती हैं; किन्तु यह रस, वैसा का वैसा, छत्ते में भर नहीं देतीं। फूलों के रसों का शहद में ऐसा रूपान्तर करती हैं कि वह न सड़ता है, न बासी होता है। जितना पुराना उतना वह अधिक-गुण भी। शहद की मदद से किसी भी फल का हम मुरब्बा बना सकते हैं। श्रीकृष्ण जैसे मधुकर राजा ने वेद का दूध उपनिषदों से लेकर उसका गीता-रूपी शहद बनाया है।

हमारे पुरखाओं ने—जिनमें श्रीकृष्ण भी आते हैं और उनमें वे ही प्रधान हैं—वेदकालीन अर्थगंभीर भावसमन्वित शब्दों का त्याग न करते हुए, उनमें नया व्यापक और पौष्टिक अर्थ भर दिया है। यज्ञ शब्द तो वैदिक संस्कृति का प्राण ही माना जायगा। वैदिक संस्कृति को हम 'यज्ञ-संस्कृति' कह सकते हैं। वैदिक ऋषियों ने ही वैदिक शब्दों का अर्थ-विकास शुरू किया था। उसका पूर्ण विकास गीता-कार ने किया।

वैदिक काल में कर्म का जो संचुकित अर्थ था उसे बढ़ा कर कर्म की नयी व्यवस्था की—**"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"**। यज्ञ, दान, तप—तीनों को विशुद्ध रूप में रुजू करके भावसंशुद्धि की साधना बताई और ब्रह्म-निर्वाण को 'मम साधर्म्य' का रूप दिया।

वैदिक संस्कृति से वेदान्त संस्कृति का क्रमशः विकास कैसे हुआ, इसका पक्षपात-रहित, इतिहासपुनीत और संतोषकारक विवरण देकर श्री मंगलदेव शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने भारतीय संस्कृति की उत्तम सेवा की है। इसका मुख्य कारण मैं यही देखता हूँ कि ऐतिहासिक दृष्टि से सत्यान्वेषण करने की हिम्मत के साथ उनमें समन्वय साधने की जीवनधर्मी समन्वय-कला भी परिपुष्ट हुई है। समन्वय के माने एक-वाक्यता नहीं, किन्तु परस्पर-सामंजस्य है। समन्वय के बल पर ही मानवी जीवन और मानवी समाज विशुद्धि, उन्नति, समृद्धि और सामर्थ्य प्राप्त करता आया है।[१]

अन्त में मैं पुनः कहना चाहता हूँ कि विद्वान् ग्रन्थकार ने औपनिषद धारा में जो कुछ लिखा है वह मुझे बहुत अच्छा लगा। आपकी ऐतिहासिक दृष्टि सच्ची श्रद्धा को नहीं तोड़ती; और श्रद्धा अंधी बनकर ऐतिहासिक सत्य का द्रोह नहीं करती। और कुल मिलाकर आपका बैलन्स सब तरह से सन्तोष देता है।

'संनिधि'
राजघाट, नई दिल्ली,
१६-१०-६६

काका कालेलकर

---

१. कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक संस्कृति के विषय में 'प्राक्कथन' के उपर्युक्त विचारों का सम्बन्ध बहुत करके वैदिक-धारा की उस ह्रास-कालीन अवस्था से है जिसने औपनिषद धारा को जन्म दिया था।—मं० दे० शास्त्री।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रस्तावना

'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा' की प्रस्तावना में हमने कहा था कि "भारतीय संस्कृति का विकास नामक इस ग्रन्थ को प्रायेण आठ खण्डों में समाप्त करने का हमारा विचार है।" उसी योजना को ध्यान में रखते हुए हम, उस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के रूप में, इस औपनिषद धारा को विज्ञ पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं।

औपनिषद धारा का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के विकास में औपनिषद धारा का अनेक दृष्टियों से अपना अद्वितीय महत्त्व है—इस बात को यहाँ दुहराने की आवश्कता नहीं है। इसका प्रतिपादन इस खण्ड में प्रसंगतः यत्र-तत्र किया जा चुका है। परिच्छेद १६ ('औपनिषद धारा का व्यापक प्रभाव') और १७ ('उपसंहार : पुनरभ्युत्थान और विश्व को संदेश') में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

हमारा दृष्टिकोण और लक्ष्य

भारतीय संस्कृति के नाम पर, प्रायेण उसके वास्तविक स्वरूप और परम्परा को समझे बिना, एक बड़ा साहित्य इधर दस-पन्द्रह वर्षों से देश में प्रकाशित हो रहा है। इस सन्दर्भ में, भारतीय संस्कृति के धारावाहिक इतिहास को ध्यान में रखकर अनेक खण्डों में लिखा जानेवाला 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक प्रकृत ग्रन्थ, अपने उदार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा नव्यभारत-राष्ट्र की समष्ट्यात्मक विचार-धारा के महान् लक्ष्य के कारण, अनोखा वैशिष्ट्य रखता है, इस बात को हम उपर्युक्त प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुके हैं।

कहना न होगा कि औपनिषद धारा के लिखने में उसी दृष्टिकोण और लक्ष्य को हमने बराबर अपने सामने रखा है।

इस खण्ड की विशेषता

औपनिषद धारा (अथवा वेदान्त) ऐसा विषय है जिस पर चिरकाल से ही शतशः ग्रन्थ भारत में लिखे जाते रहे हैं और अब भी बराबर लिखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में इस खण्ड की अपनी विशेषताओं पर यहाँ कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण और लक्ष्य के अतिरिक्त, इस खण्ड की विशेषताओं को, संक्षेप में, हम इस प्रकार दिखा सकते हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) सबसे पहली विशेषता यह है। जहाँ तक हम कह सकते हैं, भारतीय संस्कृति के विकास की दृष्टि से औपनिषद धारा के सम्बन्ध में विशद विचार का यह प्रथम प्रयास है। दार्शनिक या आध्यात्मिक दृष्टि से औपनिषद धारा पर बहुत कुछ लिखा गया है; पर भारतीय संस्कृति के विकास में उसकी क्या देन अथवा स्थान है, इस पर गम्भीर विवेचन अभी तक किसी ने नहीं किया है।

(२) पुस्तक के प्रारम्भिक परिच्छेदों (परिच्छेद १–८) में ऐतिहासिक दृष्टि से उस सांस्कृतिक वातावरण को, जिसने औपनिषद धारा को जन्म दिया था और पुष्ट किया था, सजीव चित्रित करने का जो यत्न किया गया है, उसे भी हम इसकी एक अद्वितीय विशेषता कह सकते हैं।

(३) पुस्तक के परिच्छेद ९ ('औपनिषद धारा का स्वरूप') और १० ('औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास') ऐतिहासिक विकास के ठोस सिद्धान्त के आधार पर लिखे गये हैं। यह विचार इस रूप में अभी तक अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया है। उक्त परिच्छेदों में औपनिषद धारा के सन्दर्भ में वैराग्य तथा संन्यास का विचार विशेषतः उल्लेखनीय है।

(४) परिच्छेद १३ ('उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि'), १४ ('उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र') तथा १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') में विज्ञ पाठकगण, न केवल ब्रह्म और अमृतत्व-प्राप्ति जैसे मौलिक विचारों के सम्बन्ध में, किन्तु प्रस्थान-त्रयी के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी, प्रबल प्रमाणों पर आधृत एक नवीन दृष्टिकोण पायेंगे। स्पष्टतः यह भी पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता है।

(५) परिच्छेद ११ ('औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि'), १२ ('औपनिषद धारा का सामाजिक पक्ष') और १७ ('उपसंहार' में 'औपनिषद धारा का ह्रास अथवा शैथिल्य', 'पुनरभ्युत्थान', 'विश्व को सन्देश') में औपनिषद धारा के सम्बन्ध में एकान्ततः नवीन दृष्टिकोण के साथ-साथ मानवीय जीवन के लक्ष्य की दृष्टि से नवीन प्रेरणा का भी पर्याप्त संकेत मिलेगा।

(६) कहने की आवश्यकता नहीं है कि पुस्तक में यत्र-तत्र दी हुई विस्तृत पाद-टिप्पणियाँ भी अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। पुस्तक के विशिष्ट प्रतिपादनों का आधार प्रायः उन्हीं टिप्पणियों में मिलेगा। आशा है पुस्तक के गम्भीर अध्ययन में उनकी सहायता अवश्य ली जायगी।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण हमें आशा है प्रकृत पुस्तक अपने मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होगी। पुस्तक का मुख्य लक्ष्य यही है कि मनुष्य के इसी जीवन में वास्तविक अमृतत्व-प्राप्ति के आशावाद का संचार हो और इसी आधार पर विश्व-मानव का उत्थान हो और उसे सम्बुद्धि की प्राप्ति हो !

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आभार-प्रदर्शन

पद्मविभूषण श्रद्धेय काका साहिब कालेलकर की कृपा-दृष्टि लेखक पर सदा से रही है। हम दोनों ने अपने विचारों में प्रायः पारस्परिक प्रतिध्वनि का अनुभव किया है। पुस्तक का यह महान् गौरव है कि उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उसे आद्योपान्त पढ़कर उसके लिए अपना बहुमूल्य प्राक्कथन लिखने की कृपा की है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

प्राच्य-अनुसंधान संस्थान,
ज्योतिराश्रम, वाराणसी-२
आश्विन शुक्ल ८, सं० २०२३
(२१ सितम्बर, १९६६)

मङ्गलदेव शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संकेत

उद्धृत अथवा उल्लिखित ग्रन्थों के नाम, प्रकृत ग्रन्थ में, प्रायेण पूरे दिये हैं। कहीं-कहीं दिये गये संक्षिप्त संकेत पास में आये हुए पूरे नाम से स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी निम्न-निर्दिष्ट संकेतों को यहाँ स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा—

अथर्व० = अथर्ववेदसंहिता
ईशोप० = ईशावास्योपनिषद्
ऋग्० = ऋग्वेदसंहिता
ऐ० उ० = ऐतरेयोपनिषद्
कठोप० = कठोपनिषद्
केनोप० = केनोपनिषद्
गीता = भगवद्गीता
छा० उ० = छान्दोग्योपनिषद्
तै० उ० = तैत्तिरीयोपनिषद्
नि० = निरुक्त
प्रश्नोप० = प्रश्नोपनिषद्
बृ० उ० = बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
मनु० = मनुस्मृति
मा० उ० = माण्डूक्योपनिषद्
मु० उ० = मुण्डकोपनिषद्
यजु० = यजुर्वेदसंहिता
वि० पु० = विष्णुपुराण
श्वे० उ० = श्वेताश्वतरोपनिषद्
साम० = सामवेदसंहिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों के महान्
उद्बोधन

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत

(कठोप० १ । ६ । १४)

(हे अज्ञान में ग्रस्त लोगो !) उठो, जागो और श्रेष्ठ जनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो !

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महत्तो विनष्टिः ।

(केनोप० २। ५)

यदि मनुष्य ने इसी जन्म में वास्तविक तत्त्व को जान लिया, तब तो ठीक है। यदि इस जन्म में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् ।

(कठोप० २ । १ । १)

कोई बिरला धीर पुरुष ही अपनी अन्तरात्मा को देखता है अथवा आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है ।

तरति शोकमात्मवित् ।

(छा० उ० ७।१।३)

जो आत्मा को जानता है वह शोक को तर जाता है ।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

(कठोप० १।२।१०)

वह नित्य तत्त्व (=परमात्मा) विनाशशील अनित्य पदार्थों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं ँ समाः ।

(ईशोप० २)

मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

—:—:—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

औपनिषद धारा की साहित्यिक भूमिका

	पृष्ठ
औपनिषद धारा का महत्त्व	१
औपनिषद धारा के नाम	३
औपनिषद धारा की साहित्यिक भूमिका	३
औपनिषद धारा के तीन भाग (प्रस्थानत्रयी)	४
(१) उपनिषद्	४
उपनिषद् शब्द का अर्थ	४
वेद और उपनिषद्	६
प्राचीन मौलिक उपनिषद्	१०
प्राचीन उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय	११
उपनिषदों की रचना और शैली	१५
(२) ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्र	१७
(३) भगवद्गीता	१८
उपसंहार	१९

दूसरा परिच्छेद

औपनिषद धारा की मूल-प्रवृत्तियाँ

१. आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति	२२
२. तात्त्विक ज्ञान की प्रवृत्ति	२४
३. श्रेयः और प्रेयः का विवेक	२७
४. मृत्यु, पुनर्जन्म और अमृतत्व-प्राप्ति का विचार	३०
५. वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति	३३

तीसरा परिच्छेद

औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि [१]

१. सामान्य अवलोकन	३७
विषय-निरूपण के दो प्रकार	३८
औपनिषद धारा के विशिष्ट व्यक्ति	३९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्वेतकेतु ३९
याज्ञवल्क्य ४०
नारद आदि अन्य विशिष्ट व्यक्तिगण ४१
उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाएँ ४२
आचार्यकुल (या गुरुकुल) ४२
परिषदें अथवा समितियाँ ४३
राजाओं द्वारा आमन्त्रित विद्यासंमेलन ४४
उपनिषत्कालीन पाठ्य विषय ४५
औपनिषद धारा का क्षेत्र-विस्तार ४६
२. आचार्य का स्वरूप ४७
तैत्तिरीयोपानिषद की शिक्षावल्ली ४८
आचार्य की प्रार्थना ४९
शिष्यों के प्रति सस्नेह संमान ५१
आचार्य की नम्रता और सत्यवादिता ५२
सत्यान्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति ५३
स्वाध्याय तथा प्रवचन का मुख्य कर्तव्य ५४
'अकामहत' श्रोत्रिय का महत्तम आदर्श ५५

चौथा परिच्छेद

औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि [२]

३. आचार्य-कुल का आदर्श ५७
आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध ५७
शिष्य की योग्यता और परीक्षा ६०
जातीय भेद-भावना का अभाव ६२
४. आचार्य-कुल का अनुशासन ६४
ब्रह्मचर्य ६४
संयम ६६
श्रम और तपस् ६६
व्रत-ग्रहण और व्रत-पालन ६७
कुछ उदाहरण. ६८
५. स्नातक के प्रति आचार्य का उपदेश ७०

पाँचवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का अमृत-स्रोत [१]

१. ईशावास्योपनिषद् ७७
तात्त्विक ज्ञान के लिए प्रार्थना ७९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. केनोपनिषद् ८०
ब्रह्म की अनिर्वचनीयता ८१
ब्रह्म और देवों का उपाख्यान ८२
३. कठोपनिषद् ८४
नचिकेतस् का उपाख्यान ८४
श्रेयस् और प्रेयस् का विवेचन ८६
परमात्म-देव का स्वरूप ८७
आत्मा अजन्मा, नित्य और अविनाशी है ८७
आत्मा का स्वरूप और दर्शन ८७
रथ और रथी का रूपक ८८
औपनिषद धारा का सुप्रसिद्ध उद्बोधन ९०
अन्तः-(आत्म-) समीक्षण का महत्त्व ९०
अविवेकी और विवेकी का अन्तर ९१
जीवात्मा की परमात्मा से अभिन्नता ९१
पुनर्जन्म का सिद्धान्त ९१
परमात्मा की सर्वरूपता ९१
शाश्वत सुख-शान्ति का स्रोत ९२
उसी के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित है ९२
संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष ९३
सर्वत्र परमात्मा का ही शासन है ९३
ब्रह्म अथवा अमृतत्व की प्राप्ति ९३

छठा परिच्छेद

औपनिषद धारा का अमृत-स्रोत [२]

४. प्रश्नोपनिषद् ९४
प्राण-विद्या का महत्त्व ९५
प्राण और रयि : दो मूल तत्त्व ९६
प्राण और रयि का स्वरूप ९७
प्राण का महत्त्व ९७
प्राण-विद्या के ज्ञान का फल ९८
५. मुण्डकोपनिषद् ९८
परा और अपरा विद्या ९८
अक्षर ब्रह्म से विश्व की सृष्टि ९९
याज्ञिक कर्मकाण्ड की असारता ९९
अविनाशी ब्रह्म का विराट् स्वरूप ९९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्म-प्राप्ति में धनुर्बाण का प्रसिद्ध रूपक १००
ब्रह्म-साक्षात्कार का फल १००
ब्रह्म का ज्योतिर्मय स्वरूप १००
ब्रह्म की सर्वव्यापकता की भावना १०१
जीव और ब्रह्म का सख्यभाव
और दो पक्षियों का प्रसिद्ध रूपक १०१
आत्म-दर्शन के साधन १०२
दृढ धारणा का महत्त्व १०२
ब्रह्म-प्राप्ति में नदी-समुद्र-संगम का दृष्टान्त १०२
६. माण्डूक्योपनिषद् १०३
७. तैत्तिरीयोपनिषद् १०४
अन्नमय आदि पाँच कोश १०४
ब्रह्म का लक्षण १०५
८. ऐतरेयोपनिषद् १०६
मानव में आत्मा का प्रवेश और उसकी त्रिधा प्रतीति १०६
अन्तिम सिद्धान्त १०७
९. छान्दोग्योपनिषद् १०७
ज्ञान-पूर्वक कर्म की प्रशंसा १०७
कामनाओं की सिद्धि का रहस्य १०८
धर्म के तीन आधार-स्तम्भ १०८
पुरुष का स्वरूप अपने अध्यवसाय पर निर्भर होता है १०८
जीवन में यज्ञ की भावना और ११६ वर्ष की आयु की प्राप्ति १०९
केकयं देश के राजा अश्वपति के राज्य की स्थिति ११०
भुक्त अन्न के तीन परिणाम १११
वाणी की महत्ता १११
वाणी से मन बड़ा है १११
वास्तविक सुख का स्वरूप १११
आत्मा का स्वरूप ११२
आहार-शुद्धि का महत्त्व ११२
शरीर और आत्मा का भेद ११२

सातवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का अमृतस्रोत [२]

१०. बृहदारण्यकोपनिषद् ११३
एक उत्कृष्ट जप-मन्त्र ११४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म और सत्य में अभेद ११४
ज्ञान-मार्ग की श्रेष्ठता ११४
आत्मा से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी और अग्नि-विस्फुलिङ्ग का दृष्टान्त ११४
शिर का विचित्र वर्णन ११५
मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य का तत्त्वज्ञानोपदेश ११५
आत्मतत्त्व में ही समस्त विश्व आश्रित है ११६
वैदेह जनक का विद्वत्संमेलन ११७
सर्वान्तर आत्मा का वर्णन ११७
ब्रह्मज्ञान के लिए वैराग्य और संन्यास की आवश्यकता ११८
सर्वान्तर्यामी आत्मा का वर्णन ११९
ब्रह्मविद् का स्वरूप १२०

आठवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा की सूक्तिमञ्जरी

ईशावास्योपनिषद् १२२
केनोपनिषद् १२२
कठोपनिषद् १२२
प्रश्नोपनिषद् १२३
मुण्डकोपनिषद् १२३
तैत्तिरीयोपनिषद् १२३
ऐतरेयोपनिषद् १२४
छान्दोग्योपनिषद् १२४
बृहदारण्यकोपनिषद् १२७

नवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का स्वरूप

उपनिषद् और संन्यास १३२
उपनिषद् और वैराग्य १३३
औपनिषद धारा का वास्तविक स्वरूप १३६
अन्तःसमीक्षण का प्रारम्भ १३७
आत्म-जिज्ञासा, ब्रह्म-जिज्ञासा और उनका पारस्परिक सम्बन्ध १३८
जीवन का परम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन १३९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दसवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास

अत्यधिक जटिल वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया १४१
वैदिक धारा से उद्गम १४३
औपनिषद धारा और अथर्ववेद १४४
अध्यात्म-(ब्रह्म-) विद्या के प्रवर्त्तक १४७
औपनिषद धारा का विकास और संन्यास की प्रवृत्ति १५१
संन्यास की प्रवृत्ति का उदय १५२

ग्यारहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि

नैतिकता का वातावरण १५६
औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि का आधार १५७
(१) अन्तः-समीक्षण अथवा आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति १५७
(२) श्रेयः और प्रेयः का विवेक १५८
(३) ब्रह्म-प्राप्ति अथवा अध्यात्म-तत्त्वज्ञान की भावना १५८
उपनिषदों की नैतिक दृष्टि १६०
उपसंहार १६५

बारहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का सामाजिक पक्ष

सामान्य व्यावहारिक जीवन १६८
आभ्युदयिक दृष्टि १७१
चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था १७४
चातुराश्रम्य-व्यवस्था १७७
ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य १७७
वानप्रस्थ-आश्रम १७८
संन्यास-आश्रम १७९
स्त्री-समाज की स्थिति १८१
अतिथि-सत्कार १८४
विविध अन्य विषय १८५
असुर जाति का प्रेत-संस्कार १८५
गन्धर्वावेश का उल्लेख १८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तेरहवाँ परिच्छेद

उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि

ब्रह्म और आत्मा	१८७
ब्रह्म का वर्णन	१८८
सगुण और निर्गुण ब्रह्म	१८८
आत्मा का वर्णन	१९३
पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त	१९९
देवयान और पितृयान	२००
मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य : अमृतत्व की प्राप्ति	२०३
अमृतत्व-प्राप्ति के प्रकार : क्रम-मुक्ति, सद्योमुक्ति, जीवन्मुक्ति	२०५
अमृतत्व-प्राप्ति के साधन : श्रद्धा, तप और ब्रह्मचर्य	२०६
शान्तचित्तता, एकाग्रचित्तता तथा छल-कपट का अभाव	२०६
वैराग्य की भावना	२०७
जगन्मिथ्यात्वभावना से अनर्थ	२०७
ब्रह्म से जगत् की सृष्टि	२०८

चौदहवाँ परिच्छेद

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र का विषय, प्रयोजन और महत्त्व	२११
ब्रह्मसूत्र की आधारभूत उपनिषदें	२१२
ब्रह्मसूत्र का दुर्बल पक्ष	२१४
दुरूह और संक्षिप्त शैली	२१४
ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव	२१६
ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की पृष्ठभूमियों में अन्तर	२१९
श्रुति और स्मृति	२१९
ब्रह्मसूत्र की रचना का काल	२२०
तुलनात्मक अध्ययन	२२२
चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था	२२२
चातुराश्रम्य-व्यवस्था	२२३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

उपनिषद् और भगवद्गीता

प्राचीन उपनिषदों के साथ गीता का सम्बन्ध २२५

गीता की स्वतन्त्र स्थिति २२८

गीता की अन्य विशेषताएँ २२९

अनासक्त कर्मयोग २२९

भक्तियोग और कर्मफल का ईश्वरार्थ समर्पण २३०

अवतारवाद अथवा व्यक्तोपासना २३०

गीता का अपना वैशिष्ट्य २३१

गीता और ब्रह्मसूत्र २३१

गीता की सांस्कृतिक दृष्टि— २३४

प्रतिबोधात्मक पक्ष

(१) कामनाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध २३५

'यज्ञ' शब्द के अर्थ का विस्तार २३७

(२) कर्म-संन्यास की प्रवृत्ति का विरोध २३८

(३) घोर शारीरिक यातना-रूप तप की भर्त्सना २४०

विधेयात्मक पक्ष

(१) अनासक्त कर्मयोग तथा भक्तियोग २४१

गीता मुख्यतः कर्मशास्त्र है २४१

गीता का ज्ञान-कर्म-समुच्चय का सिद्धान्त २४२

अनासक्त कर्मयोग २४२

(२) ईश्वरार्पण-बुद्धि अथवा भक्तियोग २४३

(३) अन्तरवेक्षण द्वारा भावसंशुद्धि पर बल २४४

(४) मृत्यु-बिभीषिका का निरास २४६

(५) गीता का योगाभ्यास २४८

(६) गीता की ब्राह्मी स्थिति २५१

उपसंहार २५३

सोलहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का व्यापक प्रभाव

औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन का महत्त्व २५४

उत्तरवर्ती सांप्रदायिक धाराओं में औपनिषद प्रभाव २५७

भगवद्गीता २५७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विभिन्न पुराण	२५८
श्रीमद्भागवत	२५८
विष्णुपुराण	२६०
देवीभागवत	२६२
स्कन्दपुराणान्तर्गत सूतसंहिता	२६४
धर्मशास्त्र पर औपनिषद प्रभाव	२६५
मनुस्मृति	२६५
साहित्य और औपनिषद धारा	२६७
व्याकरण-शास्त्र और औपनिषद धारा	२६८
सन्तधारा और औपनिषद धारा	२६९
सन्त कबीर	२६९
गुरु-ग्रन्थ-साहिब	२७०
भक्त गोस्वामी तुलसीदास	२७१
उपसंहार	२७२

सत्रहवाँ परिच्छेद

उपसंहार

(क) औपनिषद धारा की देन	२७३
प्रगाढ आत्मविश्वास	२७३
नैतिकता की दृष्टि	२७७
सामाजिक दृष्टि	२७७
चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था	२७७
चातुराश्रम्य-व्यवस्था	२७९
रूढि और वास्तविकता	२८०
(ख) औपनिषद धारा का ह्रास अथवा शैथिल्य	२८२
गृहस्थ मनीषियों द्वारा प्रारम्भ	२८२
संन्यास की प्रवृत्ति का प्रारम्भ	२८२
असंयत अथवा एकपक्षीय वैराग्य	२८३
संन्यास की सामूहिक (सांघिक) प्रवृत्ति	२८५
राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन की उपेक्षा	२८५
ऐश्वर्य और साज-सज्जा का जीवन	२८६
(ग) औपनिषद धारा का पुनर्जागरण	२८७
(घ) औपनिषद धारा का विश्व को सन्देश	२९०
मानव-जगत् की विषम स्थिति	२९०
औपनिषद धारा का समाधान	२९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों की अध्यात्म-भावना	२९१
आत्माद्वैत का सिद्धान्त	२९१
विश्वात्मा के साथ मानव की तादात्म्य-भावना	२९३
अन्तर्निरीक्षण की प्रवृत्ति	२९३
प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग का विवेक	२९४
ब्राह्मी स्थिति	२९६
त्याग, तपस्या और सेवा का जीवन	२९६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहला परिच्छेद

औपनिषद धारा की साहित्यिक भूमिका

'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' में हम कह चुके हैं कि समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को दिखाने के लिए हम क्रमशः उसकी विभिन्न धाराओं (जैसे वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक आदि) पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

इसी लक्ष्य को सामने रखकर भारतीय संस्कृति की औपनिषद धारा के विकास, स्वरूप आदि का विवेचनात्मक अध्ययन हम इस खण्ड में करना चाहते हैं।

औपनिषद धारा से हमारा अभिप्राय उस विचारधारा से है जिसका विशद रूप में प्रथम दर्शन हमें प्राचीन मूल उपनिषदों में होता है, जिसका शास्त्रीय दृष्टि से परिनिष्ठित रूप ब्रह्मसूत्र (या वेदान्त-सूत्र) में पाया जाता है और (हमारे मत में) जिसका अन्तिम प्रतिपादन भगवद्गीता में किया गया है।

औपनिषद धारा का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के विकास में औपनिषद धारा का अनेक दृष्टियों से अपना अद्वितीय महत्त्व है।

प्रथम खण्ड में वैदिक धारा की महान् देन और ह्रास दिखाते हुए हमने कहा है कि उस धारा की भारतीय संस्कृति के लिए जहाँ एक ओर अद्भुत देन है, वहाँ दूसरी ओर उसके इतिहास में एक समय ऐसा आया जब कि उसका हृदय-विदारक ह्रास उपस्थित हो गया था। बहुत-कुछ व्यावसायिक बुद्धि से संचालित, आदर्श-हीन, शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उस ह्रास के मूल में था। उसी के कारण एक समय ऐसा आया जब कि तत्त्व-चिन्तकों को वैदिक धारा के उस रूप से उपराम होने लगा।

धार्मिक और नैतिक वातावरण की तात्कालिक रिक्तता अथवा शून्यता ने ही वास्तव में प्रथमतः औपनिषद धारा को जन्म दिया था। जीवन के आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्ष को उपस्थित कर उसके शाश्वतिक मूल्यों की ओर ध्यान दिलाना ही औपनिषद धारा का लक्ष्य था।

तात्कालिक भारतीय संस्कृति की धारा में औपनिषद धारा अन्तःसलिला सरस्वती के रूप में आकर मिली और उसने भारतीय संस्कृति के प्रथम प्रयागतीर्थ को जन्म दिया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

औपनिषद धारा के विकास और स्वरूप आदि का विस्तार से विवेचन हम क्रमशः आगे चलकर करेंगे। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि भारतीय संस्कृति की गंगा के महाप्रवाह में यह औपनिषद धारा सदा ही अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहती रही है। जो भी आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तन आगे हुआ है, साक्षात् या असाक्षात् रूप से, प्रायः उस सबको जीवन और प्राण इसी अन्तःसलिला सरस्वती की धारा से मिलता रहा है। यहाँ तक कि साम्प्रदायिक चिन्तन भी इससे अप्रभावित नहीं रहा है।

उपनिषदें अनेक अर्थों में भारतीय दार्शनिक चिन्तन की मूल स्रोत हैं। अनन्तानन्त विश्वप्रपञ्च के सम्बन्ध में जितना व्यापक, साहसिक और शाश्वतिक चिन्तन इस धारा का है, उतना और किसी का नहीं।

समस्त चराचर जगत् की समष्टि में ओत-प्रोत और उससे बाहर भी विद्यमान ब्रह्मन् को ही लेकर औपनिषद धारा प्रवृत्त हुई थी। ब्रह्मन् के मूल अर्थ का सम्बन्ध 'बृहत्' शब्द से है। तभी तो 'बृहत्त्वाद् ब्रह्म'[1] ऐसा कहा गया है।

उपनिषदों का बीज-मन्त्र यही है :

> यो वै भूमा तत्सुखम् ,
> नाल्पे सुखमस्ति,
> भूमैव सुखम् ।
> भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ॥
>
> (छा० उ० ७।२३।१)

अर्थात्, जो महान् है, 'भूमा' है, वही सुख है; अल्प में सुख नहीं रहता। महान् और सुख दोनों अभिन्न हैं। इसलिए 'भूमा' या 'महान्' को ही समझने का यत्न करना चाहिए।

मनुष्य के खिन्न और अशान्त चित्त को सान्त्वना प्रदान करने के लिए अतीव अद्भुत सामग्री उपनिषदों में विद्यमान है।

औपनिषद धारा के अत्यन्त व्यापक तथा कल्याणप्रद चिन्तन के कारण ही आगे चलकर शैव और शाक्त जैसे सम्प्रदायों को भी किसी-न-किसी रूप में उसे अपनाना पड़ा, जैसा कि आगे चलकर हम दिखायेंगे।

भारतीय परम्परा के अतिरिक्त, औपनिषद धारा का प्रभाव, चिरकाल से ही बाह्य जगत् पर भी पड़ता रहा है। कामारथी जैसे पवित्र गंगा-जल को सुदूर प्रदेशों में ले जाकर अमृत के समान उसका सेवन करते हैं, ऐसे ही औपनिषद धारा के अमृत रस ने समय-समय पर पश्चिमी एशिया, यूरोप और अमरीका के जगत् की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त किया है।

---

१. तु० "तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं बृहत्त्वात्" (नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् ९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

औपनिषद धारा के नाम

औपनिषद धारा का मूलतः सम्बन्ध प्राचीन मूल उपनिषदों से है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। 'उपनिषद्' शब्द के अर्थ का विचार हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम उपनिषदों की विचारधारा या चिन्तन के लिए जो शब्द संस्कृत-साहित्य में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं, उनको दिखाना चाहते हैं।

'उपनिषद्' शब्द के अतिरिक्त, अति प्राचीन काल से उक्त विचारधारा के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द 'रहस्य'[1] है। 'रहस्य' शब्द 'रहस्' (=एकान्त) शब्द से निकला है। प्राचीन काल में शान्त-एकान्त स्थानों में ही उपनिषद्विद्या का अध्ययनाध्यापन होता था। अन्त में उपनिषदों को ज्ञान या वेदों का रहस्य या मर्म ही समझा जाने लगा।

उक्त विचारधारा के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध शब्द 'वेदान्त'[2] है। मूल में 'वेदान्त' (=वेद+अन्त) का अभिप्राय वास्तव में वेद के अन्तिम भाग से था। प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में आनेवाली उपनिषदें मंत्र-ब्राह्मण-रूप वेद का अन्तिम भाग समझी जाती थीं। पीछे से 'अन्त' शब्द का अर्थ लक्ष्य करके उपनिषद्विद्या को वेद का 'अन्तिम लक्ष्य' समझा जाने लगा।

ऊपर के ही अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले अन्य शब्द हैं : परा विद्या,[3] ब्रह्मविद्या,[4] आत्म-विद्या,[5] अध्यात्मविद्या[6]। मोक्ष-विद्या[7] शब्द का प्रयोग भी इस अर्थ में देखा जाता है।

पर उपर्युक्त अनेक शब्दों के होते हुए भी, हमने औपनिषद धारा इसी नाम को चुना है, क्योंकि इस धारा के मौलिक स्वरूप का ज्ञान हमें उपनिषदों से ही प्राप्त होता है।

औपनिषद धारा की साहित्यिक भूमिका

औपनिषद धारा के प्रधान या मूल साहित्य को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : **उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र** (या वेदान्त-सूत्र) और **भगवद्गीता**।

---

१. तु० "चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च" (मनु० २।१४०)। इस पर टीकाकार कुल्लूकभट्ट कहते हैं : "रहस्यमुपनिषद्"।

२. तु० "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मु० उ० ३।२।६)।

३. तु० "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० उ० १।१।५)।

४. तु० "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्" (मु० उ० १।१।१)।

५. तु० "आन्वीक्षिकीं चात्मविद्याम्" (मनु० ७।४३)।

६. तु० "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" (गीता १०।३२)।

७. तु० "सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः।...निवृत्तिं धर्ममास्थिताः।...मोक्षधर्मप्रवर्तकाः॥" (महाभारत, शान्तिपर्व ३४०। ७३-७४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्त की परम्परा में उक्त तीनों भागों को इकट्ठा करके प्रस्थानत्रय अथवा प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है। उपनिषदों को श्रुति-प्रस्थान कहते हैं, क्योंकि उनको श्रुति अथवा वेद का ही अंग माना जाता है। ब्रह्म-सूत्र को न्याय-प्रस्थान कहा जाता है, क्योंकि उसमें न्याय या तर्क के आश्रय से उपनिषदों के प्रतिपाद्य अर्थ पर विचार किया गया है। भगवद्गीता को स्मृति-प्रस्थान समझा जाता है, क्योंकि श्रुति-रूप उपनिषदों के सांमुख्य में गीता को प्रायः 'स्मृति' ही माना जाता है।[१]

चिरकाल से ही औपनिषद धारा के साथ उक्त प्रस्थान-त्रयी का गहरा सम्बन्ध रहा है। अद्वैतमत के प्रतिपादक श्री शंकराचार्य से लेकर वेदान्त से सम्बन्ध रखने-वाले विभिन्न सांप्रदायिक आचार्यों (रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि) के लिए यह आवश्यक समझा जाने लगा था कि अपने-अपने मत की पुष्टि में उक्त प्रस्थानत्रयी पर भाष्य या टीका लिखी जाय।

प्रस्थानत्रयी का अवान्तर सम्बन्ध वास्तव में कैसा है, इसका विचार हम आगे चलकर यथास्थान करेंगे।

उत्तरकाल में वेदान्त-विषयक साम्प्रदायिक तथा तदनुवर्ती दार्शनिक दृष्टियों के आधार पर टीका, प्रटीका आदि का तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी बड़ा विस्तृत साहित्य लिखा गया है। यहाँ उस साहित्य से प्राधान्यतः हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह स्पष्ट है कि मौलिक औपनिषद धारा से वह साहित्य बहुत दूर पड़ जाता है।

नीचे, संक्षेप में ही, हम औपनिषद धारा के उक्त तीनों भागों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

(१)
उपनिषद्

औपनिषद धारा का विशद रूप में प्रथम दर्शन हमें प्राचीन मूल उपनिषदों में होता है, यह हमने ऊपर कहा है। उन प्राचीन उपनिषदों का सामान्य परिचय देने से पहले उनके सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार कर लेना आवश्यक है।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ

उपनिषदों के भाष्यकारों और टीकाकारों ने 'उपनिषद्' शब्द की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। उनकी व्याख्याओं को यहाँ दिखाने की आवश्यकता नहीं है। प्रायः क्लिष्ट-कल्पना के आधार पर ही वे व्याख्याएँ की गयी हैं।[२]

---

१. उदाहरणार्थ "स्मृतेश्च" (ब्रह्मसूत्र १।२।६) तथा "सरन्ति च" (ब्रह्मसूत्र ४।१।१०) पर शांकरभाष्य देखिए।

२. उदाहरणार्थ दे० "य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्ति···तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति, परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयति इत्युपनिषत्।" (मु० उ० पर शांकरभाष्य की भूमिका)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में ही 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर पाया जाता है। स्वभावतः ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या के सम्बन्ध में ही 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग वहाँ प्रायः हुआ है। इस प्रसंग में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग अधिकतर तो 'रहस्यात्मक ज्ञान या विद्या (विशेषतः आत्म-परक)' के अर्थ में देखा जाता है, पर कहीं-कहीं उस ज्ञान की प्रतिपादक 'प्रवचनात्मक या ग्रन्थात्मक उपनिषदों' के अर्थ में भी देखा जाता है।

उदाहरणार्थ,

"उपनिषदं भो ब्रूहीति। उक्ता त उपनिषद्।
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।"

(केनोप० ४।७)

(अर्थात्, शिष्य : भगवन्! रहस्य-विद्या का उपदेश दीजिए। गुरु : रहस्यविद्या अर्थात् ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य-विद्या का उपदेश तो हमने कर दिया।)

यहाँ 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ स्पष्टतः रहस्य-विद्या है।

इसके विपरीत,

"ऋग्वेदो यजुर्वेदः···इतिहासः पुराणं विद्या
उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि····"

(बृ० उ० २।४।१०)

(अर्थात्, ऋग्वेद, यजुर्वेद, इतिहास, पुराण, अनेक उपनिषद् इत्यादि)।

यहाँ तात्कालिक वाङ्मय का निर्देश करते हुए बहुवचन में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग स्पष्टतः प्रवचनात्मक ग्रन्थ-परक है।

'उपनिषद्' शब्द के अर्थ के विकास को संक्षेप में यहाँ दिखा देना अप्रासंगिक न होगा।

'उपनिषद्' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से बना है। 'निषद्' और उसीके रूपान्तर 'निषीद्' का प्रयोग 'बैठने' के अर्थ में होता है। 'उप' का अर्थ है 'पास'। इस प्रकार 'उपनिषद्' का मौलिक अर्थ है 'पास में बैठना'[१]। क्रमशः 'परिषद्' (अथवा 'संसद्') के सांमुख्य में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग होने लगा। जहाँ 'खुली बैठक' को 'परिषद्' कहते थे, वहाँ 'अन्तरंग अथवा गुप्त बैठक' को 'उपनिषद्' कहा जाता था। इस अन्तरंग बैठक के विशेष नियम होते थे। विशेषतः आत्मा या ब्रह्म जैसे गुह्य अर्थों के शिक्षण के लिए शान्त और एकान्त स्थान में विधि तथा नियम-पुरस्सर गुरु के पास जाकर[२] शिष्यों की बैठक से ही 'उपनिषद्' का अभिप्राय होता था।

---

१. तु० "भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।" (अथर्व० १९।४१।१)।

२. तु० "तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्" (श्वे० उ० ५।६)। "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" (मु० उ० ३।२।११)। "तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० उ० १।२।१२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आत्मा या ब्रह्म के ज्ञान को गुह्य अथवा रहस्यात्मक ज्ञान कहा गया है। साथ ही उसकी प्राप्ति के लिए शिष्य को गुरु के पास विधि-पूर्वक जाकर नियमतः रहने का विधान है। क्रमशः 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग उसी रहस्यात्मक ज्ञान के लिए होने लगा, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं।

इसी क्रम से गुरु के उन प्रवचनों के लिए भी, जिनमें उस रहस्य-विद्या का प्रतिपादन किया जाता था, 'उपनिषद्' शब्द का व्यवहार होने लगा। वे ही प्रवचन आजकल ग्रन्थ-रूप उपनिषद् कहलाते हैं। प्राचीन मूल उपनिषद्, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे, प्रायेण प्राचीन आचार्यों के प्रवचन ही हैं। पीछे से 'उपनिषद्' नाम से ही अनेकानेक अन्य नवीन रचनाएँ भी की गयीं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य की परम्परा से संबद्ध उपनिषदों का सम्बन्ध स्पष्टतः अध्यात्म-विद्या से ही है[1]।

वेद और उपनिषद्

भारतीय साहित्यिक परम्परा[2] के अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों के लिए समान रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग चिरकाल से चला आ रहा है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग को आरण्यक और साधारणतया आरण्यकों के अन्तिम अथवा विशिष्ट अन्तर्गत भाग को उपनिषद् कहते हैं। यह प्राचीन उपनिषदों की बात है। उन्हीं में कुछ उपनिषदें ऐसी भी हैं जिनका आपाततः आरण्यकों से सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। फिर भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध किसी वैदिक संहिता या कम-से-कम वैदिक शाखा से तो है ही।

उक्त कारणों से प्राचीन परम्परा के अनुसार, मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग के समान, उपनिषदों का भी ग्रहण वेद अथवा श्रुति शब्द से होता है। ऐसा होते हुए भी हमने औपनिषद धारा पर, वैदिक धारा से पृथक्, स्वतन्त्र रूप से, विचार करना आवश्यक समझा है। इसका क्या कारण है? इसको यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

औपनिषद धारा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से वेद (मन्त्र-संहिताओं) के साथ उपनिषदों का कैसा सम्बन्ध है, इसको हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

यहाँ हम केवल उन कारणों को दिखाना चाहते हैं जिनके आधार पर हमने वैदिक धारा से पृथक् स्वतन्त्र रूप से औपनिषद धारा पर विचार करना आवश्यक समझा है। वैदिक धारा के प्रारम्भ, विकास और ह्रास की अवस्थाओं का वर्णन हम प्रथम खण्ड में कर चुके हैं।

---

१. उत्तरकाल में किसी भी विद्या से सम्बद्ध रहस्यार्थ के लिए 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग होने लगा था। इसीलिए अर्थशास्त्र और कामशास्त्र में रहस्य-प्रयोगों के लिए 'औपनिषद' शब्द का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थपरक भी 'रसोपनिषद्', 'कुचोपनिषद्' जैसे प्रयोग देखे जाते हैं, जिनका अध्यात्म-विद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. तु "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषासूत्र ३१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक धारा का प्रारम्भ और विकास कैसा ही रहा हो, उससे यहाँ हमारा साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। उसके ह्रास की अन्तिम अवस्था के रूप को लेकर हमें विशेषतः उसी के साथ औपनिषद धारा की तुलना करना है—उसके प्रारम्भ को दिखाना है। क्योंकि उसी अन्तिम अवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में औपनिषद धारा का जन्म होना चाहिए।

हम पहले ही कह चुके हैं कि इसी प्रक्रिया से हम प्रगतिशील भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह और विकास को दिखा सकते हैं। इसी दृष्टि से वैदिक धारा से औपनिषद धारा के पार्थक्य अथवा वैलक्षण्य को हम दिखाना चाहते हैं।

संक्षेप में उक्त दोनों धाराओं के पारस्परिक भेद को हम **प्रवृत्ति-भेद, दृष्टि-भेद, पात्र-भेद** और **ऐतिहासिक भेद**—इन चार आधारों पर दिखा सकते हैं।

सबसे पहले **प्रवृत्ति-भेद** को लीजिये। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि जहाँ वेदों (अथवा 'त्रयी') का सम्बन्ध प्रधानतः प्रवृत्ति-धर्म-मूलक कर्मकाण्ड से है, वहाँ उपनिषदों का सम्बन्ध केवल निवृत्ति-धर्म-मूलक ज्ञानकाण्ड से है।

महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय ३४०) में उक्त इन दोनों प्रवृत्तियों के भेद को बड़ी स्पष्टता के साथ दिखाया है। वहाँ 'वेदविद्' 'वेदाचार्यों' को प्रवृत्ति-धर्मी तथा गार्हस्थ्य-धर्मानुयायी कहकर यह भी बताया है कि यह वैदिक मार्ग कर्म-काण्डियों का ही है।[१]

उसी प्रसंग में ज्ञानमार्गियों के विषय में कहा है कि वे निवृत्ति-धर्म का अनुसरण करनेवाले और मोक्षमार्ग के प्रवर्तक हैं[२]।

वैदिक धारा के प्रसंग में हम दिखा चुके हैं कि एक समय ऐसा था, जब कि वेदों की उपयोगिता केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही समझी जाती थी।[३] पर उपनिषदों में, जैसा हम आगे चलकर दिखायेंगे, उक्त याज्ञिक कर्मकाण्ड को बराबर हेय कोटि में रखा गया है।[४]

उक्त प्रवृत्ति-भेद के मान लेने पर उक्त दोनों धाराओं में दृष्टि या लक्ष्य का भेद स्वभावतः स्पष्ट हो जाता है। साधारण-से-साधारण लौकिक पदार्थों से लेकर मनःकल्पित स्वर्ग की प्राप्ति तक के लक्ष्यों को सामने रखकर ही मनुष्य कामना-प्रधान वैदिक यज्ञों में प्रवृत्त होता था। पर औपनिषद धारा की दृष्टि उक्त नश्वर अशाश्वत

---

१. दे० "एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च···। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ अयं क्रियावतां पन्थाः···। (महाभारत, शान्तिपर्व, ३४०।७०-७१)।

२. दे० "स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः। एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः। ···मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥" (महाभारत, शान्तिपर्व, ३४०।७३-७४)।

३. तु० "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पूर्वमीमांसा १।२।१)। "मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायनश्रौतसूत्र १।१।२१)।

४. तु० "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः···एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥" (मु० उ० १।२।७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्ष्यों की ओर न होकर उस तत्त्व की ओर है जो शाश्वत और अक्षर (= कभी क्षय न होनेवाला) है। उपनिषदें स्पष्टतः यही कहती हैं :

लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।

(मु० उ० २।२।३)

अर्थात्, जो अक्षर है उसी को तुम अपना लक्ष्य मानो।

दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि उक्त दोनों धाराओं में मानवीय मूल्यों की दृष्टि से मौलिक अन्तर है।

ऊपर के दोनों भेदों से वैदिक धारा और औपनिषद धारा में पात्र अथवा अधिकारी का भेद भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है। कठोपनिषद् में इस भेद का वर्णन इस प्रकार किया है :

पराचः कामाननुयन्ति बालास्
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

(कठोप० २।१।२)

अर्थात्, अल्प-प्रज्ञ लोग बाह्य अर्थात् ऐन्द्रियक कामनाओं का अनुसरण करते हैं और वे मृत्यु के विस्तृत जाल को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान् हैं, दीर्घदर्शी हैं, वे अमृतत्व अर्थात् शाश्वत जीवन के स्वरूप को समझकर नश्वर पदार्थों में ध्रुव पदार्थ की खोज नहीं करते।

वास्तव में उक्त दोनों धाराओं के अधिकारियों के मौलिक भेद का ही यह वर्णन है। दोनों में से जहाँ प्रथम अधिकारियों की दृष्टि केवल सांसारिक सुख, ऐश्वर्य तथा प्रतिष्ठा की प्राप्ति की ओर बतायी गयी है, वहाँ दूसरों की दृष्टि केवल शाश्वतिक जीवन, अमृतत्व अथवा वास्तविक परम-पुरुषार्थ की ओर है।

इसीलिए जहाँ वैदिक धारा में, भगवद्गीता[१] के शब्दों में, केवल 'द्रव्य-यज्ञों' का बोलबाला था, वहाँ औपनिषद धारा में केवल 'ज्ञान-यज्ञ' अथवा 'भावना-यज्ञ' का ही प्राधान्य है।

भगवद्गीता में दिया हुआ वैदिक धारा के ह्रासकालीन अधिकारियों का वर्णन यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा :

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

(गीता १६।१७)

अर्थात्, अपने को बड़ा माननेवाले, विनय से रहित और धन-मान के मद से युक्त अज्ञानी लोग, दम्भ के साथ, अविधि-पूर्वक नाम मात्र के वैदिक यज्ञों को किया करते हैं।

---

१. तु० गीता ४।२८,३३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐतिहासिक भेद

वैदिक धारा और औपनिषद धारा का ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से परस्पर कैसा सम्बन्ध है, यह एक विवाद का विषय है। आगे चलकर कुछ विस्तार से हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि प्राचीन मुख्य उपनिषदों का सम्बन्ध स्पष्टतः वैदिक परम्परा से है। तो भी कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत और प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि वैदिक धारा के वातावरण में ही उसी धारा का अनुसरण करनेवाले मनीषियों ने प्रथमतः औपनिषद धारा को जन्म दिया था, तो भी आगे चलकर उसको एक दूसरी सांस्कृतिक धारा ने, मुनि-संप्रदाय की त्याग और संन्यास की धारा ने, अवश्य प्रभावित किया। अन्य कारणों के साथ-साथ इस कारण से भी औपनिषद धारा वैदिक धारा से अपना स्वतन्त्र इतिहास रखती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्रौत-कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक धारा (या 'त्रयी') से औपनिषद धारा के पार्थक्य के सम्बन्ध में प्राचीन उपनिषदों में ही स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में नीचे दिये गये प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं :

मुण्डकोपनिषद् में परा विद्या (अर्थात् उपनिषद् विद्या) को चारों वेदों से स्पष्टतया पृथक् बताते हुए कहा है :

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"

(मु० उ० १।१।४-५)

अर्थात्, प्राचीन काल से ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि परा और अपरा ये दो विद्याएँ जाननी चाहिए। छहों वेदाङ्गों के सहित ऋग्वेदादि चारों वेदों की गणना अपरा विद्या में की जाती है। परा विद्या (अथवा उपनिषद्-विद्या) वह है जिससे उस अविनाशी तत्त्व ब्रह्म का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में भी ऋग्वेद आदि चारों वेदों को गिनाकर उनसे पृथक् स्वतन्त्र रूप से उपनिषदों को दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त, उपनिषदों की परिभाषा में याज्ञिक-कर्म-प्रधान वैदिक साहित्य को, उपनिषद्विद्या की तुलना में, 'अविद्या'[2] शब्द से यत्र-तत्र स्मरण किया गया है।

इसी प्रकार भगवद्गीता भी, जिसके लिए प्रायः उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया जाता है, ऋग्वेदादि की 'त्रयी' को उपनिषद्विद्या से पृथक् समझ कर ही कहती है :

---

१. दे० "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि···" (बृ० उ० २।४।१०)।

२. दे० "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः··· । अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।···(मु० उ० १।२।७-८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।

(गीता ९।२१)

अर्थात्, उपर्युक्त प्रकार से वैदिक याज्ञिक कर्मों का आश्रय लेनेवाले विषय-वासना-युक्त मनुष्य बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।

इन प्रमाणों को देखते हुए वैदिक धारा से औपनिषद धारा के पार्थक्य के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

ऐसे ही कारणों से स्वतंत्र रूप से औपनिषद धारा का विचार प्रकृत खण्ड में हम करना चाहते हैं ।

प्राचीन मौलिक उपनिषद्

इस प्रसंग में उपनिषत्साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। यह प्रसिद्ध है कि 'उपनिषद्' नाम से प्रचलित ग्रन्थों की एक बड़ी भारी संख्या आजकल उपलब्ध हो रही है। १०, ११, १२, २८, ३२, १०८ आदि संख्या की उपनिषदों के संग्रह विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

विश्ववन्धु शास्त्री द्वारा संपादित **वैदिकपदानुक्रमकोष** (Vedic Word Concordance, १९४५) के तृतीय भाग के रूप में प्रकाशित 'उपनिषत्-पदानुक्रम' २०० उपनिषदों के आधार पर तैयार किया गया है। इसी प्रकार गजानन शम्भु साधले द्वारा संपादित **उपनिषद्वाक्यमहाकोश** (१९४०) २२१ उपनिषदों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। अडयार लायब्रेरी, मद्रास, से योगोपनिषद्, वैष्णवोपनिषद्, शैवोपनिषद्, शाक्तोपनिषद् जैसे नामों से लगभग पौने दो सौ उपनिषदें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस औपनिषद धारा के विवेचन में प्रधान रूप से हम कितनी और किन-किन उपनिषदों को अपना आधार मान रहे हैं।

सबसे प्रथम यह समझ लेना चाहिए कि इस विवेचन में हम प्राचीन मौलिक उपनिषदों को ही मुख्यतया अपना आधार मानकर विचार करेंगे।

प्रायः सर्वसम्मति से ईश् (या ईशा), केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दस उपनिषदें सबसे प्राचीन और मौलिक मानी जाती हैं। ये उपनिषदें उत्तरकालीन शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सांप्रदायिक भावना से नितरां असंपृक्त हैं। शंकराचार्य का भाष्य भी, निश्चित रूप से,

---

१. उदाहरणार्थ, अष्टाविंशत्युपनिषदः, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। मुक्तिकोपनिषद् में नामनिर्देशपूर्वक १०८ उपनिषदों को दिखाने के साथ-साथ कहा है : "सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्। सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम् ॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन्हीं दस उपनिषदों पर किया हुआ माना जाता है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी बहुत अंशों में इनका अपना वैशिष्ट्य दिखाई देता है।

औपनिषद धारा के विवेचन में उपनिषदों के सम्बन्ध में उक्त संकोच की मौलिक आवश्यकता है। उत्तरकालीन उपनिषदें प्रायः शैव, शाक्त आदि सांप्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होने के कारण स्पष्टतया पौराणिक धारा के अन्दर आ जाती हैं। उनका वास्तविक औपनिषद धारा से लगभग वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि स्वयं औपनिषद धारा का वैदिक धारा से है।

यह तो स्पष्ट ही है कि **ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद्, गोपीचन्दनोपनिषद्, तुलस्युपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्, अक्षमालोपनिषद्** जैसी उपनिषदों का कोई भी सम्बन्ध वैदिक धारा के अनन्तर आनेवाली औपनिषद धारा से नहीं हो सकता।

प्राचीन उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय

उपरिनिर्दिष्ट प्राचीन उपनिषदों के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

ईशा-उपनिषद्

शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता (काण्वशाखा) का अन्तिम (४०वाँ) अध्याय ही इस उपनिषद् का आधार है। इस उपनिषद् के पहले मन्त्र का प्रारम्भ 'ईशा वास्यम्' इन शब्दों से होने से इस उपनिषद् को ईशोपनिषद् (= ईशा-उपनिषद्) अथवा 'ईशावास्योपनिषद्' भी कहा जाता है। यह प्रायः पद्यात्मक है। इसमें केवल १८ मन्त्र है। अति संक्षिप्त होने पर भी, इस उपनिषद् का अत्यन्त महत्त्व है। अध्यात्म-सम्बन्धी कई मौलिक सिद्धान्तों का (जैसे—कर्म करते हुए ही जीवन-यापन करना चाहिए, सर्वभूतों में आत्मदर्शन, विद्या और अविद्या का भेद) संक्षेप में, पर बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में, इसमें प्रतिपादन किया गया है। भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त का मूल-स्रोत इस उपनिषद् में स्पष्ट दिखाई देता है।[१]

केन-उपनिषद्

सामवेद की तलवकार-शाखा के जैमिनीय तलवकार-ब्राह्मण के नवम अध्याय को तलवकारोपनिषद्, जैमिनीय-उपनिषद् अथवा केनोपनिषद् कहा जाता है। इसका प्रारम्भ 'केन' शब्द से होता है। चार खण्डों में विभाजित यह उपनिषद् अंशतः पद्यात्मक और अंशतः गद्यात्मक है। इसके चारों खण्डों में इन्द्रियातीत और अग्न्यादि समस्त देवों की शक्ति के मूल-स्रोत ब्रह्म-तत्त्व का कई प्रकार से निरूपण किया गया है।

१. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।" (ईशोप० २) तथा "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता २।४७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कठ-उपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद की कठ-शाखा से इसका सम्बन्ध है। दो अध्यायों और छह वल्लियों (प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ) में विभाजित यह उपनिषद् प्रायेण पद्यात्मक ही है। इसका नाचिकेतोपाख्यान प्रसिद्ध है, जिसमें नचिकेतस् और यमराज के संवाद के रूप में बड़े रोचक ढंग से रहस्यात्मक आत्म-तत्त्व की व्याख्या की गयी है। प्रसंगतः श्रेयस् और प्रेयस् मार्ग, शरीर-रूपी रथ में आत्म-रूपी रथी का सुन्दर रूपक, प्रणव-तत्त्व आदि विषयों का भी निरूपण किया गया है। कई स्थलों में गीता का मूल-स्रोत स्पष्टतः दिखाई देता है।[१] सांख्य और योग का पुट भी यत्र-तत्र प्रतीत होता है। अपनी आकर्षक शैली के कारण उपनिषदों में यह उपनिषद् सर्वाधिक लोकप्रिय कही जा सकती है।

प्रश्न-उपनिषद्

अथर्व-वेद की पैप्पलाद-शाखा से इसका सम्बन्ध है। इसमें अध्यात्मविषयक जिज्ञासा से अपने पास आये हुए सुकेशा आदि छह ब्रह्मनिष्ठ जिज्ञासुओं के छह प्रश्नों के उत्तर भगवान् पिप्पलाद ऋषि ने क्रमशः दिये हैं। इसीलिए इसको प्रश्नोपनिषद् कहते हैं। उत्तरों में आध्यात्मिक दृष्टि से 'प्राण' की महिमा, उसका स्वरूप, ओंकार की उपासना तथा सोलह कलाओं से युक्त (षोडशकल) पुरुष (अर्थात् परब्रह्म) का निरूपण किया गया है। यह प्रायः गद्यात्मक है।

मुण्डक-उपनिषद्

इसका सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक-शाखा से है। यह प्रायेण पद्यात्मक है। इसमें तीन 'मुण्डक' (= अध्याय) हैं, और प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। वेदान्त-विषयक अपने विशद प्रतिपादन तथा पद्यों की सुन्दर शैली के कारण यह अत्यन्त लोक-प्रिय उपनिषदों में से एक है। सामान्य रूप से इसके तीन भागों में क्रमशः ब्रह्म-ज्ञान के साधन, ब्रह्म-तत्त्व तथा ब्रह्म-प्राप्ति का निरूपण किया गया है। प्रथम मुण्डक में परा और अपरा विद्याओं का विवेचन भी विशेषतः रोचक है।

---

१. उदाहरणार्थ, तु० "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥" (कठोप० १।२।१८-१९), तथा "य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥" (गीता २।१९-२०)। इसी प्रकार तु० "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठोप० २।१।१), तथा "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥" (गीता १५।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माण्डूक्य-उपनिषद्

इसका सम्बन्ध भी अथर्ववेद से बताया जाता है। परिमाण की दृष्टि से प्राचीन उपनिषदों में यह सबसे छोटी उपनिषद् है। इसमें केवल १२ गद्यात्मक श्रुतियाँ हैं, जिनको 'मन्त्र' भी कहा जाता है। छोटी होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है। इसमें एक ओर तो भूत, वर्तमान, भविष्यत् और त्रिकालातीत के साथ, और दूसरी ओर आत्मा के साथ ब्रह्म के तादात्म्य को दिखाते हुए उस ब्रह्म के वाचक ओंकार के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही ओंकार की अ, उ, म्—इन तीन मात्राओं के तथा मात्रा-रहित अव्यवहार्य रूप द्वारा ब्रह्म-रूप आत्मा के वैश्वानर (जागरित-स्थान), तैजस (स्वप्नस्थान), प्राज्ञ (सुषुप्तस्थान), तथा शिवात्मक अद्वैत, इन चार पादों (अथवा अवस्थाओं) की व्याख्या की गयी है।

श्री शंकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पूज्यपाद के गुरु गौडपादाचार्य ने इसी उपनिषद् के आधार पर अपनी सुप्रसिद्ध कारिकाओं (गौडपादीयकारिकाः) की रचना की थी। शांकर-वेदान्त के इतिहास में उनका और उनके द्वारा इस उपनिषद् का भी, महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीयारण्यक में दस प्रपाठक (=अध्याय) हैं। उन दस प्रपाठकों में से सातवें, आठवें और नवें प्रपाठकों को तैत्तिरीयउपनिषद् कहा जाता है। यह भी गद्यात्मक है। इसके तीनों प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्द-वल्ली और भृगु-वल्ली ये नाम भी दिये जाते हैं।

शिक्षा-वल्ली में आदर्श गुरु-शिष्य-भाव को दिखाते हुए अध्येता की दृष्टि से आवश्यक वर्णाद्युच्चारण की शिक्षा तथा कर्तव्यों आदि का उपदेश दिया गया है। **'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति'** इत्यादि प्रकरण में विद्याध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन-संस्कार के समय आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया सुप्रसिद्ध उपदेश समस्त उपनिषदों की दृष्टि से एक अत्युत्कृष्ट अंश है।

ब्रह्मानन्द-वल्ली में ज्ञान-पुरस्पर ही अनन्त आनन्दमय पर-ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, इसका सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रपाठक में प्रसंगतः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय, इन पाँच कोशों का निरूपण भी किया गया है।

भृगु-वल्ली में ब्रह्म-ज्ञान के साधन-रूप तप का तथा कुछ उपासनाओं अथवा आत्मोद्बोधक भावनाओं का और तदनुरूप आचरण का निरूपण किया गया है।

ऐतरेय-उपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय-आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायों को ही ऐतरेय-उपनिषद् कहा जाता है। यह भी गद्यात्मक है। इसमें आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से ही समस्त जड-चेतनात्मक प्रपंच की सृष्टि को दिखाकर, अन्त में वास्तविक दृष्टि से एकमात्र आत्मा के ही अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है।

छान्दोग्य-उपनिषद्

सामवेद के छान्दोग्य-ब्राह्मण के अन्तिम आठ अध्यायों (प्रपाठकों) को ही छान्दोग्य-उपनिषद् कहा जाता है। इसके आठ प्रपाठकों में क्रमशः १३, २४, १९, १७, २४, १६, २६, और १५ खण्ड हैं। यह उपनिषद् भी गद्यात्मक है। बृहदारण्यक-उपनिषद् को छोड़कर प्राचीन उपनिषदों में यह सबसे बड़ी है।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति। तस्योपव्याख्यानम्।" (अर्थात्, ॐ इस अक्षर की सामवेद के गायकों द्वारा गीयमान परमात्मा के रूप में उपासना करनी चाहिए। 'ओम्' शब्द से ही उद्गाता साम-गान का प्रारम्भ करता है। आगे उसी की व्याख्या दी जाती है।) इन गम्भीर शब्दों में इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है।

परमात्मा की अनेकानेक प्रकार की प्रतीकोपासनाओं और आध्यात्मिक रहस्यों को हृदयंगम करानेवाले संवादों और आख्यायिकाओं से यह उपनिषद् परिपूर्ण है। जबाला-पुत्र सत्यकाम की प्रसिद्ध आख्यायिका इसी उपनिषद् के चौथे प्रपाठक में आती है। इसी प्रकार प्रसङ्गतः धर्म के तीन स्कन्धों का वर्णन, मधु-विद्या का उपदेश, देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख, दहरोपासना (= हृदयाकाश में ब्रह्म की उपासना) आदि अनेकानेक रोचक विषय भी इसमें दिये हुए हैं। औपनिषद धारा के स्वरूप और विकास के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी सामग्री इसमें विद्यमान है, जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे।

बृहदारण्यक-उपनिषद्

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व ये दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। शतपथ-ब्राह्मण का, कुछ पाठान्तरों के साथ, उक्त दोनों शाखाओं से सम्बन्ध है। दोनों पाठों में शतपथ के अन्तिम छह अध्यायों को बृहदारण्यकोपनिषद् कहा जाता है।

उक्त छह अध्यायों में से दो-दो अध्यायों का एक-एक काण्ड कहा जाता है। इस प्रकार इस उपनिषद् में मधु-काण्ड, याज्ञवल्क्य-काण्ड (अथवा मुनि-काण्ड) और खिल-काण्ड ये तीन काण्ड हैं।

प्रथम काण्ड में आत्मा और परमात्मा के मौलिक अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है। मधुविद्या का उपदेश और याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का प्रसिद्ध संवाद भी इसमें आते हैं।

द्वितीय काण्ड में पूर्वोक्त सिद्धान्त की दार्शनिक आधार पर पुष्टि की गयी है। राजा जनक की सभा में विद्वानों के साथ याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ का वर्णन तथा परमविदुषी गार्गी वाचक्नवी का उल्लेख भी इसी काण्ड (तीसरे अध्याय) में आता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद, कुछ अधिक विस्तार से, पुनः इस काण्ड में दिया गया है।

खिल-काण्ड में अनेक प्रकार की प्रतीकोपासनाओं का और प्राण की श्रेष्ठता, पञ्चाग्नि-विद्या आदि विषयों का वर्णन है।

यह उपनिषद् भी गद्यात्मक है। छान्दोग्योपनिषद् के समान इस उपनिषद् में भी 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्' दोनों भाग सम्मिलित हैं।

प्राचीन उपनिषदों में यह सबसे बड़ी है और साथ ही उपनिषद्विषय के मार्मिक प्रतिपादन की दृष्टि से इसका सर्वाधिक वैशिष्ट्य है।

औपनिषद धारा के स्वरूप तथा विकास के अध्ययन में, जैसा हम आगे देखेंगे, इसका भी अत्यन्त महत्त्व है।

प्रचलित उपनिषत्संग्रहों में प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषद् का सम्बन्ध (जिस पर शंकराचार्य ने भाष्य किया है) काण्व शाखा से है।

उपनिषदों की रचना और शैली

प्राचीन उपनिषदों के उपर्युक्त परिचय के पढ़ने पर स्वभावतः उनके लेखकों तथा लेखन-काल के विषय में जिज्ञासा हो सकती है। इसलिए इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' के एक 'परिशिष्ट' में हम दिखा चुके हैं : "भारतवर्ष के अध्ययनाध्यापन की परम्परा में एक ऐसा समय था, जब कि प्रवचन, उपदेश या व्याख्यान द्वारा ही अध्ययनाध्यापन का कार्य चलता था। 'ग्रन्थों' का उसमें कोई स्थान ही नहीं था। इस काल को हम शुद्ध-प्रवचन-काल कह सकते हैं। यह काल चरणों, शाखाओं और परिषदों के प्रारम्भिक काल से लगभग मिलता है।...इस काल का साहित्य उस समय के चरणों (या शाखाओं) की ही सम्पत्ति समझी जाती थी।...यही कारण है कि उक्त ब्राह्मणादि साहित्य (अर्थात् ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) के विषय में कोई ग्रन्थ-कर्ता नहीं माना जाता।... (इसीलिए) शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्मय के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया जाता है।"[1]

ऊपर हम दिखा चुके हैं कि उपर्युक्त उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों की शाखाओं से ही था। इसीलिए इन्हें 'श्रुति' कहा जाता है, और इसीलिए इनके साथ किन्हीं विशिष्ट लेखकों या ग्रंथकारों के नाम संबद्ध नहीं हैं।

काल

भारतीय वाङ्मय के इतिहास में श्रुतिकाल सूत्र-काल से पहले आता है। भारतीय विचार-धारा के विकास की दृष्टि से भी पूर्वोक्त उपनिषदों का काल जैन तथा

१. दे० 'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खंड, वैदिक धारा' १९६४ (पृ० ३५७-३६०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौद्ध धर्मों के प्रारम्भ से पूर्ववर्ती होना चाहिए। इसलिए विद्वानों का प्रायेण यही मत है कि उक्त उपनिषदों का (कम-से-कम उनमें जो सबसे पुरानी हैं उनका), काल, सामान्य रूप से, ईसवी सन् से लगभग ६०० या ७०० वर्ष पहले होना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि उक्त सब उपनिषदें भी एक ही समय की नहीं हैं। उनका समय आगे-पीछे है। ऐसा समझा जाता है कि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय और ऐतरेय उपनिषदें, जिनकी गद्यात्मक शैली बहुत कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों की शैली के समान हैं, औरों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं।

शैली

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, उपनिषदों की शैली अधिकतर गद्यात्मक और अंशतः पद्यात्मक है। गद्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के गद्य की अपेक्षा सरलता, रोचकता और प्रवाह क्रमशः अधिक दिखाई देते हैं। पद्यों में भी वैदिक ऋचाओं की अपेक्षा लौकिक संस्कृत के छन्दों का सादृश्य अत्यधिक दीखता है। व्याकरण की दृष्टि से भी उपनिषदों की भाषा क्रमशः लौकिक संस्कृत के समीप आती हुई दिखाई देती है।

उपर्युक्त प्रवचन-काल की छाया उपनिषदों में प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। उनकी शैली अधिकतर संवादात्मक या प्रवचनात्मक है। स्वाभाविकता उनमें ओत-प्रोत है। प्रायेण अरण्य के शान्त तथा एकान्त वातावरण में श्रद्धा और विनय के साथ उपस्थित समित्पाणि शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान गुरु अथवा आचार्य बड़े प्रेम से करता है। पदे-पदे वह शिष्य को सोम्य ! करके सस्नेह संबोधित करता है। अध्ययन के आरम्भ में गुरु-शिष्य दोनों परस्पर हार्दिक सहयोग तथा सद्भावना के लिए और अपने ज्ञान की वीर्यवत्ता के लिए प्रार्थना करते हैं[1] और अन्त में शिष्य-वर्ग गुरु को अपना ज्ञान-प्रद पिता कहते हुए विनम्र भाव से अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करता है।[2] गुरु प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय को अधिक-से-अधिक लोक-प्रसिद्ध दृष्टान्तों[3] द्वारा हृदयंगम कराना चाहता है। इस सहज स्नेह के दिव्य और शान्त वातावरण में प्रोक्त (=प्रवचन की गयी) उपनिषदों के पढ़ने का अलौकिक आनन्द वास्तव में उन्हीं को मिल सकता है जो उनके मूल-पाठ को पढ़ और समझ सकते हैं।

---

१. दे० "सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।" (शान्तिपाठ-श्रुति, कठोपनिषद्)।

२. प्रश्नोपनिषद् के अन्त में शिष्य कहते हैं : (ते तमर्चयन्तः) त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।" (प्रश्नोपनिषद् ६।८)।

३. तु० "अग्निर्यथैको…", "वायुर्यथैको…", "सूर्यो यथा…" (कठोपनिषद् २।२।९-११)। तथा "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन…", "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना…", "यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन…" (छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४-६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२)

ब्रह्म-सूत्र अथवा वेदान्त-सूत्र

वेदान्त की परम्परा में उपनिषदों के पश्चात् ब्रह्मसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्म-सूत्र को ही वेदान्त-सूत्र, वेदान्तदर्शन अथवा शारीरक-सूत्र भी कहा जाता है। ब्रह्म-सूत्र को शारीरक-मीमांसा भी इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें शरीर-स्थित जीवात्मा के सम्बन्ध में ब्रह्मरूपता का विचार किया गया है।[१]

ब्रह्म-सूत्र के रचयिता बादरायण आचार्य हैं। इसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के अनुसार इसमें कुल ५५५ सूत्र हैं। तत्तद् विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से प्रत्येक पाद का अनेक 'अधिकरणों' में विभाग किया जाता है। सूत्रों की भाषा इतनी संक्षिप्त है कि उनकी अधिकरणों (=विचारणीय विषयों) की दृष्टि से संगति बैठाने में भाष्यकारों में मत-भेद का होना स्वाभाविक है। इसीलिए समस्त ग्रन्थ में कितने अधिकरण हैं, इस विषय में कोई एक ही निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। इसीलिए, उदाहरणार्थ, जहाँ शांकर-भाष्य के अनुसार अधिकरण-संख्या १९१ है, वहाँ रामानुज-भाष्य के अनुसार वह केवल १५६ है। ऐसा ही भेद अन्य भाष्यों में भी पाया जाता है।

ब्रह्म-सूत्र का प्रारम्भ "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" (=अब यहाँ से ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा अथवा मीमांसा का प्रारम्भ किया जाता है) इस सूत्र से होता है। वास्तव में ब्रह्म-सूत्र की रचना उपनिषदों में विभिन्न रूपों में प्रतिपादित आध्यात्मिक विचारों की अन्ततोगत्वा केवल ब्रह्म में संगति दिखाने के अभिप्राय से ही की गयी है। इसी प्रसंग में ब्रह्म-चिन्तन अथवा ब्रह्म-रूप में आत्म-भावना से संबद्ध अन्य अनेकानेक विषयों का विचार भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

ब्रह्म-सूत्र के प्रथम अध्याय को **'समन्वय-अध्याय'** कहा जाता है। इसमें अनेक प्रकार की श्रुतियों (=उपनिषद् वाक्यों) का ब्रह्म-परक समन्वय दिखाया गया है।

द्वितीय अध्याय को **'विरोध-परिहार'** कहा जाता है। इसमें स्वाभिमत सिद्धान्त से विरुद्ध (सांख्य, न्याय, पाशुपत, बौद्ध आदि) मतों का खण्डन तथा श्रुतिगत पारस्परिक विरोध का परिहार किया गया है।

तृतीय अध्याय को साधारणतया **'साधन-अध्याय'** कह सकते हैं। इसमें जीवात्मा के संसार-गति-प्रकार आदि को दिखाते हुए मुख्यतया ब्रह्मावाप्तिरूप मोक्ष के वैराग्य, संन्यासादि साधनों का विचार किया गया है।

---

१. तु० "शरीरमेव शरीरकं, तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा। तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेय-परमात्मरूपतामीमांसा" (शारीरकमीमांसा) (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की अवतरणिका पर भामती)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चतुर्थ अध्याय को 'फल-अध्याय' कहा जा सकता है। इसमें जीवन्मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति, ज्ञान और उपासना के फल का निर्णय, इत्यादि विषयों का विचार किया गया है।

शताब्दियों से औपनिषद धारा का विचार ब्रह्म-सूत्र पर केन्द्रित रहा है, यहाँ तक कि इधर चिरकाल से वेदान्त के विद्वान्, मूल उपनिषदों की बहुत-कुछ उपेक्षा करके, ब्रह्म-सूत्र के स्वसांप्रदायिक भाष्य तथा तत्सम्बन्धी पिछले ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन में ही निरत रहते हैं।

तत्तद्विषयों में अपना मौलिक महत्त्व रखनेवाले आकर-ग्रन्थों की इस प्रकार की उपेक्षा संस्कृत-वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में भी देखी जाती है, जो नितरां खेद का विषय है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस खण्ड में ब्रह्म-सूत्र से हमारा वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक उससे हमें सांस्कृतिक दृष्टि से औपनिषद धारा के स्वरूप और विकास के समझने में सहायता मिल सकती है। इसका विचार हम आगे एक स्वतन्त्र परिच्छेद में करेंगे।

भगवद्-गीता

वेदान्त (अथवा औपनिषद धारा) की परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाली प्रस्थान-त्रयी से भगवद्गीता का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। गीता को उपनिषदों का सार[1] ही नहीं, स्वयं गीता एक उपनिषद् है, ऐसा भी कहा जाता है। गीता के अध्यायों की समाप्ति में सर्वत्र 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायाम्' इस प्रकार गीता को स्पष्टतः उपनिषद् कहा गया है।

ऐसी अवस्था में औपनिषद धारा के विचार में गीता पर विचार करना सर्वथा अनिवार्य हो जाता है। इसलिए आगे चलकर एक स्वतन्त्र परिच्छेद में हम गीता पर भी विचार करेंगे। उसी प्रसंग में हम इस प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि प्राचीन उपनिषदों के साथ गीता का वास्तव में कैसा सम्बन्ध है। क्या गीता उपनिषदों का सारमात्र है या वास्तव में उनकी विचार-धारा की पूरक है? इतना संकेत कर देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा कि हम गीता को वास्तव में उपनिषदों का, सारमात्र नहीं किन्तु, पूरक ही मानते हैं।

भगवद्गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का एक खण्ड है। उसमें १८ अध्याय और कुल मिलाकर ७०० पद्य हैं। उसके प्रत्येक अध्याय के समाप्ति-वाक्य में उसके विशिष्ट विषय के अनुसार उसका विशिष्ट नाम भी दिया जाता है। तदनुसार क्रमशः उसके अठारहों अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं :—

---

१. तु० सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय	नाम	अध्याय	नाम
१	अर्जुनविषादयोग	१०	विभूतियोग
२	सांख्ययोग	११	विश्वरूपदर्शनयोग
३	कर्मयोग	१२	भक्तियोग
४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
५	कर्मसंन्यासयोग	१४	गुणत्रयविभागयोग
६	ध्यान-योग	१५	पुरुषोत्तमयोग
७	ज्ञान-विज्ञानयोग	१६	दैवासुरसंपद्विभागयोग
८	अक्षर-ब्रह्म-योग	१७	श्रद्धात्रयविभागयोग
९	राजविद्याराजगुह्ययोग	१८	मोक्षसंन्यासयोग

उपसंहार

इसमें सन्देह नहीं कि औपनिषद धारा के व्यापक प्रभाव पर विचार करते हुए तथा अन्य प्रसङ्गों में भी हम आगे चलकर औपनिषद धारा से प्रभावित उत्तर-कालीन साहित्य पर थोड़ा-बहुत विचार अवश्य करेंगे, तो भी, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, हम अपने प्रकृत विवेचन को प्रधानतया उपर्युक्त प्राचीन उपनिषद् , ब्रह्म-सूत्र और भगवद्गीता तक ही सीमित रखना चाहते हैं। औपनिषद धारा के प्रारम्भ, विकास और स्वरूप-निर्धारण में उक्त तीन का ही प्रधान रूप से हाथ रहा है।

एक बात और। जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता पर विभिन्न सांप्रदायिक वादों और दृष्टियों को लेकर अनेकानेक भाष्य और टीका-प्रटीकाएँ लिखी गयी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त ग्रन्थों की ग्रन्थियों को सुलझाने में तथा अन्य प्रकार से उनके अर्थ-बोध में सहायता देने के लिए हम सदा उनके विद्वान् लेखकों के प्रति अत्यन्त ऋणी रहेंगे। तो भी अत्यन्त विनम्र भाव से हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि अपने विवेचन में प्रधानतः मूल ग्रन्थों को ही लेकर हम चलना चाहते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो भाष्यकारों में परस्पर इतना वैमत्य है कि उनमें से किसका क्यों अनुकरण किया जाय, इसका निर्धारण करना दुष्कर है। दूसरे, प्रायः उन सबकी दृष्टि एकांगी है। वे अपने ही संप्रदाय के सिद्धान्तों को तत्तद् ग्रन्थों में आग्रह-पूर्वक देखना चाहते हैं। तीसरे, उनका दृष्टि-कोण विशुद्ध 'शास्त्रीय' इस अर्थ में है कि वे उपनिषदों की 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के अनुसार स्वानुभव-गम्य अथवा भावना-मूलक बातों को केवल तार्किक बुद्धि की तुला पर रखकर तोलना चाहते हैं। चौथे, यह स्मरण रखने की बात है कि भाष्य-कारों के साम्प्रदायिक वादों का जन्म मूलग्रन्थों से बहुत पीछे का है। जिस ऐकान्तिक रूप में उनका प्रतिपादन किया जाता है, उस रूप में वे वास्तव में उन ग्रन्थों को और उनके प्रवर्तकों को मूलतः अज्ञात ही थे।

ऐसी विषम परिस्थिति में स्वतन्त्रतया मूलग्रन्थों को लेकर चलना ही हमारे लिए सर्वथा निष्कण्टक और सरल पद्धति हो सकती है।

वास्तव में वैज्ञानिक पद्धति भी यही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा परिच्छेद

मूल प्रवृत्तियाँ

भारतीय संस्कृति की औपनिषद धारा के ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारम्भ और विकास का विचार हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम उस धारा की उन मूल प्रवृत्तियों को दिखाना चाहते हैं जिन्होंने उसे जन्म दिया था और उसके विकास को वेग प्रदान किया था।

'जिज्ञासां मातरं प्राहुर्ज्ञानवृद्धेर्मनीषिणः' अर्थात्, विद्वान् लोगों का कहना है कि किसी भी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि की जननी जिज्ञासा होती है। ज्ञान के विकास का यह एक मौलिक सिद्धान्त है। जिज्ञासा-कुतूहल के कारण बच्चा पग-पग पर प्रश्न करता है और उसी के द्वारा उसके ज्ञान का विकास होता है। विचिकित्सा और जिज्ञासा, दोनों एक ही पदार्थ हैं।

वैदिक संहिताओं में अनेक स्थानों पर मौलिक तत्त्वों के सम्बन्ध में जिज्ञासा-मूलक प्रश्न उपस्थित किये गये हैं।

उदाहरणार्थ, **"कस्मै देवाय हविषा विधेम"**

(ऋग्० १०।१२१।१)

अर्थात्, हम किस देव की उपासना करें? इस मौलिक प्रश्न को उठाकर इसके उत्तर में परमात्मा का जो हृदय-स्पर्शी वर्णन दिया गया है वह सुप्रसिद्ध है।

इस सृष्टि का रचयिता कौन है, इस विषय में नीचे का मन्त्र विशेषतः उद्धरणीय है:

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना—
था को वेद यत आबभूव॥

(ऋग्० १०।१२९।६)

अर्थात्, कौन इस बात को ठीक-ठीक जानता है? इस प्रश्न का कौन समाधान करेगा? यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हो गयी? इसका कारण क्या है? सूर्य, चन्द्र आदि देव इस सृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुए; तब बताओ इसके उद्भव को कौन जानता है?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्वेताश्वतर-उपनिषद् का प्रारम्भ ही नीचे के प्रश्नों से होता है—

> किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
> जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
> अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
> वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ (१।१)

अर्थात्, कारण क्या है ? क्या वह ब्रह्मन् है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं ? हम किसके आश्रय से जीते हैं ? हमारा आधार क्या है ? अयि ब्रह्मवादियो ! किसकी अध्यक्षता में हम सुख और दुःख की व्यवस्था में रहते हुए अपने जीवन को व्यतीत करते हैं ?

पर विशेष परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर जिज्ञासा की स्वाभाविक प्रवृत्ति में असाधारण तीव्रता आ जाया करती है और उससे बड़े-बड़े परिणाम निकल सकते हैं।

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा के तृतीय युग में ऐसी ही विशेष परिस्थिति हमारे देश में उपस्थित हो गयी थी। प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में 'वैदिक धारा का ह्रास' को दिखाते हुए हम स्पष्टतया दिखला चुके हैं कि उस युग में श्रौत (वैदिक) कर्म-काण्ड एक आदर्शहीन यान्त्रिक जटिल कर्म-काण्ड के रूप में परिणत हो गया था। उसमें, आध्यात्मिक प्रेरणा तो दूर रही, नैतिक प्रेरणा की भी प्रायेण शून्यता आ गयी थी।[१] गीता, श्रीमद्भागवत और वेदादि के अनेक उद्धरणों द्वारा हम इस बात को अच्छी तरह दिखला चुके हैं।

स्वयं उपनिषदों में ही उक्त दुःखद परिस्थिति के संकेत यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ :

> प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः
> ... ...
> एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
> जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥
> अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
> ... ...
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
> अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
> (मु० उ० १।२।७,५)

---

१ तु० "आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥" (गीता १६।१७) "पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः (शकुन्तला-नाटक ६।१)" । "त्रयीमिव कलियुगध्वस्तधर्मशोकगृहीतवनवासाम्" (कादम्बरी में महाश्वेता के वर्णन में बाण)। "हिंसाविहाराह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया । यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥" (भागवत ११।२१।३०) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, ये आदर्शहीन यज्ञ-रूपी कर्म कमजोर नौका के समान हैं। मूढ लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बनाकर अपनी अन्ध वासनाओं के भँवर में ही पड़े रहते हैं और वास्तविक कल्याण को नहीं प्राप्त कर सकते। मूढ लोग, लक्ष्य-हीन याज्ञिक क्रियाकलाप में फँसे हुए, आध्यात्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में अग्रसर नहीं हो पाते। वे मान, दम्भ और मोह के टेढ़े मार्ग में ही फँसकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। वे अंधे के पीछे चलनेवाले अंधों के समान ही होते हैं।

आदर्शहीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड से खिन्न होकर ही बृहदारण्यक-उपनिषद् का कहना है :

"न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।
"न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति।
आत्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति।"

(बृ० उ० ४।५।६)

अर्थात्, अरे भाई वैदिक कर्मकाण्ड के वाहक देवता या वेद भी अपने-अपने स्वरूप के कारण प्रिय नहीं होते हैं, किन्तु वास्तव में आध्यात्मिक दृष्टि से ही वे प्रिय हो सकते हैं। अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में न तो वैदिक कर्मकाण्ड का कोई महत्त्व हो सकता है, न उसके वाहक देवों या वेदों का।

वैदिक धारा के तृतीय युग में वैदिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ उसके निर्वाहक पुरोहित वर्ग में भी नैतिकता के ह्रास को हम सप्रमाण दिखला चुके हैं। उस युग के धार्मिक और नैतिक वातावरण की इसी महान् शून्यता और रिक्तता ने, निस्सन्देह उस समय के मनीषियों की स्वाभाविक जिज्ञासा की प्रवृत्ति में एक असाधारण तीव्रता उत्पन्न कर दी थी।

उसी तीव्र जिज्ञासा की प्रवृत्ति ने, हमारी समझ में, एक नूतन सांस्कृतिक धारा के रूप में औपनिषद धारा को जन्म दिया था।

उस धारा को वेग देने में और विशेष रूप से उसके अपने स्वरूप के निर्माण में कौन कौन-सी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं, इसी को कुछ विस्तार से दिखलाना इस परिच्छेद का प्रधान लक्ष्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति के स्वरूप को हम नीचे उपनिषदों के प्रमाणों के साथ ही दिखाने का यत्न करेंगे।

१. आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति

मनुष्य स्वभावतः बहिर्मुख है। साधारणतया उसकी सारी प्रवृत्ति अपने से बाह्य पदार्थों की ओर होती है। अभिमत या इष्ट पदार्थ या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है और साथ ही उस प्राप्ति में बाधक तत्त्वों का प्रतीकार करना चाहता है। बाह्य पदार्थों या लक्ष्यों की प्राप्ति में विफल हो जाने पर, अथवा किसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न किसी कारण से उनके निस्सार प्रतीत होने पर या उनकी ओर से निराश हो जाने पर ही वह अन्तर्मुख होकर अन्तःसमीक्षण में या आत्मपरीक्षण में अथवा आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता है।

हम दिखला चुके हैं कि वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में, जब कि आर्य-जाति का जीवन उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत था, याज्ञिक कर्मकाण्ड उसी जीवन का एक महान् प्रतीक था। वह उस महान् जीवन को प्रतिबिम्बित करता था। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्त्तीकरण ही उसका एकमात्र आधार था।

धीरे-धीरे उस कर्मकाण्ड का वह स्वरूप बदल गया। उसमें यान्त्रिकता, जादूपना, अर्थ-हीनता, दूकानदारी और शुष्क नाटकीय प्रदर्शन का भाव आ गया। ऐसी दुःसह परिस्थिति में कम-से-कम मनीषियों के मन में उसकी ओर से उपराम और असारता की भावना का उदय होना स्वाभाविक था।

संभव है उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति ने भी निराशा और अवसाद के वातावरण के उत्पन्न करने में सहायता दी हो।

ऐसी ही परिस्थिति में तत्कालीन मनीषियों में अन्तःसमीक्षण या आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का उदय हुआ होगा, जिसका सुन्दर वर्णन कठोपनिषद् की निम्नस्थ श्रुति में दिया गया है:

> पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्
> तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
> दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोप० २।१।१)

अर्थात्, स्वयंभू भगवान् ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर जानेवाला बनाया है। इसीलिए मनुष्य स्वभावतः बाह्य विषयों की ओर देखता है, अपनी अन्तरात्मा की ओर नहीं देखता। कोई विरला ही धीर (बुद्धिमान्) मनुष्य ऐसा होता है जो इन्द्रियों को मूँदकर, अमृतत्व (शाश्वत शान्ति) को चाहता हुआ, आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता है।

मनुष्य की स्वाभाविक अनेकानेक प्रकार की (नैतिक या अनैतिक) कामनाओं को साथ लेकर चलनेवाले शुष्क वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था का स्पष्ट उल्लेख अगली श्रुति में किया गया है:

> पराचः कामाननुयन्ति बालास्
> ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

(कठोप० २।१।२)

अर्थात्, मूढ लोग ही बाह्य कामनाओं की सिद्धि के नाम पर प्रचलित निरर्थक कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हैं। वे उसके द्वारा मृत्यु (अर्थात् अपूर्ण जीवन) के विस्तृत पाश या जाल में ही फँसे रहते हैं। क्योंकि,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः

(मु० उ० १।२।७)

अर्थात् , ये आदर्शहीन यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ़ नौका के समान हैं। कोई इनके द्वारा जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

उक्त प्रकार की परिस्थिति में समुत्पन्न आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का औपनिषद धारा के विकास में निश्चय ही अद्वितीय महत्त्व था। आगे हम जिन भी अन्य प्रवृत्तियों का वर्णन करेंगे उन सबके साथ, साक्षात् या असाक्षात् रूप में, इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है।

यही नहीं, एक प्रकार से आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति औपनिषद धारा का आधार होने के साथ-साथ उसका परम लक्ष्य भी मानी जा सकती है। अध्यात्म-विद्या का सारा प्रासाद इसी प्रवृत्ति पर खड़ा होता है, और उस विद्या का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा आत्म-दर्शन में या 'अपने' को, वास्तविक 'स्व' को पहचानने में ही होता है। औपनिषद श्रुतियों का मुख्य आघोष यही है :

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।"

(बृ० उ० २।४।५)

अर्थात् , (याज्ञवल्क्य कहते हैं) अयि मैत्रेयि ! आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ विदित हो जाता है। और भी,

"तरति शोकमात्मवित्"

(छा० उ० ७।१।३)

अर्थात् , आत्मा को जाननेवाला ही शोक और अवसाद को पार कर सकता है।

आध्यात्मिक जीवन में योग-विद्या का बड़ा महत्त्व है। योग-विद्या के परम प्रामाणिक ग्रन्थ पातञ्जलयोग-सूत्र में योग की परिभाषा[१] देने के अनन्तर योग-सिद्धि का परम लक्ष्य यही बतलाया है :

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

(योग-सूत्र १।३)

अर्थात् , योग-सिद्धि के हो जाने पर आत्मा की अपने विशुद्ध रूप में स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार औपनिषद धारा की मूल प्रवृत्ति और उसके अन्तिम ध्येय इन दोनों दृष्टियों से आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट है।

२. तात्त्विक ज्ञान की प्रवृत्ति

अन्तःसमीक्षण अथवा आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति के आधार पर अथवा लगभग उसके साथ ही तात्त्विक या दार्शनिक ज्ञान की व्यापक प्रवृत्ति का उद-

१. दे० "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (योग-सूत्र १।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य में हुआ करता है। औपनिषद धारा के विकास में भी यह बात बहुत स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है।

इस दृश्यजगत् के द्रष्टा-रूप प्रत्यगात्मा का, अर्थात् 'मेरा' वास्तविक स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के साथ ही:

१. दृश्य-रूप इस जगत् की उत्पत्ति कहाँ से हुई?

२. समस्त जगत् का मूल-तत्त्व या अन्तिम स्वरूप (ultimatic reality) क्या है?

३. उस मूलतत्त्व के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है?

४. जीवन का चरम लक्ष्य क्या है?

५. उस लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

जैसे प्रश्न वास्तविक जिज्ञासा-रूप में उपनिषदों में यत्र-तत्र उठाये गये हैं और उनका समाधान किया गया है। ऐसी ही जिज्ञासाओं का समाधान करना वास्तव में उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है। इसी दृष्टि से हम भारतीय दर्शन का प्रारम्भ उपनिषदों से कह सकते हैं।[१]

उदाहरणार्थ, नीचे के स्थलों को देखिए—

"प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिः...ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति।"

(छा० उ० ५।११।१)

अर्थात्, उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ...ये सब महागृहस्थी और परमश्रोत्रिय एकत्र होकर परस्पर मीमांसा करने लगे कि हमारा यह आत्मा वास्तव में क्या पदार्थ है और ब्रह्म भी क्या है?

कठोपनिषद् का तो प्रारम्भ ही यम के प्रति नचिकेतस् के इस प्रश्न से होता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽ-
स्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(कठोप० १।१।२०)

---

१. यहाँ यह विचारणीय बात है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार ही विद्याओं को मानकर दर्शन-स्थानीय आन्वीक्षिकी में केवल सांख्य, योग और लोकायत का ही उल्लेख किया गया है, वेदान्त या उपनिषदों का नहीं। जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, वैदिक संहिताओं में भी ऐसे ही प्रश्न उठाये गये हैं; पर बहुत ही कम मात्रा में। साथ ही उन पर उपनिषदों के समान कोई विशेष विचार नहीं किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'आत्मा नहीं रहता है', कृपया इसके सम्बन्ध में आप मुझे समझाएँ। (आपके द्वारा दिये हुए) वरों में से यह मेरा तीसरा वर है।

प्रश्नोपनिषद् में विभिन्न शिष्यों द्वारा छः महत्त्व के प्रश्न भगवान् पिप्पलाद से पूछे गये हैं। उनमें से प्रथम प्रश्न इस प्रकार है—

"अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ।
भगवन् ! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।"

(प्रश्नोप० १।३)

अर्थात्, तब कात्यायन कबन्धी ने गुरु के समीप में जाकर पूछा—हे भगवन्! यह सारी प्रजा (सृष्टि) किससे उत्पन्न होती है ?

याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कह रहे हैं :

"अयि मैत्रेयि ! मैं गृहस्थाश्रम से संन्यास लेने का विचार कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि अपनी संपत्ति का तुममें और अपनी दूसरी पत्नी कात्यायनी में बँटवारा कर दूँ।"

इस पर मैत्रेयी ने कहा :

"भगवन् ! यदि धन से पूर्ण यह सारी पृथ्वी मेरी हो जाय, तो क्या उससे मैं अमर हो जाऊँगी ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया :

"मैत्रेयि ! ऐसा तो नहीं होगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती।"

इस पर मैत्रेयी प्रश्न करती है :

"सा होवाच मैत्रेयी। येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।"

(बृ० उ० ४।५।४)

अर्थात्, उस मैत्रेयी ने कहा : "जिससे मैं अमर नहीं हो सकती हूँ उसे लेकर मैं क्या करूँगी। भगवन् जिसे अमृतत्व का साधन समझते हैं, मुझे वही बतलाइये।"

आरुणि उद्दालक याज्ञवल्क्य से कह रहे हैं कि एक समय हम मद्र देश में यज्ञ-शास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि-गोत्रोत्पन्न पतञ्चल के घर रहते थे। एक बार उनकी भार्या पर गंधर्व का आवेश हो गया। गंधर्व से पूछा गया, "तू कौन है ?" उसने कहा, "मैं नाम से कबन्ध तथा अथर्वा का पुत्र हूँ।" तब उस गंधर्व ने पतञ्चल काप्य से जो प्रश्न पूछा था वही मैं आपसे (याज्ञवल्क्य से) पूछ रहा हूँ। वह प्रश्न यह है :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"वेत्थ नु त्वं काप्य तत सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति।" तथा,

"वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति।"

(बृ० उ० ३।७।१)

अर्थात्, हे काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और समस्त भूत ग्रथित हो रहे हैं ?" तथा

"हे काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामी मूल-तत्त्व को जानते हो जो इस लोक, परलोक और सब भूतों को स्वयं अदृश्य रहता हुआ अन्दर से ही नियमित कर रहा है ?"

इसी प्रकार के जिज्ञासा-मूलक विविध प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न, कभी प्रश्नों द्वारा और कभी उनके बिना ही, उपनिषदों में सर्वत्र दिखायी देता है।

स्पष्टतः तात्त्विक ज्ञान की उक्त प्रवृत्ति का औपनिषद धारा के विकास में अत्यन्त महत्त्व है।

३. श्रेयः और प्रेयः का विवेक

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य (या धर्म) की भावना में इस सुख-दुःख की भावना का कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःख के ध्यान को नितरां छोड़कर (सुखदुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध आत्म-कल्याण की भावना अथवा कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है।

जैसे एक फूल का सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अंग है; ऐसे ही कल्याण-मार्ग के पथिक का ऐन्द्रियक सुख के प्रति अनासक्त होकर कर्तव्य-पालन उसके स्वरूप का अंग हो जाता है। उसके जीवन की सार्थकता इसी मार्ग के अपनाने में हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रसंग में 'सुख' शब्द का प्रयोग बाह्य विषयों के उपयोग से संबद्ध इन्द्रिय-जन्य सुख से ही है और वह उस शुद्ध सात्त्विक मनःप्रसाद या सौम्य मनःस्थिति से नितरां भिन्न है, जो भगवद्गीता के 'स्थित-प्रज्ञ'[1] को प्राप्त होती है।

उपनिषदों की भाषा में उक्त दोनों मार्गों को—विषय-जन्य या ऐन्द्रियक सुख के मार्ग को और आत्म-कल्याण के मार्ग को—क्रमशः प्रेयस् और श्रेयस् कहा गया

---

१. तु० "प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥" (गीता २।५५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। प्रेयस् के साथ 'प्रिय, आकर्षक या रोचक' लगने की भावना है, और श्रेयस् के साथ 'ठीक (right) होने की या न्याय्य की' भावना है[१]।

मनुष्य की चित्त-वृत्ति-रूपी नदी की दो धाराएँ हैं; एक सुख के मार्ग की तरफ बहती है और दूसरी आत्म-कल्याण के मार्ग की ओर। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक द्वितीय मार्ग का ही अवलम्बन करे।[२]

अन्तःसमीक्षण और तात्त्विक-ज्ञान की प्रवृत्तियों को साथ लेकर चलनेवाली औपनिषद धारा के लिए श्रेयस् और प्रेयस् मार्गों का विवेचन सुतरां आवश्यक हो जाता है; क्योंकि इस विवेचन के बिना उसकी प्रगति हो ही नहीं सकती। इसीलिए कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढंग से उक्त दोनों मार्गों का वर्णन किया गया है।

नचिकेतस् से, आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने के प्रसंग में, यमराज कहते हैं :

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्
ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

(कठोप० १।२।१-२)

अर्थात्, श्रेयस् और प्रेयस् दोनों, एक दूसरे से पृथक्, भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इन दोनों के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न हैं, और ये दोनों मनुष्य को बाँधते अर्थात् अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इन दोनों में से जो श्रेय का अवलम्बन करता है उसका भला होता है और जो प्रेय का वरण करता है वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

---

१. आधुनिक कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र (Ethics) में इन्हीं दो दृष्टियों को 'The end as pleasure' (Hedonism) और 'The end as good' इन शब्दों में कहा जाता है।

२. तु० "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी। वहति कल्याणाय। वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भाराविवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसार प्राग्भाराविवेकविषयनिम्ना पापवहा।" (योगसूत्र व्यासभाष्य १।१२)। "शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्। पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥" (मुक्तिकोपनिषद् २।६)। "विषयसुखं चाविद्या···। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्।···तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति।" (योगसूत्र व्यासभाष्य २।१५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मिले-जुले रूप में मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं। बुद्धिमान् (विवेक-शील) मनुष्य सम्यक्तया विचारकर उनको अलग-अलग करता है। वह प्रेय को छोड़कर श्रेय को ग्रहण करता है; किन्तु जो मन्द-बुद्धि होता है वह योग-क्षेम के कारण, अर्थात् सांसारिक सुखोपभोग की दृष्टि से, प्रेय को वरण करता है।

अभिप्राय यह है कि अध्यात्म-मार्ग पर अथवा आत्म-कल्याण की ओर चलने-वाले को ऐन्द्रियक सुखों में न फँसकर अपने वास्तविक ध्येय की ओर ही बढ़ने का बराबर यत्न करना चाहिए। उसको स्मरण रखना चाहिए कि ऐन्द्रियक सुखों की ऐसी शृंखला है जो प्रायेण मनुष्यों को फँसाकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं होने देती।[1]

क्योंकि :

न सांपरायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठोप० १।२।६)

अर्थात्, (यमराज नचिकेतस् से कहते हैं) धनादि पदार्थों के मोह से मूढ़ और विषय-विलास में आसक्त मूर्ख मनुष्य को अपने परलोक का ध्यान नहीं आता। 'यही लोक है, परलोक नहीं है', ऐसा माननेवाला बार-बार मृत्यु के वश में आता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ा रहता है।

आगे चलकर यमराज ने समझाया है कि इस रथ-रूपी शरीर में आत्मा-रूपी रथी बैठकर जीवन-यात्रा कर रहा है। इन्द्रियाँ ही उस रथ के घोड़े हैं, बुद्धि सारथि है और मन लगाम है, इन्द्रियों के विषय मार्ग हैं। व्यापक परमात्मा (विष्णु) के पद की प्राप्ति ही उस यात्रा का परम लक्ष्य है। इसलिए इन्द्रियों को वश में रखने से ही लक्ष्य-सिद्धि हो सकती है। अन्यथा सर्वनाश अनिवार्य है।[2]

श्रेय-मार्ग और प्रेय-मार्ग को क्रमशः निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्ग ही कह सकते हैं। आपाततः यह समझा जाता रहा है कि इन दोनों में मूलतः नितान्त विरोध है। अन्ततोगत्वा यह विरोध ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग के विरोध में पर्यवसित हो जाता है। आगे चलकर हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि औपनिषद धारा का इस विषय में वास्तव में क्या मत हो सकता है।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि औपनिषद धारा के विकास में श्रेय-मार्ग और प्रेय-मार्ग की विवेक-बुद्धि का बहुत बड़ा स्थान है।

---

१. तु० "नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः" (कठोप० १।२३)।

२. तु० "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः॥ सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।" (कठोप० १।३।३-९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि श्रौत (वैदिक) कर्मकाण्ड की कामनाएँ प्रायेण प्रेय-कोटि में ही आ जाती हैं और ओपनिषद धारा उनको स्वभावत: उपेक्षा की दृष्टि से ही देखती है।[१]

४. मृत्यु, पुनर्जन्म और अमृतत्व-प्राप्ति का विचार

औपनिषद धारा के प्रारम्भ और विकास दोनों में मृत्यु, पुनर्जन्म और अमृतत्व-प्राप्ति के विचारों का अत्यधिक महत्त्व है। जैसा हम नीचे दिखायेंगे, जहाँ उपनिषदों में एक ओर मृत्यु और पुनर्जन्म की विभिपिका प्रायेण सर्वत्र विद्यमान है, वहाँ दूसरी ओर अमृतत्व-प्राति का आदर्श ही उस विभीषिका से बचने का एकमात्र द्वार बतलाया गया है।

उदाहरणार्थ, नीचे के स्थलों को देखिए—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव···

(कठोप० १।१।२६)

अर्थात्, (नचिकेतस् कहता है) हे यमराज! मरणधर्मा मनुष्य के ये सांसारिक उपभोग्य पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। वे सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा (अचिरस्थायी) ही है।

मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना···।
न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

(छा० उ० ८।१२।१)

अर्थात्, यह शरीर निश्चय ही मरणशील है, इसको मृत्यु ने पकड़ रखा है। शरीर के रहते हुए मनुष्य को प्रिय और अप्रिय अनुभवों या पदार्थों से छुटकारा नहीं मिल सकता।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

(ईशोप० ११)

अर्थात्, वह अविद्या (कर्म) द्वारा मृत्यु को पार कर, विद्या (ज्ञान) से अमृतत्व को प्राप्त करता है।

···धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

(केनोप० १।२; २।५)

अर्थात् ···बुद्धिमान् लोग इस लोक से जाकर (मुक्त होकर) अमृत हो जाते हैं।

---

१. तु० "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः,······एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।" (मु० उ० १।२।७,१०) "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" (मु० उ० १।२।१२) "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।" (छा० उ० ८।१।६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य···

(कठोप० १।१।१८)

अर्थात्, वह मृत्यु के बन्धनों को पहले से ही तोड़कर···।

···तरति जन्ममृत्यू ।

(कठोप० १।१।१७)

अर्थात्, ···वह जन्म और मृत्यु दोनों के पार चला जाता है।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

(कठोप० १।३।८)

अर्थात् वह उस अमृत-पद को प्राप्त हो जाता है जिसको पाकर फिर उसका जन्म नहीं होता !

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।

(कठोप० १।३।१५)

अर्थात्, जो आत्मतत्व अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी परे और ध्रुव है, उसको जानकर मनुष्य मृत्यु-मुख से छूट जाता है।

ते···परामृताः परिमुच्यन्ति ।

(मु० उ० ३।२।६)

अर्थात्, वे (शुद्धसत्त्वज्ञानी पुरुष) परम अमृतत्व को पाकर जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।

(मु० उ० १।२।७)

अर्थात्, वे (जो श्रौत कर्मकाण्ड को ही श्रेय समझते हैं) पुनः जरा और मरण को प्राप्त होते रहते हैं।

इमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति ।

(मु० उ० १।२।१०)

अर्थात्, (कर्मकाण्ड को ही श्रेयस्कर समझनेवाले, अन्त में) पुनः इस (मनुष्य) लोक में अथवा इससे भी निम्नतर लोक में जन्म लेते हैं।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

(बृ० उ० ४।४।१९)

अर्थात्, जो इस (ब्रह्म) में नाना के समान देखता है, वह मृत्यु के अनन्तर फिर मृत्यु को प्राप्त होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।

(बृ० उ० ४।४।७)

अर्थात्, उस (उपर्युक्त) स्थिति में यह मरणधर्मा मनुष्य अमृत हो जाता है और उसे यहीं ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

प्रकृत प्रसंग में इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषद धारा की एक प्रमुख मौलिक प्रवृत्ति यह है कि मनुष्य जन्म-मरण अथवा आवागमन की बिभीषिका से त्रस्त है और किसी प्रकार इससे छुटकारा पाकर, मुक्त होकर, अमृतत्व को प्राप्त करना चाहता है।

उपनिषदों में मृत्यु, पुनर्जन्म, अमृतत्व और मोक्ष के विषय में जो विचार साधारणतया प्रकट किये गये हैं, उनके विषय में अधिक विचार हम आगे चलकर करेंगे। इस सम्बन्ध में यहाँ दो बातों की ओर हम विशेषरूप से ध्यान दिला देना चाहते हैं।

प्रथम तो यह कि वैदिक संहिताओं की दृष्टि से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जन्म-मरण की उक्त बिभीषिका वैदिक धारा में नहीं पायी जाती है। उस धारा में मनुष्य इस जीवन को हेय या बन्ध न समझकर भगवान् का प्रसाद ही समझते थे। उनका विचार सही था :

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः ।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः ।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥

(रश्मिमाला २।१)

अर्थात्, जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं। तथा, वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (सदा रहनेवाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।[१]

इसी कारण से वैदिक मंत्रों में जीवन से 'मुक्ति' के स्थान में बराबर 'सौ और सौ से भी अधिक' (भूयश्च शरदः शतात्) आयु के लिए प्रार्थना की गयी है।

औपनिषद धारा में उक्त बिभीषिका क्यों और कैसे आ गयी, इसका विचार हम आगे उसके प्रारम्भ और विकास के प्रसंग में करेंगे।

दूसरी बात यह है कि भारतीय विचारधारा और दर्शन में आवागमन और मोक्ष (या निर्वाण) के सिद्धान्त का जो साम्राज्य दिखाई देता है वह उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से औपनिषद धारा की ही देन कही जा सकती है।

१. तु० "जीवेम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।...भूयसीः शरदः शतात्।" (अथर्व० १९।६७।२,४,८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति

प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में हम वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को दिखा चुके हैं। इसीलिए जीवन की सफलता के लिए, वैयक्तिक अथवा सामाजिक दृष्टि से, जिन-जिन बातों या पदार्थों की आवश्यकता या उपयोगिता हो सकती है, प्रायेण उन सबकी प्रार्थनाएँ वैदिक मन्त्रों में बराबर पायी जाती हैं। वहाँ वैराग्य जैसी भावना, कुछ ही उत्तरकालीन मन्त्रों को छोड़कर, कहीं भी नहीं पायी जाती। संन्यास की प्रवृत्ति भी अपने मूल में वैदिक धारा से असंबद्ध है, इसको भी हम कई जगह सप्रमाण दिखला चुके हैं और आगे चलकर पुनः इस खण्ड में भी सविस्तर इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

इसके विपरीत, औपनिषद धारा में, उसके एक वैशिष्ट्य के रूप में, वैराग्य और संन्यास दोनों की प्रवृत्ति पायी जाती है, जैसा कि नीचे के उद्धरणों से प्रतीत होगा।

कठोपनिषद् को ही हम प्रथम लेते हैं :

नचिकेतस् (एक नवयुवक) यमराज से आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, क्योंकि वे उससे प्रसन्न होकर उसे वर माँगने को कह चुके हैं। यमराज सांसारिक प्रलोभनों द्वारा नचिकेतस् को अपनी आत्म-विषयक जिज्ञासा को छोड़ देने को कहते हैं :

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥

(कठोप० १।१।२३,२५)

अर्थात्, हे नचिकेतः, तुम शतायु, बेटे-पोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग लो, विस्तृत भूमि को भी माँग लो, और स्वयं भी जितने वर्ष की इच्छा हो तब तक जीवित रहो।

मनुष्य-लोक में जो-जो भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं, उन सबको तुम स्वच्छन्दता-पूर्वक माँग लो। रथ और बाजों के सहित ये रमणियाँ यहाँ मौजूद हैं; मनुष्यों के लिए ये दुर्लभ हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन रमणियों से तुम अपनी सेवा कराओ। पर हे नचिकेतः! तुम मृत्यु-सम्बन्धी प्रश्न मत पूछो।

३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust Funding IKS-MoE-Grant-2

नचिकेतस् उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान्
अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥

(कठोप० १।१।२६,२८)

अर्थात् , हे यमराज ! मर्त्य के ये सांसारिक उपभोग्य पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। साथ ही उनके उपभोग से सब इन्द्रियों का तेज भी जीर्ण हो जाता है। फिर यह सारा जीवन भी थोड़ा ही है। इसलिए आपके जो ये वाहन और नाच-गान हैं, उन्हें आप ही रखिये। मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।

कभी जीर्णता को न पानेवाले दिव्य शाश्वत (अमृत) जीवन का अनुभव जिन्होंने किया है, उन महात्माओं के संपर्क में आकर, और स्वयं अपने जीवन को जीर्ण होनेवाला और मरणशील समझता हुआ, इस पृथ्वी पर रहनेवाला कौन मनुष्य, सुन्दर वर्ण (रमणी आदि के) के राग से प्राप्त होनेवाले सुखों (स्त्री-संभोग आदि) की अस्थिरता को देखकर, लम्बे जीवन में भी सुख मानेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

अन्त में नचिकेतस् अपने निश्चय को कहता है :

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

(कठोप० १।१।२७)

अर्थात्, यह मानी हुई बात है कि मनुष्य की वास्तविक तृप्ति धन से और धन से प्राप्य सांसारिक वस्तुओं से नहीं हो सकती।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के अन्दर वास्तव में स्वभावतः एक ऐसे सुख की अभिलाषा है जो शाश्वत हो, अमृत हो, कभी नष्ट न हो। वह उसीकी तलाश में रहता है। नाना उपभोग्य पदार्थों में मानो उसी को ढूँढ़ता है, पर उसे नहीं पाता। उसके चित्त की चंचलता का मूल यही है। इसी तथ्य की ओर निर्देश ऊपर का वाक्य करता है कि 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। सारी औपनिषद धारा का मुख्य लक्ष्य यही है कि मनुष्य को उसी शाश्वत शान्ति का मार्ग दिखलाया जाय। उस लक्ष्य की प्राप्ति में वास्तविक वैराग्य एक भूमिका का कार्य करता है।

यमराज भी अपने शब्दों में इसी सिद्धान्त को दुहराते हुए कहते हैं :

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्

(कठोप० १।२।१०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, हाँ, यह निश्चित बात है कि अध्रुव अथवा अनित्य पदार्थों से उस ध्रुव या शाश्वत लक्ष्य (अमृतत्व) की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी सिद्धान्त को बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य संन्यास ग्रहण करने के समय अपनी पत्नी मैत्रेयी से इन शब्दों में कहते हैं—

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति

(बृ० उ० २।४।२)

अर्थात्, अमृतत्व अर्थात् शाश्वत शान्ति की आशा वित्त से नहीं की जा सकती है।

यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक जीवन के पथ पर चलनेवाले के लिए संयत वैराग्य की ऐसी भावना सर्वथा स्वाभाविक है। आगे चलकर, जैसा हम औपनिषद धारा के ह्रास पर विचार करते हुए दिखायेंगे, वैराग्य की भावना असंतुलित होकर सीमा से बाहर चली गयी।

वैराग्य की भावना ही कुछ आगे बढ़कर संन्यास का रूप धारण कर लेती है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास में संन्यास की भावना ने बड़ा भाग लिया है। विभिन्न भारतीय संप्रदायों के इतिहास में विभिन्न रूपों में इस भावना का अत्यधिक प्रभाव, अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का, देश पर पड़ता रहा है। आज भी देश की महती समस्याओं में से यह एक है।

इसका इतिहास बड़ा लम्बा और जटिल होने के साथ-साथ बड़ा रोचक भी है। आगे औपनिषद धारा के विकास को दिखाते हुए हम इस पर विचार करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही दिखा देना पर्याप्त होगा कि प्राचीन उपनिषदों में कहाँ तक और किस रूप में इसका अस्तित्व पाया जाता है।

उत्तरकालीन उपनिषदों में संन्यास की चर्चा प्रायः आती है। यहाँ तक कि पीछे से कुछ विशिष्ट उपनिषदों के लिए 'संन्यास-उपनिषद्' यह नाम ही दे दिया गया है। अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, से संस्कृत टीका के सहित 'संन्यासोपनिषदः' इस नाम से २० उपनिषदें एक साथ प्रकाशित हुई हैं। स्वभावतः इनमें संन्यास पर बल दिया गया है। ऐसी ही उपनिषदों के प्रभाव से और औपनिषद धारा के उत्तरकालीन इतिहास के कारण लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है कि औपनिषद धारा के साथ संन्यास का मौलिक तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है, यह हम आगे चलकर दिखायेंगे।

ईशावास्योपनिषद् आदि प्राचीन दस उपनिषदों में, जिनको हमने प्रकृत विवेचन का आधार माना है, संन्यास का उल्लेख कुछ गिने-चुने स्थलों में ही आया है, और वह भी इस रूप में कि उससे यही प्रतीत होता है कि औपनिषद धारा के विकास में वह, मौलिक न होकर, एक आगन्तुक भावना ही है। इस कथन की विशेष व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे।

उक्त उपनिषदों में मुख्य स्थल, जहाँ संन्यास का निर्देश मिलता है, ये हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुण्डकोपनिषद् का नाम कदाचित् मुण्डित शिरवाले संन्यासियों के नाम
ही निकला है। इसीलिए उसमें संन्यास का उल्लेख स्वाभाविक है। वह इस प्रकार है

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु० उ० ३।२।६

अर्थात्, वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने अपने लक्ष्य (अर्थ) को सुनिश्चित कर लि
है ऐसे संन्यासयोग से (अर्थात् संन्यास-मार्ग के द्वारा) शुद्ध-चित्त यति-जन अ
समय में परम अमृत होते हुए मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्म-लोक को प्राप्त कर लेते हैं

यह ध्यान देने योग्य बात है कि पूर्वोक्त प्राचीन दसों उपनिषदों में 'संन्या
शब्द केवल यहीं प्रयुक्त हुआ है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रव्रज्या करनेवाले परिव्राजकों (संन्यासियों) क
उल्लेख कुछ विचित्र ढंग से नीचे के स्थल में आया है—

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति
एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नो
यमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाया
भिक्षाचर्यं चरन्ति।"

(बृ० उ० ४।४।२२

अर्थात्, इसी (आत्मा) को जानकर मुनि होता है। इसी आत्मलोक को चाह
हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर परिव्राजक (या संन्यासी) हो जाते हैं
(इसका कारण यह है कि) प्राचीन समय के विद्वान् सन्तान की इच्छा नहीं करते थे
(उनका विचार था) हमें, जिनको यह आत्मलोक अभीष्ट है, प्रजा या सन्तान से क
करना है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से चित्त को मोड़कर भिक्षा-च
किया करते थे। अर्थात् भिक्षु या संन्यासी बनकर विचरते थे।

लगभग इसी तरह की बात बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१ में भी कही गयी है
यहाँ स्पष्टतया वैराग्य-युक्त संन्यास का उल्लेख है। परन्तु इस प्रसंग में
विशेष ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि यहाँ औपनिषद धारा में संन्यास
पुष्टि प्राचीन काल के भिक्षुओं या परिव्राजकों की विचारधारा से की गयी है।
इससे औपनिषद धारा में संन्यास का मौलिकत्व के स्थान में आगन्तुक होना सिद्ध
होता? हमें तो ऐसी ही बात दीखती है।

जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं है कि संन्यास की भावना ने भी औपनि
धारा के विकास में क्रमशः पर्याप्त भाग लिया था।[1]

---

१. इस प्रसंग में बृ० उ० २।४।१ तथा ४।५।१. को तथा मु० उ० १।२।११ को भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीसरा परिच्छेद

बौद्धिक पृष्ठभूमि [१]

१. सामान्य अवलोकन

औपनिषद् धारा के अपने निजी स्वरूप को दिखाने से पहले औपनिषद धारा के उस बौद्धिक वातावरण का कुछ परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमें वह जनमी थी और फली-फूली थी। जिन लोगों ने उसे विकसित किया था, वे कौन थे? कैसे थे? उनकी जीवनचर्या कैसी थी? उनका नैतिक और बौद्धिक स्तर कैसा था? और उनकी मौलिक आकांक्षाएँ क्या थीं? इत्यादि बातों को जाने बिना निश्चय ही हम उस धारा के विकास या स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ दिखलाते हुए हम कह चुके हैं कि 'विशेषतः आत्मा या ब्रह्म जैसे गुह्य अर्थों के शिक्षण के लिए शान्त और एकान्त स्थान में विधि तथा नियम-पुरस्सर गुरु के पास जाकर शिष्यों की बैठक से ही 'उपनिषद्' का अभिप्राय होता था।' इससे यह भ्रान्ति हो सकती है कि औपनिषद धारा अपने प्रारम्भ और विकास दोनों में किसी व्यवस्थित अध्ययनाध्यापन की परम्परा से असंपृक्त थी।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(कठोप० १।२।२३)

अर्थात्, इस आत्मा की प्राप्ति न तो अध्ययन से, न मेधा से और न अनेक ग्रन्थों के सुनने से हो सकती है।

नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्
वाचो विग्लापनं हि तत्।

(बृ० उ० ४।४।२१)

अर्थात्, बहुत शब्दों का (शास्त्रों का, ग्रन्थों का) चिन्तन न करे, वह तो केवल वाणी का श्रम ही है।

ऐसे प्रमाणों से भी उक्त धारणा को कुछ बल मिलता है।

परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। उपनिषदों में अनेकानेक स्थल ऐसे हैं, जिनसे स्पष्टतया यही प्रतीत होता है कि उस समय की विश्वविद्यालय-स्थानीय बौद्धिक संस्थाओं में ही एक महान् बौद्धिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप, औपनिषद धारा का उदय और विकास हुआ था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए उपनिषदों में ही जहाँ एक ओर औपनिषद धारा के महान् प्रश्नों का मुख्यतः विचार मिलता है, वहाँ दूसरी ओर गुरु-शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी प्रार्थनाएँ, उनके कर्तव्य, शिष्यों की जीवन-चर्या, गुरुकुलों में पढ़ाये जानेवाले विषय, इत्यादि बातों का वर्णन भी किसी न किसी रूप में वहाँ हमें मिल जाता है।

इसलिए औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि का यथासंभव संपूर्ण चित्र देना ही यहाँ हम आवश्यक समझते हैं।

सामान्य अवलोकन

उक्त पृष्ठभूमि के विशेष अध्ययन से पहले हम उसका सामान्य अवलोकन ही करना चाहते हैं। इस अवलोकन में हम उक्त धारा से सम्बद्ध महान् व्यक्तियों के सामान्य स्वरूप की, उसकी पोषक परिषदों आदि विद्या-संस्थाओं की, उस समय के पाठ्य विषयों की और उसके तात्कालिक देश-विस्तार की एक झाँकी पाठकों के सामने उपस्थित करना चाहते हैं।

विषय-निरूपण के दो प्रकार

जिन प्राचीन उपनिषदों के आधार पर हम औपनिषद धारा का अध्ययन करना चाहते हैं उनमें विषय-निरूपण का ढंग सामान्येन दो प्रकार का है। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य जैसी उपनिषदों का ढंग प्रायेण ऐसा है जिसमें औपनिषद धारा के विचारों का मानो निर्माण होता हुआ दीखता है। कुछ जिज्ञासु किसी आचार्य (ब्राह्मण या क्षत्रिय) के पास उपस्थित होकर अनेक प्रकार के प्रश्न या जिज्ञासा करते हैं और आचार्य उनका समाधान करते हुए किसी सिद्धान्त तक पहुँचने और उसको समझाने का यत्न करता है।[1] दूसरे ईश, ऐतरेय, मुण्डक, जैसी उपनिषदों में उक्त प्रकार से विचारों का उपबृंहण न दिखाकर मानो पहले से ही निश्चित अथवा स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन उपनिषदों में जिज्ञासा और समाधान के ढंग का अभाव है या कम से कम उसका प्राधान्य नहीं है।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि उक्त प्रथम प्रकार की उपनिषदों में जिज्ञासा करनेवाले और उत्तर देनेवाले लोग प्रायेण ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। प्रथम तो इसलिए कि उनके नाम एक से ही स्थलों में, एक ही तथा अन्य उपनिषदों में भी, बार-बार आते हैं। उदाहरणार्थ, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य

१. तु० "अधीहि भगवत इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः" (छा० उ०, ७।१)। "तान् होवाच अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति। तं हन्ताभ्यागच्छामेति। तं हाभ्याजग्मुः।" (छा० उ०, ५।११)। "जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम।…तं सम्राट् पूर्वं पप्रच्छ। याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष इति।" (बृ० उ०, ४।३)। "श्वेतकेतुर्ह आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम।…वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता इति" (बृ० उ०, ६।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदेह जनक, सत्यकाम[1] ऐसे ही नाम हैं। दूसरे, इसलिए भी कि, प्राचीन भारतीय प्रणाली के अनुसार, उन नामों के साथ प्रायेण वह किसका पुत्र है, किस गोत्र का है या कहाँ का रहनेवाला है इन बातों का भी निर्देश रहता है। उदाहरणार्थ, श्वेतकेतु के साथ आनेवाले 'आरुणेय' का अर्थ है कि वह अरुण के पुत्र आरुणि का पुत्र था। सत्यकाम के साथ आनेवाले 'जाबाल' का अर्थ है—जबाला का पुत्र। जनक वैदेह का अर्थ है—विदेह के राजा जनक।

इसलिए औपनिषद धारा के प्रवर्तक या वाहक उन विशिष्ट व्यक्तियों में से कुछ की सामान्य योग्यता और स्वरूप पर विचार कर लेने से हमें निश्चय ही उस धारा की पृष्ठभूमि के समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

औपनिषद धारा के विशिष्ट व्यक्ति

इस प्रसंग में हम श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, नारद जैसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लेकर ही विचार करना चाहते हैं।

श्वेतकेतु

श्वेतकेतु का उल्लेख छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दोनों बड़ी उपनिषदों में कई स्थानों पर आया है। दोनों उपनिषदों में उनका किसी न किसी रूप में विशेष स्थान है।

यह उद्दालक आरुणि[2] (अरुण के पुत्र) के पुत्र थे। छान्दोग्य उपनिषद् में उनके विद्या-ग्रहण का निम्न प्रकार से उल्लेख आया है जो कई दृष्टियों से महत्त्व-युक्त है—

"श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। तं ह पितोवाच। श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशति-वर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच। श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसि, उत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥ येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥"

(छा० उ० ६।१।१–३)

अर्थात्, अरुण का पौत्र श्वेतकेतु था। उससे पिता ने कहा—'हे श्वेतकेतो! तू गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या ग्रहण कर। हे सोम्य! हमारे कुल में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता जो अध्ययन न करे और स्वयं ब्राह्मण न बनकर, उसके समान

---

१. उदाहरणार्थ, दे० श्वेतकेतु आरुणेय (छा० उ०, ५।३।१; ६।१।१; बृ० उ०, ६।२।१)। सत्यकाम जाबाल (छा० उ०, ४।४।१; ५।२।३; बृ० उ०, ४।१।६; ६।३।११)। जनक वैदेह (बृ० उ०, ३।१।१; ४।१।१; ५।१४।८)।

२. दे० "उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच" (छा० उ०, ६।८।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो जो केवल ब्राह्मणों को अपना बन्धु बतलाता है। वह बारह वर्ष की अवस्था गुरु के पास गया और सब वेदों को पढ़कर चौबीस वर्ष का होकर अभिमानी, अपने को विद्वान् समझनेवाला और उद्दण्ड भाव से घर वापिस आया। उससे पिता ने कहा—'हे सोम्य श्वेतकेतो! तू जो ऐसा अभिमानी, अपने को विद्वान् समझनेवाला और उद्दण्ड हो रहा है, सो क्या तूने गुरु से उस आदेश—तत्त्वज्ञानोपदेश—को पूछा है जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है?' श्वेतकेतु ने पिता से जिज्ञासा की, 'भगवन्! वह तत्त्वज्ञानोपदेश कैसा है? उसे आप मुझे बताइये।'

उक्त संदर्भ का कई दृष्टियों से महत्त्व है। उससे स्पष्ट है कि श्वेतकेतु ने गुरुकुल में रहकर सब वेदों का अध्ययन किया था और उस शिक्षा के फलस्वरूप वह अभिमानी और अपने को विद्वान् माननेवाला तथा स्तब्ध हो गया था। पर उस समय तक वह तात्त्विक ज्ञान से बिलकुल शून्य था। तदनन्तर ही तात्त्विक ज्ञान की जिज्ञासा उसमें जागृत होती है और वह उसके लिए आतुर हो उठता है।

निश्चय ही यह जिज्ञासा उस समय के विद्वानों और विश्वविद्यालयों के वातावरण में एक महान् क्रान्ति की द्योतक है।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य वाजसनि के पुत्र और उद्दालक आरुणि के शिष्य थे।[१] बृहदारण्यकोपनिषद् में, जो प्राचीन उपनिषदों में सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है, वे ब्रह्मज्ञान के सर्वप्रधान प्रवक्ता हैं। विदेह के राजा तत्त्वज्ञानी जनक के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके द्वारा आमन्त्रित हुए देश भर के विद्वानों की सभा में वे सर्व-प्रमुख भाग लेते हैं।[२] गृहस्थाश्रम को छोड़ते हुए वे अपनी पत्नी मैत्रेयी को उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।[३] इस उपदेश के प्रसंग में वे न केवल उस समय के वाङ्मय का विस्तार से उल्लेख ही करते हैं[४], अपितु आत्मज्ञान की दृष्टि से वेदों और वैदिक कर्मकाण्ड के वाहक देवों की गौणता का प्रतिपादन भी[५] करते हैं।

स्पष्ट है कि महान् तत्त्वज्ञानी और अध्यात्मविद् होने के साथ-साथ वे समस्त वेदादि-वाङ्मय के भी ज्ञाता थे। शुक्लयजुर्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि ग्रन्थों से घनिष्ठ-सम्बन्ध-विषयक अनुश्रुतियों से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

---

१. तु० "उद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिने" (बृ० उ० ६।३।७)।
२. दे० बृ० उ० तृतीय अध्याय।
३. दे० बृ० उ० २।४–५। तथा ४।५।
४. दे० "अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः···इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि।" (बृ० उ० ४।५।११)।
५. दे० "न वा अरे देवानां कामाय देवाः···वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय···प्रिया भवन्ति।" (बृ० उ० ४।५।६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नारद आदि अन्य विशिष्ट व्यक्तिगण

ऊपर के कुछ उदाहरणों से औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि पर काफी प्रकाश पड़ता है। अपने समय के विद्वानों और विद्या-संस्थाओं की बौद्धिक क्रान्ति ने ही उसे जन्म दिया था, यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहाँ हम उस बौद्धिक क्रान्ति की केवल पृष्ठभूमि को ही दिखाना चाहते हैं।

निश्चय ही याज्ञवल्क्य आदि का उस समय की अध्ययनाध्यापन-परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उन्हें हम उस समय की महान् विद्या-संस्थाओं का प्रतिनिधि मान सकते हैं।

इसी सम्बन्ध में एक-दो और उदाहरणों को भी देखिये।

नारद सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित होकर आत्मज्ञान के उपदेश के लिए प्रार्थना करते हैं। सनत्कुमार पूछते हैं कि अब तक तुमने क्या पढ़ा है। नारद उस समय के समस्त पाठ्य विषयों[1] को गिनाकर कहते हैं :

"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्।
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति।
सोऽहं भगवः शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति।"
(छा० उ० ७।१।३)

अर्थात्, हे भगवन्! वेदादि समस्त वाङ्मय को पढ़कर भी मैं केवल उसके शब्दार्थ-मात्र को जानता हूँ, पर आत्मा को नहीं जानता। मैंने आप ही जैसे विद्वानों से सुना है कि आत्म-ज्ञानी ही शोक को तर सकता है। मैं शोक से ग्रस्त हूँ। सो आप आत्म-ज्ञान के उपदेश द्वारा मुझे शोक के पार पहुँचाने की कृपा करें।

इसी प्रकार एक समय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ आदि अनेक जिज्ञासु एकत्र होकर गम्भीर विचार करते हैं[2] कि "को न आत्मा किं ब्रह्मेति" अर्थात् यह हमारा आत्मा क्या पदार्थ है और ब्रह्म क्या पदार्थ है? उनके विषय में भी स्पष्टतया कहा गया है कि

"तै हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः।"
(छा० उ० ५।११।१)

अर्थात्, प्राचीनशाल आदि जो उक्त सम्मेलन में विचारार्थ सम्मिलित हुए थे, वे सब महागृहस्थ और वेदों के विद्वान् थे।

---

१. दे० "स होवाच। ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं···इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं···निधिं···नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्···(छा० उ० ७।१।२)।

२. दे० "प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति।" (छा० उ० ५।११।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ 'महाशाला:'[1] (महागृहस्थ) इस विशेषण का भी बड़ा महत्त्व है। आगे चलकर हम दिखलायेंगे कि संन्यास और औपनिषद धारा के उत्तरकालीन गठबन्धन का आधार प्राचीन उपनिषदों में मौलिक रूप से नहीं है।

उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाएँ

ऊपर उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाओं का हमने उल्लेख किया है। इसलिए यहाँ उनके सामान्य स्वरूप पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है।

सामान्य रूप से उन संस्थाओं को हम आचार्यकुल, परिषदें और राजसभाएँ—इन तीन प्रकारों में बाँट सकते हैं। क्रमशः इन तीनों का सामान्य विचार हम नीचे करेंगे :

आचार्यकुल (या गुरुकुल)

'गुरुकुल' के स्थान में 'आचार्यकुल' शब्द का प्रयोग ही प्राचीन उपनिषदों में आता है। 'आचार्यकुलवासी' (छा० उ० २।२३।१), 'अन्तेवासी' (तै० उ० १।३।१) जैसे शब्दों के साथ-साथ 'ब्रह्मचर्यं वस' (छा० उ० ६।१।१) (अर्थात् गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्या-ग्रहण करो) जैसे प्रयोग उपनिषदों में प्रायः आते हैं।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११।१) का समावर्तन-संस्कार के समय आचार्य द्वारा अन्तेवासियों को दिया जाने वाला ('वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' इत्यादि) अनुशासन सुप्रसिद्ध है। आचार्यकुलों के अनुशासन और गुरुशिष्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए हम भी आगे चलकर उस पर विस्तार से विचार करेंगे।

ऊपर दिखलाये हुए शब्द-प्रयोगों से स्पष्ट है कि आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याग्रहण की प्रणाली ही उन दिनों देश में प्रचलित थी। स्पष्ट है कि एक प्रकार से उनका जाल देश में फैला हुआ था।

प्रकृत उपनिषदों के आधार पर आचार्यकुलों के संगठन और विशेष स्वरूप के विषय में कुछ कहना कठिन है, तो भी आगे दिखाये गये पाठ्य-विषयों के विस्तार को देखते हुए इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ प्रमुख आचार्य के सहकारी विभिन्न विषयों के अनेक विशेषज्ञ अध्यापक अवश्य रहते होंगे; यह हो सकता है कि वे सब प्रमुख आचार्य की दृष्टि से अन्तेवासी-कोटि के ही हों।

---

१. तु० "महाशाला महागृहस्थाः" (शांकरभाष्य)।

२. तु० "द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी" (छा० उ० २।२३।१)। "प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद" (छा० उ०, ४।९।१)। "ब्रह्मचर्यं··· विवत्स्यामि" (छा० उ० ४।४।१) "श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् (छा० उ० ६।१।१)। "सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार" (छा० उ० ४।१०।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में आजीवन आचार्यकुल में रहकर विद्या-सेवन में रहनेवालों का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है।[१] ऐसे ही व्रतचारी प्रायेण वहाँ विभिन्न विषयों का अध्यापन करते होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।

पर सामान्य रूप से वहाँ बारह वर्ष का अध्ययन-काल होता था और इस काल में ब्रह्मचारी कम से कम प्रायेण सब वेदों का अध्ययन कर लेता था।[२]

वहाँ के श्रम, तपस्या और व्रत के जीवन का विस्तृत विचार हम आगे चलकर करेंगे।

परिषदें अथवा समितियाँ

प्रकृत उपनिषदों में से केवल बृहदारण्यकोपनिषद् में ही एक बार 'परिषद्' शब्द का प्रयोग इस प्रकार आया है :

"श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम" (बृ० उ० ६।२।१)। अर्थात् एक बार अरुण का पौत्र, श्वेतकेतु पाञ्चालों की परिषद् में आया।

छान्दोग्योपनिषद् में भी यह प्रसंग आया है और वहाँ 'परिषद्' के स्थान में 'समिति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[३]

स्पष्ट ही दोनों शब्द यहाँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

पाञ्चालों की परिषद् में श्वेतकेतु पहुँचता है। वहाँ जीवल के पुत्र प्रवाहण नाम के नरपति (जो स्पष्टतः उस परिषद् के अध्यक्ष या सभापति हैं) उससे कुछ रहस्यात्मक प्रश्न पूछते हैं। वह उत्तर देने में असमर्थ होकर अपने पिता उद्दालक के पास लौटकर उनसे उन्हीं प्रश्नों का समाधान चाहता है। वे भी उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर उसी राजा की सेवा में उपस्थित होकर उसके अन्तेवासी बनते हैं और राजा उनको सविधि उपदेश देता हुआ कहता है कि इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को विदित नहीं थी, अब मैं क्षत्रिय तुमको इसका उपदेश देता हूँ।[४]

उक्त विवरण से इस प्रसंग में कम-से-कम यह स्पष्ट है कि उक्त परिषद् कोई राजनीतिक संस्था न होकर एक ऐसी विद्या-सम्बन्धी उत्कृष्ट संस्था थी जिसमें दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् आकर अपने संशयों का निवारण करते थे और विशेषज्ञता प्राप्त करते थे।

---

१. तु० "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयत्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति।" (छा० २-२३।१)।

२. तु० "स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य...एयाय" (छा० उ० ६।१।२)। "...कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन परिचचार" (छा० उ० ४।१०।१)।

३. दे० "श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय।" (छा० उ० ५।३।१)।

४. दे० "यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास, तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि" (बृ० उ० ६।२।८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्त पञ्चाल देश की यह संस्था अवश्य ही, यदि उस समय का विश्व-विद्यालय नहीं, तो कम-से-कम, स्नातकोत्तर अध्ययन की एक महान् संस्था अवश्य रही होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी ही परिषदें या समितियाँ उस काल में देश के विभिन्न प्रदेशों या जनपदों में रही होंगी।

वैदिक चरणों (शाखाध्यायियों) की भी विश्वविद्यालय-स्थानीय ऐसी परिषदें होती थीं, जिनको 'पर्षद्' कहा जाता था।[1]

औपनिषद धारा की दृष्टि से परिषदों[2] का विशेष महत्त्व था, यह श्वेतकेतु के ऊपर के आख्यान से स्पष्ट है।

राजाओं द्वारा आमन्त्रित विद्वत्सम्मेलन

ऊपर जिन परिषदों का हमने उल्लेख किया है वे स्पष्टतः स्थायी विद्या-संस्थाएँ थीं। उनके अतिरिक्त, एक प्रकार की ऐसी अस्थायी (यदा-कदा होनेवाली) संस्था भी थी जिसके द्वारा उस काल के विद्या-सम्बन्धी महान् प्रश्नों के समाधान में महत्त्व का कार्य होता था। इसको राजाओं द्वारा आमंत्रित विद्वत्सम्मेलन कहा जा सकता है।

इसी तरह के एक महासम्मेलन का उल्लेख हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रकार मिलता है:

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः। तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति।"

(बृ० उ०, ३।१।१)

अर्थात्, विदेह के राजा जनक ने एक बार बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पञ्चाल देशों के विद्वान् एक सम्मेलन में एकत्रित हुए। तब जनक के मन में जिज्ञासा हुई कि इन विद्वानों में सबसे उत्कृष्ट विद्वान् कौन है।

इस महासम्मेलन में समस्त देश के, विशेषतः कुरु और पञ्चाल जनपदों के चोटी के विद्वान् एकत्रित हुए थे। उनमें से अनेक का, जैसे उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य और गार्गी वाचक्नवी आदि का, उल्लेख इस प्रकरण में किया गया है। साथ ही विस्तारपूर्वक उन महान् प्रश्नों का भी उल्लेख है, जिन पर गंभीर विचार सम्मेलन में हुआ था।

औपनिषद धारा के इतिहास में निश्चय ही इस सम्मेलन का विशेष महत्त्व था। याज्ञवल्क्य की महत्ता का प्रारम्भ इसी सम्मेलन से हुआ था।

---

१. तु० "पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि" (निरुक्त १।१७)।

२. पाणिनि ने 'परिषद्' शब्द से 'पारिषदम्' (अष्टाध्यायी ४।३।१२३), 'पारिषद्यः' (अष्टाध्यायी ४।४।४४) तथा 'परिषद्वलो' राजा (अष्टाध्यायी ५।२।११२) ये तीन विशेषण तीन सूत्रों द्वारा तद्धित में बनाये हैं। इससे उस समय में परिषदों का विशिष्ट संस्था होना स्पष्ट है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार के एक और सम्मेलन का संकेत हमें छान्दोग्योपनिषद् में केकय देश के राजा अश्वपति के प्रसंग में मिलता है।[१]

स्पष्ट ही औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि के विचार में इन सम्मेलनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में इनका महत्त्व सर्वाधिक था, क्योंकि इनमें विचार समस्त देश के स्तर पर हो सकता था।

ऐसे सम्मेलनों को उपनिषदों की भाषा में ही 'ब्रह्मोद्य'[२] (ब्रह्म-विषयक संवाद) भी कहते थे।

उपनिषत्कालीन पाठ्य-विषय

ऊपर उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाओं का सामान्य परिचय दिया गया है। तदनन्तर स्वभावतः तत्कालीन पाठ्य-विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। सौभाग्य-वश उपनिषदों में ही इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ सामग्री हमें उपलब्ध है। संक्षेप में उसी को हम यहाँ दिखाना चाहते हैं।

गुरुकुल में जाकर श्वेतकेतु ने बारह वर्षों में सब वेदों का अध्ययन समाप्त कर दिया था, इसका वर्णन ऊपर आ चुका है।

मुण्डकोपनिषद् में विद्या के परा और अपरा ये दो भेद करके अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के साथ-साथ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, और ज्योतिष इन छह वेदाङ्गों को भी दिखाया है। परा विद्या के विषय में केवल इतना ही कहा है:

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"

(मु० उ० १।१।५)

अर्थात्, परा विद्या वह है जिससे उस अविनाशी परम तत्त्व का ज्ञान होता है[३]।

उस समय के पाठ्य विषयों का सबसे अधिक विस्तृत उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (७।१।५) में नारद और सनत्कुमार के उपाख्यान में आता है, जिसका संकेतमात्र हम ऊपर कर चुके हैं। वहाँ तत्त्वज्ञानोपदेश के लिए नारद भगवान् सनत्कुमार के पास आते हैं। सनत्कुमार के यह पूछने पर कि तुमने क्या-क्या पढ़ा है, नारद बतलाते हैं कि उनके पठित विषय ये हैं[४]:

---

१. दे० "...ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः।...तान् होवाचाश्वपतिर्वै... कैकेयः... । स ह...उवाच...यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि। यावदेकैकस्मै ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति।" (छा०उ० ५।११।१-७)।

२. तु० "न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति" (बृह० उ० ३।८।१, १२)।

३. दे० "तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" (मु० उ० १।१।४-५)।

४. दे० छा० उ० ७।१।१-२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (अर्थात् व्याकरण), पित्र्य (अर्थात् श्राद्धकल्प), राशि (गणित), दैव (उत्पातज्ञान), निधि (निधिशास्त्र अथवा खनिज-विद्या), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या (निरुक्तशास्त्र अथवा देवता-विज्ञान), ब्रह्म-विद्या (वेद-संबन्धी शिक्षा, छन्द आदि की विद्या), भूत-विद्या (भूत प्रेतादि-विज्ञान), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या (सिद्धान्तज्योतिष अथवा खगोल-विद्या) और सर्पदेवजन-विद्या (सर्प-विष-चिकित्सा आदि तथा नृत्य-गीत-वाद्य शिल्पादि की विद्या)।

इन सब विद्याओं का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उनके नामों की चिर-चिर-काल से परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है। उनके कोष्ठकों में जो अर्थ दिया गया है वह प्रायेण शांकरभाष्य के अनुसार है।

जो कुछ हो, यह तो स्पष्ट है कि उस समय के पाठ्य-विषय काफी विस्तृत थे।

इसके अतिरिक्त, बृहदारण्यकोपनिषद्[१] में कई बार इन विषयों का उल्लेख आता है—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्याएँ (विभिन्न विज्ञान), उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान।

मुण्डकोपनिषद् के ऊपर दिखाये हुए शब्दों के अनुसार ये सब पाठ्य विषय 'अपरा विद्या' की कोटि में आ जाते हैं। 'परा विद्या' अर्थात् ब्रह्मविद्या का क्षेत्र इससे बाहर था। उस क्षेत्र में उपनिषदों में ही जो विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है उसकी दृष्टि से उन प्रतिपादनों के लिए भी 'भार्गवी वारुणी विद्या', 'शाण्डिल्य-विद्या' इत्यादि नाम दिये जाते हैं।[२]

औपनिषद धारा का क्षेत्र-विस्तार

उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाओं आदि के वर्णन के प्रसंग में औपनिषद धारा के क्षेत्रीय विस्तार का कुछ परिचय देना उपयोगी प्रतीत होता है। सौभाग्यवश प्रधान उपनिषदों से हमें कुछ सहायता इस विषय में मिल जाती है।

उपनिषदों में हमें पश्चिम में केकय और मद्र देशों से लेकर कुरु-पञ्चाल देश और विदेह का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है।

प्राचीनशाल औपमन्यव आदि अनेक महाश्रोत्रिय उद्दालक आरुणि को साथ लेकर वैश्वानर-विद्या की शिक्षा के लिए केकय के अधिपति अश्वपति के पास जाते और उसका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं।[३]

---

१. दे० बृ० उ० २।४।१०; ४।१।२; ४।५।११।

२. दे० "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या" (तै० उ० ३।६)। इसी प्रकार 'शाण्डिलविद्या' के लिए देखिए छा० उ० ३।१४।

३. दे० छा० उ० ५।११।१–७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्दालक आरुणि मद्र देश में जाकर पतञ्चल काप्य के पास रहकर यज्ञ-विद्या का अध्ययन करते हैं।[१]

श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय परिषद् में उपस्थित होता है और तदनन्तर उसका पिता उद्दालक आरुणि वहाँ जाकर उसके अध्यक्ष नरपति जैवलि प्रवाहण का शिष्य बनकर पञ्चाग्नि-विद्या को ग्रहण करता है।[२]

विदेह के राजा जनक द्वारा आमन्त्रित एक बड़े विद्वत्-सम्मेलन में कुरु-पञ्चाल देश के विद्वान् ब्राह्मण विशेषरूप से बुलाये गये थे।[३]

स्पष्टतः औपनिषद धारा की दृष्टि से कुरुपञ्चाल देश की प्रमुखता थी। साथ ही जनक और याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में विदेह इस विषय में आगे बढ़ना चाहता था और उसे सफलता भी मिली। सबसे बड़ी उपनिषद् बृहदारण्यक पर विदेह की छाप स्पष्ट है।

उक्त सम्मेलन में भाग लेनेवाली महाविदुषी गार्गी वाचक्नवी का सम्बन्ध भी काशी या विदेह से प्रतीत होता है।[४]

इसके अतिरिक्त गौण रूप से गन्धार, काशी कोसल और विदर्भ का उल्लेख भी आता है।[५]

स्पष्ट है, उस समय पश्चिम में मद्र तथा गन्धार से लेकर विदेह तक समस्त उत्तर भारत में और विदर्भ तक दक्षिण में भी औपनिषद धारा का क्षेत्र था, और इस क्षेत्र में पश्चिम की ओर से पूर्व प्रदेशों की ओर उसके प्रभाव की वृद्धि हो रही थी।

२. आचार्य का स्वरूप

ऊपर उपनिषत्कालीन विद्या-संस्थाओं को दिखाते हुए हमने आचार्य-कुलों का उल्लेख किया है।

'आचार्य-कुल' शब्द से ही स्पष्ट है कि किसी भी आचार्य-कुल का अस्तित्व और स्वरूप दोनों आचार्य के व्यक्तित्व पर निर्भर होते थे। इसीलिए उपनिषदों में

"आचार्यवान् पुरुषो वेद"

(छा० उ० ६।१४।२)

अर्थात्, अच्छे आचार्य के संपर्क में ही मनुष्य सच्चे अर्थों में ज्ञान प्राप्त कर सकता है;

---

१. दे० बृ० उ० ३।७।१।
२. दे० बृ० उ० ६।२। तथा छा० उ० ५।३।
३. दे० बृ० उ० ३।१।१।
४. दे० बृ० उ० ३।८।२।
५. तु० "कौसल्यश्चाश्वलायनः" (प्रश्नोपनिषद् १।१)। "भार्गवो वैदर्भिः" (प्रश्नोप० १।१)। "अजातशत्रुं काश्यम्" (बृ० उ० २।१।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"आचार्यदेवो भव"

(तै० उ० १।११।२

अर्थात्, हे शिष्य ! तुम अपने आचार्य में देवता के समान पूज्य बुद्धि रखो।

ऐसे शब्दों में आचार्य के महत्त्व को दिखलाया गया है। इसलिए यहाँ स…
पहले हम एक आदर्श आचार्य के स्वरूप पर ही प्रकाश डालना चाहते हैं।

आचार्य का स्वरूप

निरुक्त में 'आचार्य' शब्द के कई प्रकार के निर्वचन दिये हैं। उनमें से ए…
निर्वचन है :

"आचार्यः कस्मात्। आचार्य आचारं ग्राहयति।"

(नि० १।४ …

अर्थात्, आचार्य को 'आचार्य' इसलिए कहते हैं कि वह अपने छात्रों को आच… या चारित्र्य की शिक्षा देता है।

मनुस्मृति में 'आचार्य' शब्द का पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार दिया है :

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनु० २।१४०

अर्थात्, जो विद्वान् उपनयन-संस्कार द्वारा शिष्य को उसके माता-पिता के प… से अपने स्थान पर ले जाकर कर्म-काण्ड और उपनिषद्-ज्ञान के सहित वेद पढ़ा… है उसको 'आचार्य' कहते हैं।

'उपनयन' शब्द का मौलिक अर्थ यही है कि शिष्य को उसके माता-पिता… घर से गुरु द्वारा अपने कुल में ले जाना। इसीलिए शिष्य के लिए उपनिषत्कालीन … 'अन्तेवासी' (पास में रहनेवाला) था।

इस प्रकार उस समय के 'आचार्यकुलों' को हम संसार की प्रायेण सबसे प्रा… Residential Universities (अन्तेवासि-विश्वविद्यालय) कह सकते हैं। …

स्पष्ट है कि सामान्यतः आचार्य वेदादि का परिनिष्ठित विद्वान् होता था। … दिखलाये गये श्वेतकेतु आदि के आख्यानों से भी इस बात की पुष्टि होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षा-वल्ली

तैत्तिरीय-उपनिषद् के प्रथम अध्याय को शिक्षा-वल्ली कहा जाता है। सौभा… वश आचार्य का स्वरूप, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जैसे शिक्षा-सम्बन्धी विषयों प… जानकारी हमें इस उपनिषद् से प्राप्त होती है वह समस्त उपनिषत्साहित्य में अ… है। मुख्यतः उसीके आधार पर आचार्य के स्वरूप का दिग्दर्शन हम यहाँ … चाहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त शिक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक (खण्ड) में शान्ति और कल्याण की प्रार्थना के अनन्तर शिष्य की ओर से यह उदात्त प्रार्थना की जाती है :

नमो ब्रह्मणे ! नमस्ते वायो !
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।
ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु । तद् वक्तारमवतु ।
अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥
(तै० उ० १।१।१)

अर्थात्,

ब्रह्म के लिए नमस्कार है। हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है।
तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।
मैं तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा।
मैं यथार्थ-भाषण करूँगा।
मैं सत्य-भाषण करूँगा।
वह सत्य और ऋत मेरी और मेरे आचार्य की रक्षा करे !
हाँ, मेरी और आचार्य की रक्षा करे !

शारीरिक और बौद्धिक जीवन तथा स्वास्थ्य दोनों के लिए प्राणप्रद वायु की अनिवार्य आवश्यकता स्पष्ट है। अतः हमारे लिए वही प्रत्यक्ष ब्रह्म है।[१] उसीके सांमुख्य में शिष्य सत्य और ऋत के भाषण की प्रतिज्ञा करता हुआ यह भी समझता है कि गुरु-शिष्य दोनों का वास्तविक कल्याण सत्य-भाषण और सत्याचरण में ही निहित है।

तृतीय अनुवाक के प्रारम्भ में ही आचार्य की ओर से कहा जाता है :

"सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।"
(तै० उ० १।१।३)

अर्थात्, हम दोनों (शिष्य और आचार्य) को साथ-साथ यश की प्राप्ति हो ! हम दोनों को साथ-साथ ज्ञान का तेज (दीप्ति) प्राप्त हो !

आचार्य की प्रार्थना

इसके अनन्तर चतुर्थ अनुवाक का विशेष महत्त्व है; क्योंकि उसमें जप और होम के लिए दी हुई आचार्य की प्रार्थना में आचार्य के स्वरूप और हृदय को एक प्रकार से खोलकर हमारे सामने रख दिया गया है। वह प्रार्थना इस प्रकार है :

१—यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः ।
छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव ।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु ॥

१. तु० "अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ (प्रश्नोप० २।६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ।
शरीरं मे विचर्षणम् ।
जिह्वा मे मधुमत्तमा ।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् ।
ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः ।
श्रुतं मे गोपाय ॥.........

२— आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।
वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।
प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।
दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।
शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥......
यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् ।
एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा ॥[1]

(तै० उ० १।१।४

अर्थात्,

१—वेदों में जिसको सर्वोत्कृष्ट कहा गया है, जिसकी विभूति का सर्वत्र दर्श[न] हो रहा है, वेद-रूपी अमृत से जो उत्पन्न होता है अर्थात् जिसका बोध होता है, व[ह] इन्द्र (=समस्त शक्तियों का स्रोत परमात्मा) मुझे स्वच्छ बुद्धि से संयुक्त करे !

हे देव ! मैं अमृतत्व का धारण करनेवाला बनूँ !
मेरा शरीर स्वस्थ और सबल हो !
मेरी जिह्वा अत्यन्त माधुर्य से युक्त हो !
मैं श्रवणों द्वारा विशाल ज्ञान का संग्रह करूँ !
आप ज्ञान के कोश हैं जो बुद्धि से आच्छादित है; मेरे अध्ययन की आप र[क्षा] और पुष्टि करें !...

२—विद्याध्ययन के लिए—
सब ओर से ब्रह्मचारी मेरे पास आएँ !
विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ ब्रह्मचारी मेरे पास आएँ !
उत्कृष्ट बुद्धि से युक्त ब्रह्मचारी मेरे पास आएँ !
मेरे ब्रह्मचारी संयम-शीलवाले बनें !
मेरे ब्रह्मचारी शान्त-स्वभाववाले बनें !
... ...
जैसे जल नीचे की ओर वेग से दौड़ता है,
जैसे मास वर्ष में एकान्त-भाव से लीन हो जाते हैं,

१. "यश्छन्दसामिति मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते ।... स्वाहा[न्ताः] होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः ।" (तै० उ० शांकर-भाष्य) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार हे विश्व-संचालक परमात्मन् !
सब ओर से ब्रह्मचारि-गण मेरे पास आएँ ?

इस प्रार्थना के दो अंश हैं। पहले अंश का जप किया जाता है, और दूसरे अंश के स्वाहान्त मन्त्रों से होम किया जाता है; उनके साथ दिये हुए 'स्वाहा' शब्द का यही अभिप्राय है।

पहले अंश में आचार्य मुख्यतः अपने लिए स्वच्छ बुद्धि, स्वस्थ शरीर, भूरि-भूरि ज्ञान की प्राप्ति और उसकी रक्षा तथा पुष्टि की प्रार्थना करता है। अपने आचार्यत्व के पूर्ण निर्वाह के लिए इससे उत्कृष्टतर प्रार्थना और क्या हो सकती है ?

दूसरे अंश में आचार्य का हृदय दान्त, शान्त, योग्य और भविष्णु ब्रह्मचारियों के लिए अत्यन्त उत्सुक और आतुर है। वह चाहता है कि वे निर्बाध रूप से देश के कोने-कोने से उसके पास आयें और एकात्म-भाव से उसके अन्तेवासी बनकर विद्योपार्जन करें।

जप और होम में विनियुक्त इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यह कोई दिखावटी प्रार्थना न होकर आचार्य के अन्तस्तम हृदय की आकांक्षा और लगन है।

शिष्यों के प्रति सस्नेह सम्मान

ऊपर आचार्य की जो प्रार्थना दी गयी है वह केवल प्रार्थना ही नहीं है, उसको आचार्य वस्तुतः अपने व्यवहार में भी उतारता था।

"सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्"

अर्थात् हम दोनों साथ-साथ मिलकर यश और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें! शिष्य और आचार्य के इस समान आदर्श की प्राप्ति के लिए उनके हार्दिक सहयोग की आवश्यकता थी। यह तभी संभव हो सकता था जब कि आचार्य के प्रति शिष्य के आकर्षण का आधार शिष्य के प्रति आचार्य की अकृत्रिम स्नेह के साथ-साथ स्नेह-सिक्त सम्मान की भावना भी हो।

वास्तव में यह बात उपनिषदों में सर्वत्र देखने में आती है। उदाहरणार्थ, देखिए :

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक शिष्यरूप से पाञ्चाल परिषद् के अध्यक्ष प्रवाहण जैवलि के पास पहुँचते हैं। प्रवाहण जैवलि स्वयं आसन, उदक और अर्घ्य आदि देकर उनका सस्नेह सम्मान करते हैं और तदनन्तर उनको अपना अन्तेवासी बनाकर उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं।[१]

---

१. दे० "स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार" (छा० उ० ५।३।६)। "स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास। तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार।" (बृ० उ० ६।२।४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार एक बार प्राचीनशाल आदि सुप्रसिद्ध विद्वानों के साथ उद्दाल केकय देश के नरपति अश्वपति के पास वैश्वानर-विद्या के अध्ययन के लिए शिष्य रूप में उपस्थित होते हैं। केकय-नरेश उन सबका सम्मान पृथक्-पृथक् स्नेह-पुरस्स करते हैं और उनको उपदेश देते हैं।[१]

नचिकेतस् के पिता उनको आचार्य यमराज के पास भेजते हैं। यमराज घ पर नहीं हैं। तीन दिन तक नचिकेतस् उनके घर पर उनकी प्रतीक्षा करते हैं। यमरा लौटकर उनका मान्य अतिथि के रूप में हार्दिक स्वागत करके उनको तीन वर देते और अध्यात्मविद्या का उपदेश करते हैं।[२]

उपनिषदों में आचार्य अपने शिष्य को प्रायः सदैव 'सोम्य' (अर्थात् सौम्य = चन्द्रमा के सदृश प्यारा और सौम्य गुणों से युक्त) इस स्नेह-भरे पद से सम्बोधि करता है।[३]

निश्चय ही शिष्य की यह भावना कि आचार्य उससे सच्चा स्नेह ही नहीं, कि उसके व्यक्तित्व का सम्मान भी करता है उसके चारित्र्य और अनुशासन पर आश्चर्य प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती।

आचार्य की नम्रता और सत्यवादिता

उपनिषदों के आदर्श आचार्य में जहाँ एक ओर नम्रता और निरभिमानि विद्यमान है, वहाँ दूसरी ओर अनोखी सत्यवादिता भी पायी जाती है।

मानव-हृदय की तन्त्रियों की एकतानता[४] (harmony) के लिए हृदय सरलता और अकृत्रिमता की मौलिक आवश्यकता होती है। इसमें मौखिक शब व्यापार की या दिखावे की अपेक्षा नहीं होती। अनिर्वचनीय ढंग से ही हृदय हृदय बात करता है। माता के स्नेह-विह्वल हृदय को अबोध शिशु भी खूब समझ लेता है

उपनिषदों में आचार्य के इन दिव्य गुणों की झलक यत्र-तत्र स्पष्ट दिख देती है; जैसे :

प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा भारद्वाज पिप्पलाद ऋषि से कह रहे हैं कि एक हिरण्यनाभ कौसल्य राजपुत्र ने मेरे पास आकर यह जिज्ञासा की कि 'हे भारद्वा क्या आप सोलह कलाओं से युक्त पुरुष को जानते हैं ?' तब मैंने उनको यही उ दिया था :

१. दे० "तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार।" (छा० उ० ५।११।५)।

२. दे० कठोप० १।१।९—"तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्ते ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान्वृणीष्व ॥"

३. तु० "तं होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति···समिधं सोम्याहर···उवाचेमाः सोम्य सं (छा० उ० ४।४।४-५)। "तथाक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजाय (मु० उ० २।१।१)।

४. उपनयन-संस्कार में आचार्य शिष्य के प्रति कहता है—"मम व्रते ते हृदयं दधामि चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"नाहमिमं वेद । यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्" ।

(प्रश्नोप० ६।१)

अर्थात्, हे हिरण्यनाभ ! मैं तुम्हारे प्रश्न को नहीं जानता हूँ। यदि मैं जानता होता, तब भला तुम्हें क्यों नहीं बताता । जो असत्य बोलता है वह समूल सूख जाता है। इसलिए मैं झूठी बात तुमसे नहीं कह सकता ।

मद्र देश में पतञ्चल काप्य प्रसिद्ध आचार्य थे। उनसे कवन्ध आथर्वण कई प्रश्न पूछते हैं। पतञ्चल उनका प्रत्येक बार यही उत्तर नम्रतापूर्वक देते हैं:

"नाहं तद् भगवन् वेदेति" (बृह० उ० ३।७।१) ।

अर्थात्, हे भगवन् ! मैं इस बात को नहीं जानता हूँ ।

प्राचीनशाल औपमन्यव आदि अनेक महाश्रोत्रिय विद्वान् वैश्वानर-विद्या की जिज्ञासा से एकत्र सम्मिलित होते हैं। वे उद्दालक आरुणि की ख्याति सुनकर उनके पास उपस्थित होकर जिज्ञासा करना चाहते हैं। उद्दालक उनके अभिप्राय को समझकर उन पर प्रकट करते हैं कि वे स्वयं भी उस विषय को नहीं जानते, अतः हम सब मिलकर केकय-नरेश अश्वपति के पास चलेंगे, जो इस विषय के विद्वान् हैं ।[1]

इस निरभिमानिता और सत्यवादिता के पीछे आचार्य के चारित्र्य का महान् उत्कर्ष छिपा रहता था, इसमें सन्देह नहीं हो सकता ।

सत्यान्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति

सत्यान्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति से उपनिषद् ओत-प्रोत हैं ।

सत्य को उपनिषद्-विद्या का आयतन (रहने का स्थान) माना गया है ।[2] "सत्यमेव जयते नानृतम्" (मु० उ० ३।१।६), अर्थात्, सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं, यही उपनिषदों का मूल-मन्त्र है ।

ज्ञान, विज्ञान या तत्त्वज्ञान किसी भी प्रकार के ज्ञान के विकास के लिए सत्य के प्रति गहरी आस्था और जिज्ञासा की प्रवृत्ति की मौलिक आवश्यकता होती है। उपनिषदों के आचार्यों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ सर्वत्र देखने में आती हैं ।

समस्त वेदों का और अन्य विद्याओं का अध्ययन कर लेने के पश्चात् भी नारद, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, तात्त्विक ज्ञान के लिए आचार्य सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित होते हैं और विधिवत् उनके अन्तेवासी बनकर विद्या-ग्रहण करते हैं ।[3]

---

१. दे० छा० उ० ५।११।१-४ ।
२. तु० "तस्यै (उपनिषदे) तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गानि, सत्यमायतनम् ।" (केनोप० ४।८)
३. दे० छा० उ० ७।१।१-५ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्दालक जैसा प्रसिद्ध विद्वान् जिज्ञासा की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही कहीं केकय देश की यात्रा करके वहाँ के नरेश अश्वपति से ज्ञान प्राप्त करता है, कहीं मद्रदेश पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् पतञ्चल काप्य से तत्त्व-ज्ञान का उपदेश लेता है।[१]

सत्य की शोध में वे निःसंकोच भाव से क्षत्रिय राजाओं का शिष्यत्व स्वीकार करते हैं और उनसे तत्त्व-ज्ञान का उपदेश लेते हैं।[२]

उपनिषदों में यत्र-तत्र 'मीमांसांचक्रुः'[३] (=उन्होंने जिज्ञासा की भावना से प्रेरित होकर विचार-विमर्श किया), 'ब्रह्म अन्वेषमाणाः'[४] (=ब्रह्म की खोज करते हुए) जैसे शब्दों का प्रयोग सत्यान्वेषण की व्यापक प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

स्वाध्याय तथा प्रवचन का मुख्य कर्तव्य

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में बड़े स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि जीवन के विभिन्न आदर्शों और कर्तव्यों का पालन करते हुए आचार्य को अपने मुख्य कर्तव्य स्वाध्याय (विद्या का स्वयं उपार्जन, ज्ञान की वृद्धि) और प्रवचन (योग्य शिष्यों का अध्यापन) का पालन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उक्त उपनिषद् के अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्द इस प्रकार हैं :

"ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥"

(तै० उ० १।९।१)

अर्थात्, आचार्य को चाहिए कि वह अपने व्यवहार में औचित्य तथा अनौचित्य का ध्यान रखते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, सत्य-भाषण करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, तप (कष्टसहिष्णुता) का पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, इन्द्रियों का संयम करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, मन को शान्त रखते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, अग्निहोत्रादि धार्मिक कृत्यों को करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, अतिथि-सत्कार करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, लोक-समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे, संतानोत्पति, सन्तान

१. दे० छा० उ० ५।११।१-७; बृ० उ० ३।७।१।
२. तु० छा० उ० ५।११।१-७; बृ० उ० ६।२।८।
३. तु० "ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः।" (छा० उ० ५।११।१)।
४. "तै हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः" (प्रश्नोप० १।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पालन आदि गृहस्थ-धर्म का निर्वाह करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे। रथीतर के पुत्र सत्यवचस् सत्य को ही परम कर्तव्य मानते हैं। सदा तपस्या में निरत पुरुशिष्ट के पुत्र तपस् को ही परम ध्येय कहते हैं। मुद्गल के पुत्र नाक का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन को ही मुख्य कर्तव्य समझना चाहिए; क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन का करना ही वास्तविक तप है।

इससे अधिक बलपूर्वक और स्पष्ट शब्दों में आचार्य के मुख्य कर्तव्य और लक्ष्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक दशा में आचार्य के जीवन का मुख्य ध्येय स्वाध्याय अर्थात् अपने ज्ञान का नित्य नूतन विकास और प्रवचन अर्थात् योग्य शिष्यों में उसका वितरण ही होना चाहिए। परन्तु इसके साथ उसके जीवन में सत्याचरण, सत्य-भाषण, कष्ट-सहिष्णुता, संयम और चित्त की शान्ति का होना आवश्यक है; नहीं तो वह अपने मुख्य ध्येय से ही च्युत हो जायगा। साथ ही उसे अपने धार्मिक, सामाजिक कृत्यों तथा गृहस्थ-धर्म से भी विमुख न होना चाहिए।

निश्चय ही इन सब दृष्टियों का समन्वय करना बड़ा कठिन है। परन्तु वास्तविक आचार्यत्व के लिए इसकी अपरिहार्य आवश्यकता है।

'अकामहत' श्रोत्रिय का महत्तम आदर्श

ऊपर बताया गया है कि आदर्श आचार्य के जीवन का प्रमुख लक्ष्य स्वाध्याय और प्रवचन ही होना चाहिए। यही उसका सर्वस्व होता है या होना चाहिए। यह बात नहीं कि जीवन में उसकी अन्य आस्थाएँ या कर्तव्य नहीं होते; होते हैं, पर उसका मुख्य ध्येय स्वाध्याय-प्रवचन ही होता है। दूसरे शब्दों में, वह इसी उद्देश्य से जीता है और मरता है।

उसके हृदय की निष्ठा में द्वैधीभाव नहीं होता है। दृढ़प्रतिज्ञ भीष्म पितामह के समान, या एक सच्चे प्रेमी के समान, वह सर्वात्मना अपने ध्येय की प्राप्ति में अचल रहता है, और इसीमें पूर्ण सन्तोष और कृतकृत्यता का अनुभव करता है।

जो ऐसा नहीं है, जिसमें ज्ञान की प्राप्ति और विकास में वह तन्मयता नहीं है, 'मैं विद्वान् भी कहलाऊँ, अन्य सांसारिक जीवन व्यतीत करनेवालों की तरह मैं धनियों में धनी और उनके समान भोग और ऐश्वर्य का उपभोग भी करूँ, लौकिक प्रतिष्ठा और नामवरी भी पाऊँ' इस प्रकार की कामनाओं से[1] जिनकी निष्ठाएँ विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त हैं उनको ही उपनिषदों की भाषा में 'कामहत'[2] कहा गया है। क्योंकि

१. तु० गीता "भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां' (२।४४), "कामात्मानः" (२।४३), "आशापाशशतैर्बद्धाः" (१६।१२)।

२. तु० भगवद्गीता 'कामोपभोगपरमाः' (१६।११), 'कामकामाः (९।२१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनमें आचार्यत्व की वह जीवनी-शक्ति क्षीण, हत, नष्ट या दग्ध हो जाती है जिसके द्वारा वे विद्या का, उसके समस्त सद्‌गुणों के साथ, दूसरों के हृदयों और मस्तिष्कों में संचार कर सकते हैं, ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित कर सकते हैं।[१]

उनकी स्थिति आग से झुलसे हुए उस बीज के समान हो जाती है, जिसका अन्तःसत्त्व नष्ट हो चुका है और जिससे नवीन अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसीलिए अकामहत श्रोत्रिय अर्थात् विद्वान् की अनन्त महिमा उपनिषदों में गायी गयी है; देखिए :

"ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥...ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥"[२]

(तै० उ० २।८)

अर्थात्, सौ मानुष आनन्दों के बराबर मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द होता है। वही आनन्द अकामहत विद्वान् को भी प्राप्त होता है।

मनुष्य-गन्धर्वों के सौ आनन्दों के बराबर देवगन्धर्वों का एक आनन्द होता है। वही आनन्द अकामहत विद्वान् को भी प्राप्त होता है।

देव-गन्धर्वों के सौ आनन्दों के बराबर चिरलोक-निवासी पितरों का एक आनन्द होता है। वही आनन्द अकामहत विद्वान् को स्वतः प्राप्त होता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के देवों, इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापति का उत्तरोत्तर उत्कृष्ट आनन्द अकामहत विद्वान् को भी प्राप्त होता है—यह बतलाकर, कहते हैं कि प्रजापति के सौ आनन्दों के बराबर ब्रह्मा का एक आनन्द होता है और वह भी अकामहत विद्वान् को स्वतः प्राप्त होता है।

स्पष्ट ही इस लम्बे प्रतिपादन का तात्पर्य यही है कि आदर्श विद्वान् और आचार्य को एकनिष्ठ होकर सच्चे अर्थों में स्वाध्याय और प्रवचन का अनुसरण करना चाहिए। वह उसीमें अपने जीवन की कृतकृत्यता तथा परम आनन्द को पा सकता है।

सचमुच एक आदर्श आचार्य के लिए 'अकामहत श्रोत्रिय' का आदर्श महत्तम आदर्श है।

निश्चय ही हमारी शिक्षा-संस्थाओं की वर्तमान संकटमयी परिस्थिति का बहुत कुछ समाधान इसी महान् आदर्श के अनुसरण में निहित है।

---

१. तु० "तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य...तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥" (मनु० २।१७०)
२. तु० बृ० उ० ४।३।३३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चौथा परिच्छेद

बौद्धिक पृष्ठभूमि [२]

३. आचार्य-कुल का आदर्श

आचार्य-कुलों के सम्बन्ध में आचार्य के स्वरूप को दिखाने के अनन्तर आचार्य-कुल के आदर्श और अनुशासन को हम दिखाना चाहते हैं।

इस प्रसंग में भी सबसे पहले गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को दिखाना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी विद्यालय या विश्वविद्यालय जैसी संस्था के आदर्श और अनुशासन का मौलिक आधार गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पर ही निर्भर रहता है।

यद्यपि पिछले परिच्छेद में दिखलाये गये आचार्य के स्वरूप से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता है, फिर भी इस आवश्यक विषय पर कुछ और विस्तार की आवश्यकता है।

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध

'आचार्य-कुल' शब्द में 'कुल' शब्द पूर्णतया सार्थक था, क्योंकि अपने मातृ-पितृ-कुल से आचार्य-कुल में जाकर शिष्य आचार्य में पितृ-बुद्धि और आचार्य-पत्नी में मातृ-बुद्धि रखते थे। वहाँ उन्हें घरेलू वातावरण मिलता था।

निरुक्त (२।४) में बड़े सुन्दर शब्दों में गुरु-शिष्य के स्नेहमय सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए कहा है :

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥[1]

अर्थात्, शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य को पितृ-तुल्य और मातृतुल्य माने और किसी भी अवस्था में उसके प्रति द्रोह न करे।

मनुस्मृति में इसी बात को और भी अधिक आकर्षक ढंग से कहा गया है :

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
... ... ॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

(मनु० २।१६९–१७०)

---

[1] तु० महाभारत, उद्योगपर्व ४४।६–२०। तथा मनु० २।११४, ११५, १४४, १६९–१७०। तथा चरकसंहिता ३।८।५—"तम् (आचार्यम्) उपसृत्य··· उपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तः।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् , द्विज बालक के दो जन्म होते हैं। इसीसे उसे द्विज कहा जाता है। पहला जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन-संस्कार के समय होता है। द्वितीय जन्म ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है और इस द्वितीय जन्म में उसकी माता गायत्री (मन्त्र) होती है और पिता आचार्य होता है।

उपनिषदों में भी यह भावना यत्र-तत्र स्पष्ट देखने में आती है। उदाहरणार्थ, प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा भारद्वाज आदि छह जिज्ञासु अपने प्रश्नों का समाधान हो जाने पर आचार्य पिप्पलाद से कृतज्ञता-प्रदर्शन करते हुए कहते हैं :

"ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।"

(प्रश्नोप० ६।८

अर्थात्, अपने आचार्य का अर्चन करते हुए उन्होंने कहा कि आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आप हमें अविद्या के परले पार ले जाते हैं।

छान्दोग्य-उपनिषद् में आचार्य सत्यकाम जाबाल के अन्तेवासी उपकोसल कामलायन का उपाख्यान दिया हुआ है। बारह वर्ष तक अनुशासनपूर्वक वे आचार्य कुल में रहते हैं। पर आचार्य उनका समावर्तन (घर लौटने का) संस्कार नहीं कराते हैं। उस समय आचार्य-पत्नी अन्तेवासी की ओर से आचार्य से कहती है :

"तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीत्। मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्। प्रब्रूह्यस्मा इति।"

(छा० उ० ४।१०।२

अर्थात्, आचार्य की पत्नी उनसे कहती है कि इस ब्रह्मचारी ने सनियम बारह वर्ष तक तप का जीवन व्यतीत किया है। कुल के अनुशासन के अनुसार यज्ञिय अग्नियों की कुशलता के साथ परिचर्या भी की है। वे अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें, इसलिए अब आप आवश्यक उपदेश देकर इसका समावर्तन कर दीजिए।

आगे ब्रह्मचारी अनशन करना चाहता है। आचार्य-पत्नी पुनः उसके प्रति चिन्तित होकर मातृ-प्रेम के साथ अनशन का कारण पूछती है और अनशन तोड़ने का अनुरोध करती है :

"तमाचार्यजायोवाच। ब्रह्मचारिन्नशान। किन्नु नाश्नासीति।"

(छा० उ० ४।१०।३

अन्तेवासियों को आचार्यकुल में पूर्णतया घर का स्नेहमय वातावरण मिलता था, इसके लिए ये उदाहरण पर्याप्त हैं।

अन्तेवासियों के प्रति आचार्य के स्नेह-पूर्ण सम्मान की बात हम ऊपर दिखा चुके हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों की दृष्टि में आचार्य के लिए उसका अपना पुत्र और अन्तेवासी एक ही कोटि में होते थे।[१]

शिष्य और आचार्य के परस्पर सह-भाव और एकात्मभाव का उल्लेख किया जा चुका है। प्रायः प्रत्येक दिन के अध्ययनाध्यापन के प्रारम्भ में की जानेवाली उनकी निम्नस्थ सह-प्रार्थना स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य है :

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।

(तै० उ० २। शान्तिपाठ)

अर्थात्, परमात्मा हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। साथ-साथ अनुग्रह करें। हमारे उद्यमों और प्रयत्नों में एकचित्तता हो। हमारा अध्ययन हममें तेजस्वी जीवन का संचार करे। हममें परस्पर द्रोह-बुद्धि कभी न हो!

अथर्ववेद और महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथों में आचार्य अन्तेवासी को गर्भवत् धारण करता है ऐसा कहा गया है।[२] उसका अभिप्राय यही है कि आचार्य अपने अन्तेवासी का स्थूल शारीरिक दृष्टि से ही पालन-पोषण नहीं करता; किन्तु बौद्धिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक दृष्टियों से उसके अन्तःशरीर का निर्माण भी उसी तन्मयता से करता है जिससे माता अपने गर्भ की सब प्रकार रक्षा और पुष्टि करती है।

अन्तेवास के प्रति आचार्य की सर्वात्मना चिन्ता के भाव का प्रदर्शन इससे अधिक अच्छे ढंग से करना असंभव है।

इस सम्बन्ध में एक आवश्यक बात जो स्मरण रखनी चाहिए वह यह है कि आचार्य और अन्तेवासी का जिस प्रकार का अकृत्रिम स्नेह-सम्बन्ध ऊपर दिखाया गया है, उसमें किसी प्रकार के कृत्रिम शासन की कड़ाई की आवश्यकता ही नहीं होती थी। विशेषतः इसलिए, क्योंकि आचार्य जितना अन्तेवासियों के अनुशासन पर ध्यान देता था, उससे कहीं अधिक अपने ही आचरण पर कड़ी दृष्टि रखता था। इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में शिष्य को उपदेश देते हुए वह कहता है :

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।"

(तै० उ० १।११।२-३)

---

१. तु० "इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्। प्रणाय्याय वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन।" (छा० उ० ३।११।५-६)। "तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्" (बृ० उ० ६।३।१२)।

२. तु० "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः" (अथर्व० ११।५।३)। "आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति। इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति।" (महाभारत, उद्योगपर्व, ४४।६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जो हमारे सुचरित हैं केवल उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। हमा[रे]
दूसरे आचरणों का नहीं।

कैसा उच्च आदर्श है! आचार्य समझता है कि अपने आचरण द्वारा ही व[ह]
अन्तेवासी को प्रभावित कर सकता है। ठीक ही है, दीपक से दीपक जलता है, अथवा
अग्नि से ही अग्नि प्रज्वलित होती है—"अग्निनाग्निः समिध्यते।"

शिष्य की योग्यता और परीक्षा

योग्यता और कर्तव्य-बुद्धि की उपेक्षा और तथाकथित अधिकार के लिए संघ[र्ष]
यह आज के युग की विशेषता है। हमारे आधुनिक जीवन की और विद्या-संस्थाओं की
भी अनेकानेक बढ़ती हुई विकट समस्याओं के मूल में प्रायेण यही बात काम क[र]
रही है।

प्राचीन भारत में, विशेषतः औपनिषद् युग में, यह स्थिति नहीं थी। कम से
कम ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में योग्यता और कर्तव्य-बुद्धि का प्रमुख स्थान था।

निरुक्त का एक बड़ा सुन्दर स्थल इस विषय पर है कि निरुक्त-शास्त्र के
अध्यापन के लिए कैसे शिष्य को चुनना चाहिए। उस स्थल के सामान्य अंश को,
जिसका सम्बन्ध किसी भी विषय के अध्यापन से हो सकता है, हम नीचे देते हैं:

"...नानुपसन्नाय। अनिदंविदे वा। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय
तु निर्ब्रूयात्। यो वालं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने तपस्विने वा।"

(निरुक्त २।३)

अर्थात्, जो नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता है, जो अपने विशिष्ट विषय के
महत्त्व को नहीं समझता है, ऐसे शिष्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो
अप्रबुद्ध है उसके मन में ज्ञान के प्रति अनास्था ही होती है। इसलिए सिद्धान्त यह है
कि जो विनीत भाव से उपस्थित होता है, जिसमें विद्या-ग्रहण की योग्यता है, जो
बुद्धिमान् है और अन्त में जो कष्टसहिष्णु और परिश्रमी भी है उसीको विद्याद[ान]
देना चाहिए।

आगे चलकर इसी विषय को एक रूपक की शक्ल में इस प्रका[र]
कहा है:

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय
न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥[1]

(निरुक्त २।४)

अर्थात्, एक बार विद्या विद्वान् के पास आयी और उसने उससे कहा : 'तुम मेरी रक्षा करो, क्योंकि मैं तुम्हारी निधि हूँ। तुम मुझे ऐसे व्यक्ति को न दो जो असूयक अथवा निन्दक है, जो सरल और नम्र नहीं है, जो संयतेन्द्रिय नहीं है। उसी अवस्था में मैं वीर्यवती, सामर्थ्यवाली हो सकूँगी। अयि! विद्वन्! जिसको तुम पवित्र विचार और आचार से युक्त, अप्रमादी, मेधावी, और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाला समझो, जो किसी भी अवस्था में तुम्हारे विरुद्ध द्रोहबुद्धि न रखे, और जो विद्या को प्राप्तकर उसके गौरव और महत्त्व की रक्षा कर सके उसीको अपना शिष्य बनाकर विद्या का उपदेश करो।'

स्वभावतः उपनिषत्काल का आचार्य उपर्युक्त गुणों की दृष्टि से ही अपने अन्तेवासियों का चुनाव करता था और आचार्य-कुल का सारा वातावरण शिष्यों में उक्त गुणों के विकास में सहायक होता था। कुछ उदाहरणों को देखिए :

कठोपनिषद्[2] में नचिकेतस् यमाचार्य के पास पहुँचता है और उससे अध्यात्म-विद्या को लेना चाहता है। उपदेश देने से पहले आचार्य उसके सामने अनेकानेक प्रलोभनों को रखकर उसे अपनी जिज्ञासा से विरत करना चाहते हैं। अन्त में सब प्रकार से परीक्षा के अनन्तर उसको अध्यात्म-विद्या का पात्र और जिज्ञासु समझकर ही उसे उपदेश देते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा आदि छह शिष्य आचार्य पिप्पलाद की सेवा में उपस्थित होते हैं। उसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है :

"ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः...ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः। तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।"

(प्रश्नोप० १।१-२)

अर्थात्, वे सुकेशा आदि ब्रह्मविद्या के सच्चे जिज्ञासु थे। वे तात्कालिक शिष्टाचार के अनुसार होमार्थ समिधाओं को हाथों में लिये हुए विनीत भाव से भगवान् पिप्पलाद की सेवा में उपस्थित हुए। ऋषि ने उनसे कहा कि आप लोग फिर भी तपस्या और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए श्रद्धापूर्वक यहाँ निवास कीजिये।

---

१. यह प्रकरण प्राचीन काल में इतना अधिक रोचक माना गया था कि अपने-अपने शब्दों में महाभारत, मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों में दुहराया गया है; तु० महाभारत, उद्योगपर्व, ४४।९; मनु० २।११४, ११५, १४४।

२. तु० कठोप० १।१।२०-२९।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदनन्तर अपने प्रश्नों को पूछिये। यदि हमको उस विषय का ज्ञान होगा, हम सब कुछ आप लोगों को बतलायेंगे।

इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण[1] उपनिषदों से दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में शिष्य के विषय में उक्त गुणों की दृष्टि से पात्रापात्र का पूर्ण विचार करके ही उसको विद्यादान किया जाता था।

जातीय भेद-भावना का अभाव

परन्तु शिष्य-सम्बन्धी उक्त पात्रापात्र के विचार में एक बात विशेषतया उल्लेखनीय है। वह यह है कि उपनिषत्काल में आचार्य द्वारा अन्तेवासियों के चुनाव में हमारे भारतीय इतिहास के उत्तरकाल का जातिगत-भेद-भावना की क्षुद्र धारणाओं से कलुषित वातावरण कहीं दिखलायी नहीं देता।

उपनिषदों में जन्म-गत जाति की चर्चा यदि कहीं है भी, तो वह गौणरूप से ही है। वास्तविक व्यवहार में उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

शिष्य की जाति पर ध्यान न देकर उसकी योग्यता और चरित्र पर विशेष ध्यान दिया गया है। 'ब्राह्मण' विद्वान् भी अध्यात्म-विद्या के उपदेशार्थ निस्संकोच भाव से 'क्षत्रिय' नृपतियों के पास जाकर उनके अन्तेवासी बनते हैं।

इस सम्बन्ध में दो-चार उदाहरणों की ओर संकेत करना ही पर्याप्त होगा।

छान्दोग्य-उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल की कथा दी हुई है। वह पीछे से बड़ा प्रसिद्ध आचार्य हुआ और उसके आचार्यकुल में अन्तेवासियों का नियमतः शिक्षण होता था।[2] उसके बाल्यकाल की कथा है कि वह आचार्यकुल में जाकर विद्याध्ययन करना चाहता था। उसने अपनी माता जबाला से पूछा कि मेरा गोत्र क्या है? माता ने सरल भाव से उत्तर दिया :

"सा हैनमुवाच नाहमेतद् वेद तात! यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति।"

(छा० उ० ४।४।२)

अर्थात्, माता ने सत्यकाम से कहा कि प्यारे बेटे! मैं यह नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। युवावस्था में जब कि मैं एक परिचारिणी (=नौकरानी) थी

---

१. तु० "इन्द्रो हैव देवानाम्...विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः। तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः..." (छा० उ० ८।७।२-३)। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय...प्रोवाच...ब्रह्मविद्याम्" (मु० उ० १।२।१२-१३)। "ते ह समित्पाणयः...प्रतिचक्रमिरे" (छा० उ० ५।११।७)।

२. दे० छा० उ० ४।१०–१४। बृ० उ० ६।३।१२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में यत्र-तत्र काम करती थी तब मैंने तुझे पाया था ।[१] इस कारण मैं यह नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो । पर मेरा नाम जबाला है, तुम्हारा नाम सत्यकाम है। इसलिए आचार्य के सामने तुम अपने को मेरे नाम पर 'सत्यकाम जाबाल' बतला सकते हो ।

सत्यकाम आचार्य हारिद्रुमत गौतम के पास शिष्य-भाव से उपस्थित होता है और अपने गोत्र के पूछे जाने पर ऊपर की सारी कथा सुनाकर अपने को सत्यकाम जाबाल बतलाता है ।

आचार्य उसके निःसंकोच सत्यभाषण से प्रसन्न होकर कहता है :

"तं होवाच । नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये । न सत्यादगा इति ।"

(छा० उ० ४।४।५)

अर्थात्, सत्यकाम से आचार्य ने कहा : 'जो अब्राह्मण है, ब्राह्मण-गुण-स्वभाव से रहित है, वह इस तरह नहीं कह सकता । होमार्थ समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन-संस्कार करके तुम्हें आचार्य-कुल-वासी बनाऊँगा । तुममें यह बहुत बड़ा गुण है कि तुम सत्य से विचलित नहीं हुए ।

यह है उपनिषदों का सात्त्विक उदार वातावरण !

केकय देश के अधिपति क्षत्रिय अश्वपति से महाश्रोत्रिय प्राचीनशाल औपमन्यव आदि को साथ लेकर उद्दालक आरुणि का ब्रह्मविद्या का उपदेश लेना, पञ्चाल-देश के राजा प्रवाहण जैवलि के अन्तेवासित्व को स्वीकार कर श्वेतकेतु के पिता उन्हीं उद्दालक का पंचाग्नि-विद्या को सीखना इत्यादि अनेक कथाओं से भी, जिनका कुछ संकेत हम ऊपर कर चुके हैं, उपनिषत्काल में उत्तरकालीन जातीय भेद-भावना तथा मिथ्या जात्यभिमान के अभाव की ही पुष्टि होती है ।[२]

यहाँ इस विषय के विस्तार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आगे चलकर 'औपनिषद धारा का सामाजिक पक्ष' पर लिखते हुए हम इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे ।

---

१. इस स्थल का श्री राधाकृष्णन् का अंग्रेजी अनुवाद भी हमारे अनुवाद के समान ही है "In my youth, when I went about a great deal, as a maid servant, I got you." (*The Principal Upanisads*, By S. Radhakrishnan, 1951). श्री शंकराचार्य अपने समय की जाति-भेद-भावना से प्रभावित थे । प्राचीन-पद्धति के अनुयायी अन्य विद्वानों के समान उनके सामने भी ऐतिहासिक दृष्टि का कोई महत्त्व नहीं था । अतः स्वभावतः उन्होंने बलपूर्वक उक्त स्पष्ट स्थल का अपने भाष्य में अर्थान्तर करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है ।

२. इस सम्बन्ध में हमारी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास—प्रथम खण्ड—वैदिकधारा'(१९६४) के पृ० २०७-२१३ देखिए ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐतिहासिक दृष्टि रखनेवाले विद्वानों से छिपा नहीं है कि उत्तरकाल में चातु-वर्ण्य-व्यवस्था में संकीर्णता की भावना क्रमशः बढ़ती ही गयी। मनुस्मृति[१] जैसे ग्रन्थों में, उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत आदि-आदि का विधान क्रम से बढ़ती हुई उसी संकीर्णता की प्रवृत्ति का द्योतक है।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि मनुस्मृति की उक्त संकीर्णता का कोई भी चिह्न हमें प्राचीन उपनिषदों में नहीं मिलता है।

औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझने के लिए उक्त बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

४. आचार्य-कुल का अनुशासन

ऊपर आचार्य-कुल के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसके साथ आचार्य-कुल के अनुशासन पर भी कुछ दृष्टि डालना आवश्यक है। इसके विना उक्त सारी चर्चा अधूरी ही प्रतीत होगी। उक्त अनुशासन को संक्षेप में हम ब्रह्मचर्य, संयम-श्रम-तपस् और व्रत का जीवन कह सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के स्वरूप को संक्षेप में दिखाकर उपनिषदों के विशिष्ट उदाहरणों द्वारा हम उनका निदर्शन भी उपस्थित करना चाहते हैं।

ब्रह्मचर्य

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद से ब्रह्मचर्य के महत्त्व का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। अथर्ववेद के ग्यारहवें कांड के २६ मन्त्रों के पञ्चम सूक्त में ब्रह्मचर्य का जो अद्भुत वर्णन दिया गया है, वह वैदिक वाङ्मय में ही क्या, समस्त संस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय है। उसको ब्रह्मचर्य-विषय पर आर्ष-कविता का एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। उसमें विश्व-व्यापक दिव्य स्तर पर रखकर ब्रह्मचर्य-तत्त्व की महिमा का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, देखिए :

> ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति
> तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
>
> (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करनेवाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान अथवा ब्रह्म) को धारण करता है और उसमें समस्त देवता अधिवास करते हैं (अर्थात् वह समस्त देवताओं से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है)।

---

१. उदाहरणार्थ देखिए—"ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ। पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः। ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥" (मनु० २।४५-४६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥

(अथर्व० ११।५।४)

अर्थात्, समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

(अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता अपने में संपादन करता है।

ऊपर श्रम और तपस्या द्वारा ब्रह्मचर्य-पालन का महत्त्व स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है।

ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय ब्रह्म अर्थात् वेद या दूसरे शब्दों में ज्ञान (जो अन्ततोगत्वा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[१] इस अर्थ में औपनिषद ब्रह्मन् से भिन्न नहीं है) का अनुसरण या प्राप्त करना है।[२] परन्तु सच्चे अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक इन्द्रियनिग्रह और व्रत-पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संसक्त हो गया है।[३] इसीलिए वेद से लेकर समस्त संस्कृत-साहित्य में अधिकतर इसी व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग होता आया है।[४]

उपनिषत्काल में आचार्य-कुल के अन्तेवासियों के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत अनिवार्य था। इसीलिए अन्तेवासी का दूसरा नाम ही ब्रह्मचारी था। ऊपर आचार्य की प्रार्थना में इसी अर्थ में ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग हम देख चुके हैं।

अन्यत्र भी उपनिषदों में स्पष्ट रूप से ब्रह्मचर्य के महत्त्व का रोचक वर्णन पाया जाता है।[५]

---

१. तै० उ० २।१।, अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप में ही ज्ञेय है।

२. तु० "सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥" (अमृतमन्थन १।१४५-४६)।

३. दे० गोपथब्राह्मण १।२।१-७।

४. कहीं-कहीं अतिसंकुचित अर्थ भी देखने में आता है; तु० "ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः" (योगसूत्र-व्यासभाष्य २-३०)।

५. तु० "त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति।" (छा० उ० २।२३।१)। इस स्थल का डा० राधाकृष्णन् ने जो अनुवाद दिया है ('प्रथमस्तप एव' इत्यादि रूप में) वह स्पष्टतः ठीक नहीं है। "तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।" (प्रश्नोप० १।१५); "स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति।" (प्रश्नोप० ५।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छान्दोग्योपनिषद् (८।५।१-४)[1] में तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ, उ... वास, व्रत आदि जितने भी पवित्र कर्म समझे जाते हैं, उन सबके मूल में वास्तव... ब्रह्मचर्य का ही महत्त्व होता है, क्योंकि उसके बिना किये गये कर्म का कोई महत्त्व न... होता, वह निरर्थक होता है।

जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, ब्रह्मचर्य की व्यापक व्याख्या में संयम, श्र... तपस् और व्रत का जीवन गतार्थ हो जाता है। फिर भी आचार्य-कुलों के अनुशास... के वातावरण को ठीक-ठीक अवगत कराने की दृष्टि से संयम आदि का पृथक्-पृथ... यहाँ कुछ वर्णन उपयोगी प्रतीत होता है।

संयम

संयम का अभिप्राय नियन्त्रण से है। अपने कर्तव्य (या व्रत) के पालन... दृष्टि से इंद्रियों और मन की उच्छृंखल और अनियन्त्रित प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में ... व्यवस्थित रखना ही वास्तव में संयम है। जीवन में उसकी अभिव्यक्ति, भगव... गीता के :

> युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
>
> (गीता ६।१७

(अर्थात्, योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायो... आहार-विहार करनेवाला, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाला और यथायोग्य सो... वाला और जागनेवाला होता है) इस वचन के अनुसार, हमारे नियमित और व्यवस्थि... आचरण में ही हो सकती है।

आचार्य-कुल के तपोमय और व्रत-पालन के नैतिक वातावरण में अन्तेवासि... के लिए संयम का जीवन नितरां आवश्यक था।

ऊपर में दी हुई आचार्य की प्रार्थना में 'दम का और शम का आचरण क... वाले ब्रह्मचारी मेरे पास आवें' इन शब्दों का स्पष्ट संकेत अन्तेवासियों के संयत-जी... की ओर है।

श्रम और तपस्

तप का साधारणतया अभिप्राय कष्ट-सहिष्णुता से होता है। इसीलिए यहाँ ... में 'श्रम' शब्द जोड़ दिया गया है। ऊपर ब्रह्मचर्य के महत्त्व का वर्णन करते... अथर्ववेद के मन्त्र (११।५।४) में श्रम और तपस् का साथ ही उल्लेख किया ... है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में भी दोनों विचार प्रायः साथ-साथ आते हैं।[2]

---

१. दे० "अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्..." (छा० उ० ८।५।१–४)।

२. तु० बृ० उ० (१।२।६) ; "सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य..।" यहाँ ... 'अश्राम्यत्' का अर्थ 'श्रम किया' है, न कि 'आराम किया' जैसा कि डा० राधाकृ... ने लिया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रम और तप की महिमा का वर्णन प्राचीन संस्कृत-साहित्य में बहुत आता है।[1]

उपनिषदों में, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, जहाँ कहीं ब्रह्मचर्य का वर्णन आता है, वहाँ प्रायेण साथ में तप का भी उल्लेख रहता है। अथर्ववेद के ऊपर दिये हुए मन्त्रों में भी ब्रह्मचर्य के साथ श्रम और तप का उल्लेख आया है। इसलिए आचार्य-कुल के अनुशासन में ब्रह्मचारी के लिए स्पष्टतः श्रम और तप के जीवन की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती थी।[2]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तप का अभिप्राय शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता से ही न होकर मानव-जीवन के सब प्रकार के प्रलोभनों के नियन्त्रण के साथ अपने आदर्श-मार्ग की ओर चलने से ही है। इसीलिए तैत्तिरीय-आरण्यक का कथन है कि सत्य-भाषण, दम, शम, यज्ञ आदि आदर्शों का जीवन में पालन ही वास्तव में तप है।[3]

वास्तव में छात्र-जीवन में तपस्या का अभ्यास जीवन-भर मनुष्य का साथ देता है और इससे आगे चलकर बड़े-बड़े संकटों और प्रलोभनों में वह अपने चरित्र को शुद्ध रखते हुए अपने आदर्शों के पालन में सदा अविचल और सोत्साह रह सकता है।

व्रत-ग्रहण और व्रत-पालन

उपनयन-संस्कार के समय आचार्य-कुल में जाते हुए अन्तेवासी

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(मंत्रब्राह्मण १।६।९)

(अर्थात्, हे व्रतपते अग्ने! मैं ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूँगा। सो मैं तुमसे कहता हूँ। मैं इस व्रत को पूरा कर सकूँ और इसके द्वारा अपनी उन्नति कर सकूँ—यही मेरी अभिलाषा है। मैं अनृत से सत्य को प्राप्त होता हूँ) ऐसे ही कई मन्त्रों द्वारा अग्नि आदि देवताओं के साक्ष्य में ब्रह्मचर्य का व्रत-ग्रहण करता हुआ उसके पालन की प्रतिज्ञा करता है।

---

1. तु० "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" (ऋग्० ४।३३।११), "अन्तरिक्षे···स्थाम श्रान्तसदाम्" (अथर्व० १।३२।२)। "तपो ब्रह्म" (तै० उ० ३।२)। "यद् दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥" (महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, ५१।१७)। "बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।" (श्रीमद्भागवत २।९।२३)।
2. तु० "तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः। वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥" (मनु० २।१३५)।
3. दे० "ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।" (तैत्तिरीय-आरण्यक १०।८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी महान् कर्तव्य को स्वीकार करना और उसका आस्था और दृढ़ता से पालन करना ही व्रत है।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं। जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है। क्योंकि :

> व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम्।
> जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम्॥
>
> (रश्मिमाला १०।२)

अर्थात्, व्रतों के पालन से संयमी मनुष्यों को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भान होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है।

स्वीकृत नियमों का पालन ही वास्तव में महान् व्रत है।[1]

आचार्य-कुल में रहते हुए अग्नि-परिचर्या के नैत्यिक नियम का पालन अन्तेवासी का एक व्रत था और अनुशासन का अंग था।[2] इसीलिए, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, आचार्य की सेवा में उपस्थित होनेवाले शिष्य 'समित्पाणि' (समिधाओं को हाथ में लिये हुए) होकर आते थे।

व्रतरूप से इस प्रकार के धार्मिक कृत्य का नैत्यिक अनुष्ठान अन्तेवासियों की अन्तर्दृष्टि, चारित्रिक दृढ़ता, आदर्शों के प्रति आस्था और जीवनचर्या में उच्छृंखलता के स्थान में व्यवस्था और अनुशासन के प्रति प्रेम के विकास के लिए अनन्य उपयोगिता रखता था, इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

कुछ उदाहरण

उपनिषत्काल में आचार्य-कुलों में अनुशासन का ऐसा ही रूप था, इसकी पुष्टि अनेक उदाहरणों से की जा सकती है; जैसे :

(१) प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा भारद्वाज आदि छह समित्पाणि विद्वान् ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा लेकर भगवान् पिप्पलाद के पास उपस्थित होते हैं। उनसे वे ऋषि कहते हैं :

"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।"

(प्रश्नोप० १।२)

---

१. तु० "तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्।···यद्यु चरेत् समापिपयिषेत्" (बृ० उ० १।५।२३)।

२. तु० "उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च" (मनु० २।६९)। तथा "उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार।" (छा० उ० ४।१०।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, आप लोग पुनरपि तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के साथ इस कुल में वर्ष-पर्यन्त अन्तेवासी बनकर रहिए। तब यथेष्ट प्रश्नों को पूछिए। यदि हम जानते होंगे तो आपके सब प्रश्नों का उत्तर देंगे।

(२) छान्दोग्योपनिषद् (८।७-१२) में इन्द्र-विरोचन का एक रोचक उपाख्यान दिया हुआ है। एक बार देवताओं की ओर से इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन प्रजापति के पास अध्यात्म-विषयक ज्ञान के लिए हाथ में समिधाओं को लिये हुए शिष्य-रूप से उपस्थित हुए। उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए अन्तेवासी बनकर बत्तीस वर्ष तक वहाँ निवास किया।[1] तब प्रजापति ने उनका समाधान किया।

पर उस समाधान से सन्तुष्ट न होकर इन्द्र पुनः प्रजापति के पास उपस्थित होता है। प्रजापति उससे कहते हैं कि पुनः बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक यहाँ निवास करो, तब हम तुम्हारा समाधान करेंगे। तब पूर्ववत् प्रजापति समाधान करते हैं। पर इन्द्र को असन्तोष के कारण पुनः लौटना पड़ता है। पुनः बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास, समाधान और लौटना होता है। अन्तिम वार प्रजापति पाँच वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहने को कहते हैं और तब अन्तिम समाधान करके इन्द्र को संतुष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार सब मिलाकर इन्द्र को १०१ वर्ष तक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए ही निवास करना पड़ता है।[2]

इस उपाख्यान से आचार्य-कुलों की अनुशासन-विषयक कठोर दृष्टि स्पष्ट है। उसमें किसी प्रकार की ढिलाई वहाँ कदापि सह्य नहीं थी।

(३) बृहदारण्यकोपनिषद् (५।१) में एक उपाख्यान में बतलाया है कि एक बार प्रजापति के पास उनकी सन्तान देवों, मनुष्यों और असुरों ने आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक अन्तेवासी बनकर निवास किया और तब सबने पृथक्-पृथक् 'आप हमें उपदेश कीजिए' ऐसी प्रार्थना की। प्रजापति ने क्रमशः उनको 'द' कहकर उपदेश दिया। जिसका उन्होंने यथाक्रम 'दम', 'दान' और 'दया' का अर्थ लिया और सन्तुष्ट होकर वे लौट गये।

इस उपाख्यान में भी उपनिषद् आचार्य-कुल के ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास के नियम को नहीं भूलती है, यह ध्यान में रखने की बात है।

(४) छान्दोग्योपनिषद् (४।४-९) में सत्यकाम जाबाल आचार्य हारिद्रुमत गौतम के कुल में अन्तेवासी बनकर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने के लिए आता है। तब :

---

१. दे० "तौ ह···समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।···द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः" (छा० उ० ८।७।२-३)।

२. दे० "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" (छा० उ० ८।११।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाच। इमाः सोम्यानु संव्रजेति। ता अभिस्थापयन्नुवाच—नासहस्रेणावर्तेयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास ते यदा सहस्रं संपेदुः।"

(छा० उ० ४।४।५

अर्थात्, उसका उपनयन संस्कार करके चार सौ कृश और दुर्बल गौओं को पृथक् निकालकर आचार्य ने उससे कहा : "हे सोम्य! तुम इन गौओं के पीछे जाओ। उन गौओं को ले जाते हुए सत्यकाम ने कहा कि जब तक ये गौएँ एक सहस्र न हो जाएँ, तब तक मैं नहीं लौटूँगा। तदनन्तर सत्यकाम कई वर्षों तक प्रवास में ही रहा, जब तक कि वे एक सहस्र न हो गयीं।

आचार्यकुलीय तपस्या और अनुशासन का यह एक उल्लेखनीय उदाहरण है। उस काल में संपत्ति प्रायः गौओं के रूप में रहती थी, इस बात को समझे बिना इस उदाहरण के रहस्य को अवगत करना कठिन होगा। स्पष्टतः गौओं के साथ-साथ जंगल में जाकर अन्तेवासी आचार्य-कुल की सांपत्तिक सेवा करते हुए, प्रकृति-माता की गोद में खेलते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संपुष्टि भी कर सकते थे। इसी बात को इस आख्यान में आगे और भी स्पष्ट किया गया है।

(५) छान्दोग्योपनिषद् (४।१०-१५) में उपकोसल कामलायन का आख्यान दिया हुआ है। उसमें स्पष्ट शब्दों में बतलाया गया है[1] कि अपने आचार्य सत्यकाम जाबाल के कुल में उसने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास किया था और इस काल में बराबर आचार्य की अग्नियों की परिचर्या की थी।

धार्मिक कृत्य के रूप में अग्निपरिचर्या भी आचार्य-कुल के अनुशासन का एक अङ्ग थी, यह इस आख्यान से स्पष्ट है।

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण उपनिषदों से ही आचार्य-कुलीय अनुशासन के दिये जा सकते हैं। पर इसकी आवश्यकता नहीं है।[2]

५. स्नातक के प्रति आचार्य का उपदेश

आचार्य-कुल के आदर्श और अनुशासन के प्रसंग में स्नातक के प्रति आचार्य के अन्तिम उपदेश को देना आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१. दे० "उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार" (छा० उ० ४।१०।१)।

२. प्राचीन भारत में विद्या के साथ व्रत-पालन, तपस् और ब्रह्मचर्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में वाल्मीकिरामायण के कुछ उद्धरणों को देखिए। राम के विषय में दशरथ कहते हैं : (स रामः) "वेदैश्च (? व्रतैश्च) ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्षितः" (२।१२।८४)। नारद और वाल्मीकि दोनों तपस्वी हैं—"तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्। नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्।" (१।१।१)। भरद्वाज के विषय में कहा है—"स (रामस्तं भरद्वाजं दृष्ट्वा) संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्।" (२।५४।११)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तैत्तिरीय-उपनिषद् की प्रथम शिक्षावल्ली के अन्त में यह उपदेश दिया हुआ है। निश्चय ही समस्त उपनिषदों के उत्कृष्ट अंशों में से यह एक है।

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यथाविधि वेदाध्ययन करके आचार्य-कुल से लौटकर अपने घर आनेवाले ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था।[1] इसके अनन्तर ही वह विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[2]

आचार्य के प्रकृत अन्तिम उपदेश का महत्त्व कई दृष्टियों से है।

स्वभावतः यह आकांक्षा होती है कि आचार्य-कुल से लौटने पर स्नातक अपने लौकिक जीवन को किस तरह व्यतीत करता था? उसके जीवन के मुख्य आदर्श क्या होते थे? विद्या-वयोवृद्धों के साथ उसका व्यवहार कैसा होता था? अपनी जीवन-चर्या में वह कहाँ तक समाज के हित-संपादन का ध्यान रखता था?

इन सारे प्रश्नों का बहुत-कुछ उत्तर इस उपदेश में हमें मिल जाता है।

आजकल कतिपय भारतीय विश्वविद्यालयों और अन्य विद्या-संस्थाओं के उपाधि-वितरणोत्सवों के अवसर पर दीक्षान्त-भाषणों में इस प्रसंग को प्रायः उद्धृत किया जाने लगा है। यह सर्वथा ठीक ही है। तो भी इसके पूरे अभिप्राय को बहुधा कम समझा जाता है। इसलिए इसकी कुछ विशद व्याख्या देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। मूल संस्कृत उपदेश और उसके अनुवाद को देकर ही हम उसकी संक्षिप्त व्याख्या करने का यत्न करेंगे।

मूल उपदेश इस प्रकार है:

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—

(१) सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(२) आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

(३) सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(४) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

(५) यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

(६) ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्।

---

१. तु० "ब्रह्मचारी...। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥" (अथर्व० ११।५।२६)। "त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च" (हारीत-स्मृति)। प्राचीन उपनिषदों में 'स्नातक' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

२. तु० "ब्रह्मचारी...दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥" (अथर्व० ११।५।६)। "गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥" (मनु० ३।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(७) श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भियाऽदेयम् । संविदा देयम् ।

(८) अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् , ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् , तथा तत्र वर्तेथाः ।

अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् , तथा तेषु वर्तेथाः ।

(९) एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥

(तै० उ० १।११)

अर्थात् , वेद का अध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य को अन्तिम उपदेश देते हैं :

(१) सत्य-भाषण करो । धर्म का, अपने कर्तव्य का पालन करो । स्वाध्याय में प्रमाद न करो ।

(२) अपने आचार्य-कुल, विद्यामन्दिर, की उन्नति के लिए आर्थिक सहायता आदि द्वारा यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए सन्तानोत्पत्ति द्वारा गृहस्थ-धर्म का पालन करो ।

(३) सत्य और धर्म के पालन में प्रमाद, आलस्य, न करना चाहिए । स्वस्थ और सुन्दर जीवन के लिए यत्नशील रहो । समृद्धि और ऐश्वर्य की प्राप्ति में तत्पर रहो । ज्ञान के उपार्जन और प्रसार को अपना कर्तव्य समझो और कभी इसकी उपेक्षा न करो ।

(४) देव और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य का सदा ध्यान रखो । माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि में पूज्य-बुद्धि रखो ।

(५) जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए; निन्दनीय कर्मों का नहीं ।

हम गुरुजनों के जो अच्छे आचरण हैं उन्हीं का तुम्हें अनुकरण करना चाहिए, दूसरे प्रकार के आचरणों का नहीं ।

(६) जो विद्वान् हमारे मान्य हैं उनका तुम्हें भी अभ्युत्थान तथा आसन-दान आदि से सम्मान करना चाहिए ।

(७) समाज के हित-संपादन के लिए और दूसरों के कष्टों के निवारणार्थ आर्थिक सहायता देना, दान देना, तुम्हारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिए; परन्तु वह सहायता श्रद्धा से न कि अश्रद्धा से, प्रसन्नता से, नम्रता से, न कि डर से, और सहानुभूति तथा प्रेम से करनी चाहिए ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(८) यदि तुम्हें कभी अपने कर्तव्याकर्तव्य के अथवा सदाचार के विषय में सन्देह उपस्थित हो, तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्तव्य-परायण, कोमल-स्वभाव धर्मात्मा विद्वान् हों उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो ।

इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार में तुम्हें ऊपर बताये गये गुणों से युक्त विद्वानों के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए ।

(९) तुम्हारे लिए हमारा यही अन्तिम आदेश है, यही उपदेश है। यही वेद का रहस्य है । यही शिक्षा है । इसी आदर्श को अपने भविष्य के जीवन में सर्वदा सर्वथा अपने सामने रखो । इसी का पालन करो ।

संक्षिप्त व्याख्या

उक्त उपदेश को हमने अर्थ-सुविधा की दृष्टि से नौ अंशों में विभाजित कर दिया है ।

(१) प्रथम अंश में सत्य-पालन के साथ ही धर्म के आचरण पर और स्वाध्याय पर बल दिया गया है ।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि संध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, गंगा-स्नानादि रूढि-परक 'धर्म' का पालन करते हुए भी लोग जीवन की व्यावहारिक सचाई से उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं समझते । इसलिए सत्य के आधार पर जितना भी बल दिया जाय, थोड़ा है ।[1]

स्वाध्याय का अर्थ स्पष्टतः 'स्वयं अध्ययन' है । फिर भी चिरकाल से हमारे देश में प्रायेण अर्थ-ज्ञान के बिना ही किसी वेदादि धर्म-ग्रन्थ के पाठमात्र को स्वाध्याय समझा जाता रहा है ।[2] सच्चा स्वाध्याय मनुष्य की जीवन-यात्रा के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है ।

एक शिक्षित मनुष्य के दैनिक जीवन के लिए मौलिक दृष्टि से आवश्यक उपदेश इस प्रथम अंश में दिया गया है ।

(२) दूसरे अंश में प्रथम तो स्नातक के लिए अपने आचार्य-कुल की उन्नति का ध्यान रखने की बात कही गयी है ।[3] दूसरी बात जो अति महत्त्व रखती है, वह है स्नातक के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश का स्पष्ट आदेश ।[4]

1. तु० "सत्यस्य हि प्रतिष्ठायां चारित्र्यं स्थितिमश्नुते । सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते ।" (अमृतमन्थन १५।४) ।
2. दे० सायणकृत तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य की भूमिका ।
3. आचार्य को गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ धन देकर प्रसन्न करने मात्र का अभिप्राय यहाँ नहीं लेना चाहिए; क्योंकि अपने रूप में आचार्य आचार्य-कुल का ही प्रतिनिधि होता था ।
4. तु० "गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि । उद्वहेत द्विजो भार्याम्" (मनु० ३।४) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्तरकालीन वेदान्त की धारा में संन्यास की ओर उग्र प्रवृत्ति के साथ-सा गृहस्थाश्रम की हीनता का भाव भी पाया जाता है।[1] पर यहाँ गृहस्थाश्रम का आद स्पष्टतः उस भावना के प्रतिकूल है।

औपनिषद धारा के मौलिक स्वरूप को समझने के लिए, जैसा हम आगे च कर दिखाएँगे, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

(३) तीसरे अंश का अभिप्राय यही है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश के अन उसके नवीन उत्तरदायित्व के उठाने पर भी स्नातक को जीवन के उदात्त आद की उपेक्षा न करनी चाहिए।[2] व्यावहारिक जगत् के विसंष्टुल वातावरण में पड़ जहाँ एक ओर नैराश्य, प्रमाद और आलस्य जैसी क्षुद्र भावनाओं का भय होता वहाँ दूसरी ओर अनेक प्रलोभन और आकर्षण अभद्र और असंयत जीवन की मनुष्य को प्रवृत्त करना चाहते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में भी आचार्य-कुल में शि स्नातक अपने उत्कृष्ट आदर्शों का ध्यान रखते हुए ही स्वस्थ और सुन्दर जीवन लिए और समाज में ज्ञान के स्तर को सदैव ऊँचा रखने के लिए प्रयत्नशील रहे, इस अंश का अभिप्राय है।

(४) देवकार्य और पितृकार्य से साधारणतया यही अभिप्राय है कि देव और पितृयज्ञ के रूप में जो धार्मिक परम्परा आ रही है उसका पालन भी स्नातक गृहस्थाश्रम में रहते हुए करना चाहिए।

किसी प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड के नियन्त्रण के बिना मनुष्य के जीवन स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता और प्रमाद को अवसर मिल जाता है और उसका चा त्रिक शैथिल्य उसे अपने उदात्त आदर्शों से गिरा देता है।

कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इस उपदेश का अभिप्राय यह भी है प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि और सर्वभूत के आदर्शों के प्रकाश में तथा अपने पूर्वजों के गौरव को ध्यान में रखते हुए ही अ वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। मौलिक दृष्टि से देवकार्य से अभिप्राय सदैव वि के कल्याण में तत्पर दैवी शक्तियों में आस्था रखने से है। इसी प्रकार 'पितृक का अभिप्राय अपने पितृ-पितामह आदि की परम्परा के पालन से है।

माता, पिता, विद्वान् पुरुष और अतिथि में देवतुल्य पूज्य-बुद्धि रखने का सु उपदेश भी यहाँ दिया गया है।

(५) किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्णतया निर्दोष हो, ऐसा होना कठिन है आचार्य अपने विषय में भी समझता है कि उसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। इस

---

१. तु० "दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः" (मैत्रायणी-उपनिषद् १।२)। "एतद वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः" (बृ० उ० ४।४।२२)।

२. तु० "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि।"(महाभारत, उद्योगपर्व, ४२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्नातक के प्रति आचार्य का यह कथन कि वह आचार्य के केवल सच्चरित्र और सत्कार्यों का ही अनुसरण करे, विशेष महत्त्व रखता है। स्नातक का कर्तव्य है कि वह अपनी जीवन-यात्रा में अन्ध-श्रद्धा से प्रेरित न होकर विवेक और बुद्धि के आधार पर ही अपने जीवन-पथ का निर्माण करे और सदा जागरूक रहे।

(६) **'विद्या ददाति विनयम्'** (अर्थात्, विद्या मनुष्य को विनय सिखाती है) यह एक प्राचीन उक्ति है। विद्या का माधुर्य विनय में प्रकट होता है और होना चाहिए। उसीके आधार पर समाज में शील और सदाचार की सृष्टि होती है। इसीलिए विद्वानों के प्रति नम्रता और शिष्टता के आचरण पर इस अंश में बल दिया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् (६।१) में श्वेतकेतु के विषय में कहा गया है कि समस्त वेदों को पढ़कर वह अभिमानी और उद्धत ('अनूचानमानी स्तब्धः') हो गया था। उसके पिता उद्दालक ने जब यह देखा, तो उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने कुछ तात्त्विक प्रश्नों द्वारा उसके दुरभिमान और औद्धत्य को दूर कर उसको फिर से विनीत और अध्यात्मविद्या का जिज्ञासु बनाया।

सदा ही एक नव-शिक्षित में अविनय और दुरभिमान का डर रहता है। इसीलिए इस उपदेश में और मनुस्मृति आदि में बड़ों के प्रति अभ्युत्थान आदि द्वारा विनय-प्रदर्शन का विधान किया गया है।[१]

(७) सच्चे अर्थों में दान का बड़ा महत्त्व है।[२] परन्तु दान का जैसा दुरुपयोग चिरकाल से भारत में होता आया है वैसा कदाचित् ही संसार में अन्यत्र देखने में आएगा।

प्रकृत उपदेश के इस अंश में दान का कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी वर्णन किया गया है। अश्रद्धा से अर्थात् वास्तविक परार्थ हित-साधन की भावना के बिना और डर से किये हुए दान का कोई महत्त्व नहीं होता। सच्चे दान में श्रद्धा, प्रसन्नता, नम्रता और सहानुभूति का आधार होना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य में स्वार्थमयी प्रवृत्ति स्वभावतः विद्यमान है। इसीलिए शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि मनुष्य में समाज के हित-संपादन और दूसरों के कष्टों के निवारण की भावना को उद्बुद्ध किया जाय। प्रकृत अंश में इसी महान् लक्ष्य को सामने रखा गया है।

(८) जीवन में कर्तव्य-अकर्तव्य की दुरूह समस्याएँ प्रायः उपस्थित होती रहती हैं एवं अनेक प्रकार के प्रलोभनों में फँसकर मनुष्य के लिए कभी-कभी ऐसे लोगों

---

१. तु० "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्।" (मनु० २।१२०-१२१)।

२. दे० बृ० उ० ५।२।२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के संपर्क में पड़ जाने का भय उपस्थित हो जाता है, जिनको शिष्ट समाज पसन्द नहीं करता। उक्त दोनों प्रकार के अवसरों में एक अनुभवहीन नव-शिक्षित के लिए कैसे सच्चरित्र विचारशील विद्वानों के मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है, इसी बात का एक हृदय-स्पर्शी वर्णन इस अंश में किया गया है।

यही आचार्य-कुल से विद्या-समाप्ति पर लौटनेवाले स्नातक के प्रति आचार्य का अन्तिम उपदेश है। अनेक दृष्टियों से सचमुच इसे हम अद्‌भुत और अद्वितीय कह सकते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाँचवाँ परिच्छेद

अमृत-स्रोत [१]

ऊपर औपनिषद धारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि को दिखाने का हमने कुछ यत्न किया है। आगे चलकर हम औपनिषद धारा के प्रारम्भ और विकास को दिखाने के साथ-साथ उसके विभिन्न पक्षों पर भी विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। पर इससे पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उस धारा के हृदय का, उसके अमृत-स्रोत का, उसके शाश्वत-पक्ष का, एक दिग्दर्शन पाठकों को करा दिया जाय; क्योंकि, अन्यथा उसके संबंध में किसी भी प्रकार का विवेचन निराधार-सा प्रतीत होगा।

उक्त विषय को पूर्वोक्त मुख्य दस उपनिषदों के क्रम से ही संक्षेप में दिखाना उचित प्रतीत होता है। उनका संक्षिप्त परिचय पहले परिच्छेद में दिया जा चुका है।

१. ईशावास्योपनिषद्

सबसे पहले हम ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् को लेते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अति संक्षिप्त होने पर भी अपने प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है। मानव-जीवन के मौलिक आदर्श और सिद्धान्त दोनों का प्रतिपादन इसमें किया गया है।

इसका प्रारम्भ—इस समस्त विश्व का संचालन एक सर्वत्र व्यापक अन्तर्यामी शक्ति, परमात्मा द्वारा हो रहा है—इस गंभीर घोषणा के साथ इस प्रकार होता है :

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

अर्थात्, इस गतिशील विश्व में जो कुछ भी जड़-चेतन-रूप जगत् है वह सबको नियन्त्रण में रखनेवाली एक शक्ति, ईश्वर, से व्याप्त है[१]। जो कुछ तुम्हें उससे प्राप्त है उसीका तुम उपभोग करो; किसी दूसरे के धन की, पदार्थों की, लिप्सा न करो।

दूसरे मन्त्र में कर्म के सिद्धान्त का सुन्दर वर्णन है, जिसको हम स्पष्टतया भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त का[२] मूल-स्रोत कह सकते हैं :

---

१. तु० "विश्वमेतद् यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा। नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम्॥ तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्। चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये॥" (रश्मिमाला ६६।१–२)।

२. तु० "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय!॥" (गीता २।४७–४८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह कर्तव्य-बुद्धि अथवा अनासक्त भाव से का... करता हुआ ही सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे। यही उपाय है जिससे ... मानव ! तू कर्म के बन्धन से बच सकता है। इससे भिन्न कोई दूसरा उपाय नहीं है।

अगले मंत्र में मनुष्य के लिए आत्म-ज्ञान की, अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान की, मौलिक आवश्यकता को बतलाया गया है :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अर्थात्, आत्मत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप अथवा अज्ञान-रूप 'आत्महत्या' करनेवाले लोग मृत्यु के अनन्तर (अथवा इस जीवन में ही मृत्यु-तुल्य अवस्था का अनुभव करते हुए) असुरों से (केवल इंद्रियों के विषयोपभोग में निरत लोगों से संबंध रखनेवाले घोर अज्ञानान्धकार से आवृत लोकों को (= अवस्था को) प्राप्त होते हैं।

निम्नस्थ दो मंत्रों में आत्मज्ञानी की विशाल दृष्टि और विश्व-बन्धुत्व की भावना का हृदयाकर्षक वर्णन किया गया है :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थात्, जो समस्त भूतों को, प्राणियों को, आत्मा में ही देखता है और सब भूतों में (एक ही) आत्मा को देखता है, वह इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के कारण किसी से घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥ जिस अवस्था में ज्ञानी के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए, उस अवस्था में सर्वत्र एकत्व देखनेवाले को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात्, सर्वत्र आत्मैकत्व का अनुभव करनेवाला शोक और मोह के सागर को पार कर जाता है ॥ ७ ॥[1]

अगले मंत्र में आत्मा के स्वरूप और महिमा का वर्णन किया गया है :

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

---

१. तु० "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ यो... पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।" (गीता ६।२९–३०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्,

वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है।
वह दीप्तिमान्, शरीर से असंपृक्त और व्रणों से रहित है,
वह नाड़ियों से रहित, शुद्ध और पाप से वर्जित है।
वह सर्वद्रष्टा, मनीषी, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है।
उसके द्वारा सृष्ट पदार्थों में सदा से ही
याथातथ्य अर्थात् औचित्य का आधार विद्यमान है।

कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के परस्पर विरोध तथा समुच्चय का प्रश्न बड़ा प्राचीन है। नीचे के तीन मन्त्रों में इस विवाद का सुन्दर समाधान उपस्थित किया गया है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया्ँ रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभया्ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अर्थात्, जो ज्ञान और विवेक से रहित कोरे कर्मकाण्ड (= अविद्या) की आराधना करते हैं वे अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। परन्तु जो कर्तव्यकर्म से रहित कोरे ज्ञानवाद (= विद्या) में रत रहते हैं, वे उससे भी अधिक गाढ अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥ विद्या (ज्ञान) से दूसरा ही फल सिद्ध होता है और अविद्या (कर्म) से दूसरा—ऐसा हमने बुद्धिमान लोगों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए इस तत्त्व की व्याख्या की है ॥ १० ॥ इसलिए जो मनुष्य विद्या और अविद्या (ज्ञान और कर्म) दोनों को साथ-साथ जानता है, ज्ञान और कर्म को साथ-साथ लेकर चलता है, वह कर्म द्वारा मृत्यु को पार करके, स्वभाव-सिद्ध अपनी निम्न प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्तकर, ज्ञान द्वारा अमृत को, शाश्वत जीवन को, परमपद को, प्राप्त कर लेता है ॥११॥[1]

तात्त्विक ज्ञान के लिए प्रार्थना

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

---

1. तु० "कर्मणा रहितं ज्ञानं पङ्गुना सदृशं भवेत्। न तेन प्राप्यते किंचित् न च किंचित्प्रसाध्यते ॥ एवं ज्ञानेन हीनं यत् कर्मान्धेन समं स्मृतम्। मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते ॥ (अमृतमन्थन २३।१-२)। तथा "उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञान-कर्मभ्यां जायते परमं सुखम् ॥" (योगवासिष्ठ १।१।७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, सत्य का, वास्तविक तत्त्व का मुख सुवर्णमय पात्र से, इंद्रियों के लि आकर्षक, बाह्य जगत् के पदार्थों से, ढका हुआ है। हे पूषन्! समस्त शक्तियों निधान, विश्व-पालक परमात्मन्! आप अनुग्रह करके उस ढक्कन को हटा दें जि उस सत्यधर्म का, वास्तविक तत्त्व का, दर्शन, साक्षात् प्रतीति मुझे हो सके।

२. केनोपनिषद्

मौलिक प्रश्न :

हमारे आन्तरिक और बाह्य जगत् के समस्त व्यापारों का आदि स्रोत साथ ही हमारे चिन्तन और अनुभव की विस्तृततम परिधि से बाहर अचिन्तनी अनिर्वचनीय रूप में अवस्थित उस मूलतत्त्व का, जिसको उपनिषद् अपनी भाषा ब्रह्म (या ब्रह्मन्) कहती हैं, क्या स्वरूप है? जहाँ भाषा की गति नहीं है, उसक वर्णन कैसे किया जाय? यह एक महान् प्रश्न है।

केनोपनिषद् में इसी जटिल प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है।

प्रथम खंड में हमारी वागादि इंद्रियों, मन और प्राण की क्रियाओं औ व्यापारों से ब्रह्म के स्वरूप को समझाने का यत्न किया गया है।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हमारा मन, प्राण और इन्द्रियाँ जो अपना अपना व्यापार करती रहती हैं उनको इसकी प्रेरणा अथवा शक्ति कहाँ से, किस स्रोत से प्राप्त हो रही है?[1]

इसका उत्तर यही हो सकता है कि मन आदि के व्यापार से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका स्रोत मन आदि से बाहर है। वास्तव में जो मन का मन, प्राण का प्राण और श्रोत्र आदि का भी प्रेरक है, वही तो ब्रह्म है। उसको समझकर विद्वान् मृत्यु से, समस्त अपूर्णताओंसे, ऊपर उठकर अमृतत्व का, शाश्वत शान्ति का अनुभव करता है।[2]

इन्हीं भावों को बड़े प्रभावपूर्व ढंग से, एक संगीत के रूप में, उपनिषद् आगे चलकर इस प्रकार कहा है :

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

---

१. दे० "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।" (केनोपनिषद् १।१)।

२. दे० "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाच्ँ स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केनोपनिषद् १।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१।४-८)

अर्थात्, तू उसीको ब्रह्म जान

१. जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, अपितु जिससे वाणी प्रकट होती है, तू उसीको ब्रह्म जान; न कि उसको, जिसकी जगत् में लोग उपासना करते हैं।

२. जिसका चिन्तन मन से नहीं किया जाता, किन्तु जिससे मन का चिन्तन होता है, ऐसा कहते हैं। तू उसीको ब्रह्म जान; न कि उसको, जिसकी जगत् में लोग उपासना करते हैं।

३. जिसको आँख से नहीं देखा जाता, जिसकी प्रेरणा से चाक्षुष ज्ञान होता है, तू उसीको ब्रह्म जान; न कि उसको, जिसकी जगत् में लोग उपासना करते हैं।

४. जिसको कान से नहीं सुना जाता, जिसके द्वारा यह कान सुना जाता है, तू उसीको ब्रह्म जान; न कि उसको, जिसकी जगत् में लोग उपासना करते हैं।

५. जो प्राण पर आश्रित नहीं है, जिससे प्राण अपने कार्य को करता है, तू उसीको ब्रह्म जान; न कि उसको, जिसकी जगत् में लोग उपासना करते हैं।

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता

ब्रह्म वास्तव में अनिर्वचनीय है। बाह्य विषयों के समान उसको नहीं जाना जा सकता। जो यह समझता है कि मैंने ब्रह्म को समझ लिया है, वह उसको स्वल्प ही जानता है ("यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। २।१)। द्वितीय खण्ड का विषय यही है। इस दृष्टि से वास्तव में यही कहा जा सकता है कि :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ (२।३)।

अर्थात्, जो ऐसा समझता है कि ब्रह्म को मैंने पूर्णतया नहीं समझ पाया है, वही उसको समझता है। जिसको यह अभिमान है कि मैं ब्रह्म को समझता हूँ, वह उसको नहीं समझता। जो यह कहते हैं कि हमने उसको जान लिया है, वे उसको नहीं जानते। जो ज्ञानी होते हुए भी कहते हैं कि हम उसको नहीं जानते, वास्तव में उन्हीं को ब्रह्म विज्ञात है।

अभिप्राय यह है कि समस्त विश्व में ओतप्रोत ब्रह्म साधारण प्रचलित अर्थों में हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। उसका तो लोकोत्तर 'बुद्धि' या अध्यात्म के द्वारा केवल अनुभव ही किया जा सकता है। (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठोपनिषद् १।३।१२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका यह अर्थ नहीं है कि जिज्ञासु को ब्रह्मज्ञान की ओर से उदासीन हो जा चाहिए, क्योंकि वास्तव में :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (२।५)

अर्थात्,

यदि इसी जीवन में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है,
यदि इसी जीवन में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है ।
बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्येक पदार्थ (या प्राणी) में उसके अस्तित्व को जानकर
इस लोक से जाकर (या ऊपर उठकर) अमृत हो जाते हैं ।[1]

ब्रह्म और देवों का उपाख्यान

केनोपनिषद् के तृतीय और चतुर्थ खण्डों में एक सुन्दर आलंकारिक रूपक द्वा अग्नि आदि वैदिक देवताओं का महत्त्व वास्तव में ब्रह्म-मूलक ही है, यह दिखल गया है :

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । ऐक्षन्त—'अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमा' इति । (३।१)

एक बार देवों के लिए ब्रह्म ने (असुरों पर) विजय प्राप्त की । उस ब्रह्म विजय में देवों ने अपने ही महत्त्व को अनुभव किया । उन्होंने सोचा—हमारी ही विजय है, हमारी ही यह महिमा है ।

तद्धैषां विजज्ञौ । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति । (३।२)

ब्रह्म ने उनके अभिमान को जान लिया । वह उनके सामने प्रकट हु परन्तु उन्होंने उसे नहीं जाना और सोचने लगे कि यह यक्ष (=यजनीय, पूज सत्त्व) कौन है ।

तेऽग्निमब्रुवन्—जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति ॥ भ्यद्रवत्, तमभ्यवदत्—कोऽसि इति । अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा अहमस्मीति ॥ तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति । अपीद्ँ सर्वं दहेयं यदिदं पृथि मिति ॥ (३।३-५)

तब उन्होंने अग्नि-देव से कहा : अयि अग्ने ! ठीक-ठीक पता लगाओ यह यक्ष कौन है ।

---

१. तु० बृ० उ० ४।४।१४—"इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्नि ने कहा : बहुत अच्छा।

अग्नि उसके पास दौड़कर गया।

यक्ष ने अग्नि से पूछा : तुम कौन हो ?

अग्नि ने कहा : मैं अग्नि हूँ। मैं ही जातवेदस्[1] हूँ।

यक्ष : तुममें क्या सामर्थ्य है ?

अग्नि : इस पृथ्वी पर जो कोई पदार्थ हैं उन सबको मैं जला सकता हूँ।

तस्मै तृणं निदधौ—एतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन। तन्न शशाक दग्धुम्। स तत एव निववृते। नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥ (३।६)

तब यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रखा और कहा : इसको जला दो।

वह अग्नि पूर्ण वेग से उस तिनके पर टूट पड़ा, परन्तु उसको जला न सका।

अग्नि वहीं से देवों के पास लौट आया और बोला—यह यक्ष कौन है, इसका पता मैं नहीं लगा सका।

तदनन्तर देवता-गण वायु-देव को यक्ष का पता लगाने के लिए भेजते हैं और वह भी इसी प्रकार असफल होकर लौट आता है।

तब देवता इन्द्रदेव से यही कार्य करने को कहते हैं।

तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे ॥ (३।११)

इन्द्र इसको स्वीकार करके उस यक्ष की ओर दौड़कर गया। परन्तु वह यक्ष उसके सामने से अन्तर्धान हो गया।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥ सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥ (३।१२॥४।१)

उसी स्थान पर इन्द्र की अत्यन्त सुन्दरी हिमाचल की पुत्री उमा से भेंट हो गयी। इन्द्र ने उससे पूछा कि यह यक्ष कौन था ?

उमा ने उत्तर दिया : वह तो ब्रह्म ही था। तुम देवता-गण जिस विजय पर गर्व करते थे वह वास्तव में ब्रह्म की ही विजय थी।

उमा के इस उत्तर से ही इन्द्र ने समझा कि वह ब्रह्म था।

यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र से अभिप्राय इन्द्रिय-रूपी देवों के अधिपति जीवात्मा से और उमा से अभिप्राय 'ब्रह्मविद्या' अथवा अन्तर्मुखी प्रज्ञा से है। उसी के द्वारा मनुष्य ब्रह्म को जान सकता है।[2]

---

1. 'जातवेदस्' भी अग्नि का नाम है। इसका अर्थ है जो प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ में विद्यमान रहता है।

2. तु० "विद्या उमारूपिणी।...सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या।...विरूपोऽपि विद्यावान् बहु शोभते" (केनोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. कठोपनिषद्

समस्त प्राचीन उपनिषदों में कठोपनिषद् की अपनी कई विशेषताएँ हैं। इसकी मौलिक विशेषता इस बात में है कि इसकी रचना नचिकेतस् के एक रोचक उपाख्यान[1] के आधार पर की गयी है। इसकी रोचकता का दूसरा कारण इसकी पद्यात्मकता है। अन्य प्राचीन उपनिषदों की अपेक्षा यह उपनिषद् सांख्य और योग की विचारधारा के कहीं अधिक समीप है। भगवद्गीता के साथ भी इसका स्पष्ट सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक है।[2] इसकी एक विशेषता यह भी है कि प्रारम्भिक भाग में नचिकेतस् की जिज्ञासा को छोड़कर, आगे चलकर, मुण्डकोपनिषद् के समान, प्रायेण फि किसी जिज्ञासा या प्रश्न के बिना ही, औपनिषद परम्परा से प्राप्त विचारों का प्रतिपादन, साध्यरूप के स्थान में, सिद्धरूप में ही किया गया है।

साथ ही इस उपनिषद् के प्रतिपादनों में कई ऐसी नवीनताएँ हैं जो अन्य उपनिषदों में उस रूप में नहीं मिलेंगी। उदाहरणार्थ, श्रेयः और प्रेयः मार्गों का विवेक[3], मनुष्यों में अन्तःसमीक्षण अथवा आत्म-समीक्षण की प्रवृत्ति का महत्त्व[4], आत्मा की दृष्टि से रथ-रूपी शरीर का वर्णन[5], इत्यादि। इन सबका संक्षिप्त दिग्दर्शन हम आगे करेंगे।

स्पष्टतः उपर्युक्त कारणों से प्राचीन उपनिषदों में यह उपनिषद् अपेक्षाकृत परवर्ती काल की है।

नचिकेतस् का उपाख्यान

उपनिषद् का प्रारम्भ इस प्रकार होता है: वाजश्रवस ने विश्वजित् नाम के यज्ञ में अपना सारा धन दान में दे दिया। उसके पुत्र नचिकेतस् को, जो केवल बालक ही था, यह देखकर दुःख हुआ कि उसके पिता ने जिन गौओं को दान दिया है वे निकम्मी हैं, बूढ़ी हैं, दुबली-पतली और बच्चा न देनेवाली, न दूध देनेवाली हैं। उसने साग्रह पिता से पूछा कि आप मुझे किसको देंगे? पिता ने उस उपालंभ से रोष में आकर कहा: मैं तुझे यम को देता हूँ। नचिकेतस् पिता

---

१. इस उपाख्यान का मूल **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** (३।११।८।१-६) में पाया जाता है। डा० राधाकृष्णन् ने इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद (१०।१३५) का भी उल्लेख किया है। (दे० राधाकृष्णन् लिखित The Principal Upaniṣads, १९५१)।

२. तु० कठोप० (१।३।१०-११) और (२।३।७-८) तथा (१।३।१३) और (२।३।१०, १८)। साथ ही गीता (८।११; २।२०, १९; १५।१-३) के साथ क्रमशः कठोप० (१।२।१५, १८,१९; २।३।१) की तुलना कीजिए।

३. तु० कठोप० (१।२।१-२)।

४. तु० कठोप० (२।१।१)।

५. तु० कठोप० (१।३।३-९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दों का पालन करना चाहता है और यम के घर पहुँचता है। यम घर पर नहीं हैं, बाहर गये हैं। उनकी अनुपस्थिति में नचिकेतस् बिना भोजन के प्रतीक्षा करता है। यम तीन रातों के बाद लौटते हैं। नचिकेतस् को बिना भोजन के प्रतीक्षा करते हुए जानकर उन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और वे दुःखी होते हैं। वे आदरणीय अतिथि के रूप में नचिकेतस् का उचित सत्कार करते हैं और फिर उससे उन तीन रात्रियों में से एक-एक रात्रि के लिए एक-एक वर माँगने को कहते हैं।

नचिकेतस् तीन वर माँगता है।

उसका पहला वर यह है : 'मेरे पिता का मेरे प्रति रोष दूर हो जाय। उनका चित्त शान्त हो जाय और आपके पास से विदा लेकर लौटने पर वे प्रसन्न होकर मेरे साथ बातचीत करें।'

यम इस वर की पूर्ति का वचन देते हैं।

नचिकेतस् दूसरे वर के रूप में, उस यज्ञिय अग्नि का उपदेश चाहता है जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। उस स्वर्ग की, जहाँ न भय है, न बुढ़ापा और जहाँ भूख-प्यास को पार करके मनुष्य शोक से ऊपर उठकर आनन्द में ही मग्न रहता है।

यम इस वर को भी दे देते हैं।

तीसरे वर के सम्बन्ध में नचिकेतस् यम से कहता है :

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
स्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥ (१।१।२०)

अर्थात्,

मरे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में जो यह संशय है;
कोई कहते हैं, 'रहता है', कोई कहते हैं 'नहीं रहता है';
इस विषय को मैं आपके उपदेश द्वारा समझना चाहता हूँ।
मेरे वरों में यही तीसरा वर है।

नचिकेतस् की अध्यात्म-विद्या-विषयक इस जिज्ञासा को सुनकर यम तरह-तरह के प्रलोभन देकर उसे इससे विरत करना चाहते हैं।

नचिकेतस् उन मनोमोहक प्रलोभनों से प्रभावित नहीं होता। वह उनको क्षणभंगुर बताता हुआ, पुनः उसी वर को आग्रह-पूर्वक माँगता है।

इस प्रकार नचिकेतस् को अध्यात्म-विद्या का पात्र और जिज्ञासु समझकर, उपनिषद् के अवशिष्ट भाग में यम द्वारा विभिन्न दृष्टियों से अध्यात्म-विद्या की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

आगे उसीका दिग्दर्शन हम कराना चाहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रेयः और प्रेयः का विवेचन

मनुष्य स्वभावतः सुख के मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। यहाँ सुख से अभिप्राय इन्द्रिय-जन्य सुख से ही है। इसी प्रवृत्ति को उपनिषदों की भाषा में 'प्रेयस्' कहा जाता है। अन्तःसमीक्षण की ओर झुकने पर मनुष्य को एक दूसरे ही मार्ग के दर्शन होते हैं, जिसको आत्म-कल्याण या कर्तव्य-बुद्धि का मार्ग भी कहा जा सकता है। इसीको उपनिषदों की भाषा में 'श्रेयस्' कहा गया है।

आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर चलनेवाले के लिए श्रेयः और प्रेयः के भेद को सबसे पहले समझ लेना आवश्यक है। इसीलिए यम नचिकेतस् को प्रथमतः यही समझाते हैं :

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्
ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

(१।२।१-२)

अर्थात्, श्रेय[1] और प्रेय[2] दोनों भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

भिन्न-भिन्न लक्ष्योंवाले वे दोनों मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते हैं;

उन दोनों में से श्रेय को ग्रहण करनेवाले का भला होता है;

पर जो प्रेय का वरण करता है वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

श्रेय और प्रेय, ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं;

बुद्धिमान् सम्यक्तया विचारकर दोनों में विवेक करता है;

बुद्धिमान् प्रेय को छोड़कर श्रेय को ग्रहण करता है;

पर मन्दबुद्धि सांसारिक सुखोपभोग के प्रलोभन से प्रेय को स्वीकार करता है।

---

१. 'श्रेयस्' का संबंध सुख-दुःख की भावना से ऊपर उठकर विशुद्ध आत्म-कल्याण अर्थात् ... की भावना से है।

२. 'प्रेयस्' के साथ 'प्रिय, आकर्षक या रोचक' लगने की भावना है।

३. आगे चलकर इसी प्रसंग में श्रेय और प्रेय मार्गों के लिए क्रमशः 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। (तु० कठोप० १।२।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्म-देव का स्वरूप

श्रेय-मार्ग के अवलम्बन से मनुष्य जिस परमदेव को पा सकता है उसके स्वरूप आदि का वर्णन यम इस प्रकार करते हैं :

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(१।२।१२)

अर्थात्, गूढ रूप से सर्वत्र व्यापक, हृदय-रूपी गुफा में स्थित, संसार के गहन वन में छिपा हुआ और सनातन उस दुर्दर्शनीय परमात्म-देव को, आत्म-विषयक योग-साधना द्वारा जानकर, बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष और शोक को त्याग देता है, अर्थात् हर्ष और शोक को अनुभव करनेवाली मनःस्थिति से ऊपर उठ जाता है।

आत्मा अजन्मा, नित्य और अविनाशी है

मृत्युविषयक नचिकेतस् के प्रश्न का उत्तर निम्नस्थ पद्य में दिया गया है :

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(१।२।१८)

अर्थात् , विपश्चित् (= यह चेतन आत्मा) न तो उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो स्वयं किसी से हुआ है, न कोई इससे हुआ है, अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह जन्म-रहित, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता है।

पद्य के अन्तिम भाग ('न हन्यते हन्यमाने शरीरे' = 'शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता है') से यह स्पष्ट है कि यह वर्णन जीवात्मा का ही है, न कि परमात्मा या ब्रह्म का।

आत्मा का स्वरूप और दर्शन

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः[१] प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

(१।२।२०)

१. 'धातुः' यह पाठ वैष्णव आचार्यों को अभिप्रेत है। शंकराचार्य के अनुसार 'धातु-' पाठ है और उसका अर्थ वे 'मन और इन्द्रियाँ' करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, इस जन्तु, प्राणी या देहधारी मनुष्य की हृदय-रूपी गुफा में सूक्ष्म सूक्ष्मतर और महान् से भी महान् आत्मा स्थित है। आत्मा की उस महिमा का दर्शन विधाता (परमात्मा) की कृपा से, कामनाओं से और शोक से रहित साधक को होता है।

इस पद्य में 'आत्मा' से अभिप्राय स्पष्टतः परमात्मा से ही हो सकता है।

आत्म-साक्षात्कार का नैतिक आधार

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(१।२।२४)

अर्थात्,

जो दुराचार से विरत नहीं है,
जो शान्त और एकाग्र-चित्त नहीं है,
जिसका चित्त असंयत है,
वह केवल ज्ञान-मात्र से, कोरे बुद्धिवाद से,
परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

रथ और रथी का रूपक

मानव-जीवन एक तीर्थ-यात्रा के समान है। आत्मा स्वयं एक यात्री या रथी है और शरीर उसका रथ है। उसके द्वारा वह 'तद्विष्णोः परमं पदम्' पवित्र तथा सर्वोत्कृष्ट विष्णु-पद, भगवान् के परमधाम, तक पहुँचना चाहता है[1]।

इसी रूपक का हृदयाकर्षक सुन्दर वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है :

आत्मान् ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

(१।३।३-४)

अर्थात्,

१. तू आत्मा को रथी और शरीर को रथ समझ,
बुद्धि को सारथी और मन को प्रग्रह (लगाम) समझ।
२. मनीषी लोग इन्द्रियों को घोड़े,
विषयों को उनके विचरने का मार्ग,

---

१. तु० "रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः। तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ (विदुरनीति २।५९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और इन्द्रियों तथा मन से युक्त आत्मा को
भोक्ता बतलाते हैं।
ऐसी अवस्था में

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(१।३।५-६)

अर्थात्,

३. जो बुद्धिमान् नहीं है,
जिसका मन सदा अव्यवस्थित है,
उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रहतीं,
जैसे दुष्ट घोड़े सारथी के वश में नहीं रहते।

४. परन्तु जो बुद्धिमान् है,
जिसका मन सदा व्यवस्थित है,
उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में रहती हैं,
जैसे अच्छे घोड़े सारथी के अधीन रहते हैं।

इसलिए

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति 'तद्विष्णोः परमं पदम्॥'[१]

(१।३।७–९)

५. जो कोई बुद्धिमान् नहीं होता,
जो असंयतचित्त और सदा अपवित्र रहता है,
वह उस (परम) पद को नहीं पहुँच पाता,
प्रत्युत संसार को ही प्राप्त होता है।
अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में ही घूमता रहता है।

६. परन्तु जो मनुष्य विज्ञानवान् होता है,
संयत-चित्त और सदा पवित्र रहता है,

१. तु० "तद्विष्णोः परमं पदम्" (ऋग्० १।२२।२०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह उस पद को प्राप्त कर लेता है
जहाँ से वह पुनः जन्म नहीं लेता।

७. जो मनुष्य विवेकशील बुद्धि-रूप सारथी से युक्त है
और जिसका मन ठीक तरह से लगाम का काम करता है,
वह जीवन-यात्रा के लक्ष्य-भूत विष्णु के,
सर्वत्र व्यापक परमात्मा के, परमपद को प्राप्त कर लेता है।

औपनिषद धारा का सुप्रसिद्ध उद्‌बोधन

ऊपर अध्यात्म-मार्गियों की जीवन-यात्रा का वर्णन किया गया है। नीचे की श्रुति में उन्हीं को लक्ष्य करके स्फूर्तिप्रद उद्‌बोधन किया गया है, जो अपनी हृदयंगमता के कारण समस्त उपनिषदों में अद्वितीय है।

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ (१।३।१४)

अर्थात्,

अयि अध्यात्म-मार्ग के पथिको!
उठो! जागो!
श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो!
तत्त्वज्ञानी उस दुर्गम अध्यात्म-मार्ग को
छुरे की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के समान
बतलाते हैं।

अन्तः-(आत्म-)समीक्षण का महत्त्व

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (२।१।१)

अर्थात्, स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर जानेवाला बनाया है। इसीलिए मनुष्य स्वभावतः बाह्य विषयों को ही देखता है; अपनी अन्तरात्मा को नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् ऐसा होता है जो अपनी चक्षुरादि इन्द्रियों को रोककर, अमृतत्व (शाश्वत शान्ति) की कामना से, अन्तःसमीक्षण अथवा आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता है।[१]

१. तु० "वृत्तयो निस्सरन्त्योऽमूः स्फुलिङ्गा इव वह्नितः। आत्मनोऽनारतं शक्तिं विक्षिपन्ति समन्ततः॥ तासां जाते निरोधे तु क्रमशोऽध्यात्मचेतसः। आत्मनः स्वं महत्तेजः स्थिरत्वे भासते॥" (रश्मिमाला ७५।१-२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिप्राय यह है कि शाश्वत शान्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सबसे पहले आत्म-निरीक्षण की अनिवार्य आवश्यकता है।

अविवेकी और विवेकी का अन्तर

पराचः कामाननुयन्ति बालास्
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

(२।१।२)

अर्थात्, मूढ जन ही बाह्य विषयों के पीछे दौड़ते हैं; वे मृत्यु के विस्तृत जाल में फँसे रहते हैं। किन्तु बुद्धिमान् लोग अमृतत्व को जानकर अस्थिर बाह्य वस्तुओं में नित्यवस्तु की कामना नहीं करते।

वह नित्यवस्तु वास्तव में परमात्मा ही है।

जीवात्मा की परमात्मा से अभिन्नता[१]

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥

(२।१।५)

अर्थात्, जो कर्म-फल-भोक्ता इस जीवात्मा को समीप से वास्तव में भूत और भविष्य जगत् के शासक रूप में जानता है, अर्थात् विश्व के संचालक परमेश्वर से अभिन्न समझता है, वह उस परमात्मा से दुराव नहीं करता। यही तो वह परमात्मतत्त्व है (जिसको अयि नचिकेतस्! तुम जानना चाहते हो)।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

(२।२।७)

अर्थात्, (मरने के अनन्तर) अपने-अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार शरीर धारण करने के लिए कितने ही जीव तत्तद् योनियों को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भाव (वनस्पति-जगत्) को प्राप्त हो जाते हैं।

परमात्मा की सर्वरूपता

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

[१] इसी सम्बन्ध में तु० ब्रह्मसूत्र १।३।२४-२५ तथा कठोपनिषद् २।१।१०-१३ और २।२ १,४।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(२।२।९-१०

अर्थात्,

१. जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि
प्रत्येक रूप (वस्तु) में तद्रूप हो रही है;
उसी प्रकार समस्त भूतों (प्राणियों) का एक अन्तरात्मा
प्रत्येक रूप में तद्रूप हो रहा है,
और उससे बाहर भी है ॥

२. जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही वायु
प्रत्येक रूप (वस्तु) में तद्रूप हो रही है;
उसी प्रकार समस्त भूतों का एक अन्तरात्मा
प्रत्येक रूप में तद्रूप हो रहा है,
और उससे बाहर भी है ॥

शाश्वत सुख-शान्ति का स्रोत

···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।
···तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(२।२।१२-१

अर्थात्, जो ज्ञानी पुरुष उस सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा को अपने भीतर दे हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं ।

उसीके प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित है

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(२।२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्,

उस परमात्मा को न तो सूर्य,
न चन्द्र और तारे, नये बिजलियाँ प्रकाशित करती हैं;
फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है ?
उसीके प्रकाशित होने से सब सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं,
उसीके प्रकाश से यह सारा विश्व भाषित हो रहा है।

संसार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तत् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥

(२।३।१)

अर्थात्, जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं ऐसा यह (विचित्र संसार-रूपी) अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष सनातन (=अनादि से वर्तमान) है।[1] (इसका जो मूल है) वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप तत्त्व है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है। समस्त लोक उसीमें आश्रित हैं; कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही तो वह मूलतत्त्व है।

सर्वत्र परमात्मा का ही शासन है

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(२।३।३)

अर्थात्, इसी (ब्रह्म) के भय से अग्नि जलती है, इसीके भय से सूर्य तपता है। इसीके भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है।

ब्रह्म अथवा अमृतत्व की प्राप्ति

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (२।३।९)

जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(२।३।१४)

जब इस मनुष्य के हृदय में रहनेवाली सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब वह अमृत हो जाता है और इसी जीवन में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

---

1. तु० भगवद्गीता। १५।१-४। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।९।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छठा परिच्छेद

अमृत-स्रोत [२]

४. प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेद की पैप्पलाद-शाखा से सम्बन्ध रखनेवाली इस उपनिषद् का मह कई दृष्टियों से है। इसकी मुख्य विशेषता प्राण-विद्या के प्रतिपादन में है; साथ ओंकारोपासना का महत्त्व और सोलह कलाओंवाले पुरुष का वर्णन भी इसमें दि गया है।

अध्यात्म-विषयक जिज्ञासाओं के साथ सुकेशा आदि छह विद्वान् विनय-पुर भगवान् पिप्पलाद ऋषि की सेवा में उपस्थित होते हैं। ऋषि उनसे कहते हैं कि य आप लोग तपस्वी विद्वान् हैं, फिर भी आप हमारे आश्रम में एक वर्ष तक श्रद्धापू तप और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करें, तदनन्तर आप अपने प्रश्नों को करें, ह यथासंभव आपका समाधान करने का यत्न करेंगे।

एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत और तपस्या का जीवन व्यतीत करने के अनन्त उन सबने क्रमशः पिप्पलाद ऋषि से छह प्रश्न पूछे और ऋषि ने उनका समाधा किया। इस उपनिषद् के 'प्रश्न' कहे जानेवाले छह खण्डों में क्रमशः उन प्रश्नों और उनके समाधानों का वर्णन है।

वे छह प्रश्न संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(१) यह सारी प्रजा (=प्राणि-जगत्) किससे उत्पन्न होती है ?

(२) कितनी दैवी शक्तियाँ प्रजा को धारण करती हैं ? कौन इस शरीर को प्रकाशित करती हैं ? उन दैवी शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है ?

(३) यह प्राण किससे उत्पन्न होता है ? इस शरीर में कैसे आता है, कैसे रह है ? कैसे शरीर से बाहर निकलता है ? और कैसे बाह्य और अध्यात्म (आन्तरिक जगत् को धारण करता है ?

(४) मनुष्य की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं का आध्यात्मि रहस्य क्या है ? मनुष्य के जीवन की समस्त कार्यकर शक्तियाँ अन्ततोगत्वा किस त में अवस्थित हैं ?

(५) ब्रह्म-रूप ओंकार की उपासना का क्या महत्त्व है ?

(६) षोडशकल अर्थात् सोलह कलाओंवाला पुरुष कहाँ है ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन प्रश्नों का आध्यात्मिक दृष्टि से उत्तर इस उपनिषद् में दिया गया है। पर यहाँ प्राण-विद्या के विषय में ही कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसका विस्तार से प्रतिपादन ऊपर दिये हुए प्रथम तीन प्रश्नों के उत्तर में इस उपनिषद् में किया गया है।

प्राणविद्या का महत्त्व

जिस रूप में, प्राण के महत्त्व का प्रतिपादन इस उपनिषद् के प्रथम तीन प्रश्नों में किया गया है, उससे स्पष्ट है कि 'प्राण' शब्द का प्रयोग यहाँ बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है।

'प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से प्रजापति ने प्राण (समष्टि-जीवनी-शक्ति) और रयि (नाना रूपों में आनेवाली प्रकृति) इन दो मूल तत्त्वों को उत्पन्न किया और सोचा कि नाना प्रकार के प्राणियों की सृष्टि इन्हीं के द्वारा हो जायगी।'[1]

'यह आदित्य प्राण-रूप है'; 'प्राण-शक्ति विश्वरूप है, अर्थात् समस्त सृष्टि में व्यापक है'; 'इन्द्रादि देवताओं का देवतात्व प्राण-शक्ति के ही आधार पर है'; 'सारा विश्व प्राण के वश में है'; 'बाह्य तथा आन्तरिक जगत् के समस्त व्यापार प्राणशक्ति पर ही आश्रित हैं।'[2] इत्यादि प्रतिपादनों से स्पष्ट है कि यहाँ प्राण से अभिप्राय सृष्टि से उस व्यापक तत्त्व से है जो चराचर जगत् को क्रियाशक्ति प्रदान करता है और साथ ही प्राणियों की जीवनी-शक्ति के मूल में अवस्थित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के ऋषियों ने ही विशेषतः इस विद्या का प्रकाश किया था और इसको अपने जीवन में उतारा था। इसीलिए, जहाँ अन्य वेदों में प्राण का प्रायेण साधारण अर्थ में ही बहुत थोड़ा उल्लेख आया है, वहाँ अथर्ववेद में प्राण का उल्लेख कहीं अधिक स्थलों में हुआ है। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का चतुर्थ सूक्त तो, जिसमें २६ मन्त्र हैं, पूरा का पूरा प्राणपरक ही है, और उसमें प्राण का वर्णन बड़े व्यापक अर्थों में किया गया है; जैसे :

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।

(अथर्व० ११।४।१, १०)

अर्थात्, उस प्राण के लिए हमारा नमस्कार है, जिसके वश में यह सब-कुछ है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब-कुछ स्थित है। जो श्वास लेता है और जो श्वास नहीं लेता है, प्राण ही उस सबका स्वामी है।

नीचे दिये हुए उद्धरणों से विदित होगा कि प्रश्नोपनिषद् का प्राण का वर्णन बहुत-कुछ अथर्ववेद के उक्त सूक्त के वर्णन से समानता रखता है।

१. प्रश्नोप० १।४।
२. देखिए प्रश्नोप० १।५, ७ तथा २।९-१३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड में "भूरग्नये प्राणाय स्वाहा", "भुववायवेऽपानाय स्वाहा", "स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा" इस प्रकार की प्राणाहुतियों से भी प्रतीत होता है कि वैदिक युग में प्राण-विद्या की चेतना विद्यमान थी।[1]

परन्तु वैदिक युग के अनन्तर शनैः-शनैः उस चेतना का लोप होता गया। पिछले काल के दार्शनिक चिन्तन के युग में तो उसका प्रायः बिलकुल ही ह्रास हो गया। इसीलिए पीछे यह धारणा होने लगी कि उपर्युक्त दृष्टि से एक व्यापक मूलतत्त्व के रूप में प्राण के वर्णन वास्तव में ब्रह्म-परक ही हैं।[2] स्पष्टतः वैदिककालीन ऋषियों का ऐसा अभिप्राय नहीं था। वे प्राण को व्यष्टिगत तथा समष्टिगत जीवनी-शक्ति का मूलाधार मानते थे।

आवश्यकता है कि आज के वैज्ञानिक युग में अनुसन्धानों द्वारा प्राण-विद्या का पुनरुद्धार किया जाय, और साथ ही उसका आयुर्वेद से सम्बन्ध स्थापित किया जाय। निश्चय ही इससे आयुष्य, स्वास्थ्य और आरोग्य की समस्याओं पर एक नूतन प्रकाश हमको मिल सकेगा।[3]

अब इस विषय में प्रश्नोपनिषद् के कुछ उद्धरणों को देखिए :

प्राण और रयि : दो मूल तत्त्व

"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।"

(१।४)

अर्थात्, प्रजापति को कामना हुई कि प्रजाओं की सृष्टि की जाय। उसने तप किया। तप करने के अनन्तर उसने रयि और प्राण के जोड़े को उत्पन्न किया। उसने सोचा कि इन्हीं दो तत्त्वों से विभिन्न प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि की जा सकेगी।

१. तु० "ऐन्द्रः प्राणः" (यजु० ६।२०)। "प्राणो यज्ञेन कल्पताम्" (यजु० ९।२१, १८-२९ इत्यादि)।

२. तु० ब्रह्मसूत्र १।१।२३ ("अत एव प्राणः") पर शांकर-भाष्य।

३. यह प्रसन्नता की बात है कि पश्चिम में विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर जा रहा है। विटैमिनों की खोज इसी आधार पर की गयी है। होमियोपैथी-चिकित्सा-पद्धति का तो विकास ही इस सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। उदाहरणार्थ, उक्त पद्धति के आद्याचार्य हनीमन (Hahnemann) के इस कथन को देखिए :—

"In the healthy condition of man, the spiritual vital force, the dynamis that animates the material body, rules with unbounded sway, and retains all parts of the organism in admirable, harmonious, vital operation, as regards both sansations and functions, so that our indwelling, reason-gifted mind can freely employ this healthy instrument for the higher purposes of our living existence." (*Lectures on Homoeopathic Phjlosophy*, P. 67, by J. T. Kent, Calcutta, 1957.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राण और रयि का स्वरूप

"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः ।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च ।
तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ।"

(१।५)

अर्थात्, सूर्य ही प्राण है और चन्द्रमा ही रयि है। जो भी कुछ आकारवाला (पृथ्वी, जल और तेज) तथा आकार-रहित (आकाश और वायु) भौतिक तत्त्व है वह रयि ही है। इसलिए समस्त मूर्तरूप भौतिक पदार्थों को रयि ही समझना चाहिए।

यहाँ सूर्य और चन्द्रमा को प्रतीक रूप से क्रमशः समष्टि-जीवनी-शक्ति-रूप प्राण का और प्राणियों के स्थूल-शरीरों की पोषक-रूप रयि का स्थानीय बतलाया गया है।

आगे चलकर वर्ष के उत्तरायण भाग, मास के शुक्ल पक्ष और दिन का सम्बन्ध प्राण से, और वर्ष के दक्षिणायन भाग, मास के कृष्ण-पक्ष और रात्रि का सम्बन्ध रयि से दिखलाया गया है।

इसी विचारधारा का पर्यवसान अन्त में मानव-जीवन के दो प्रकार के मार्गों की व्याख्या में होता है। एक मार्ग श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य और आत्म-ज्ञान का है, और दूसरा सांसारिक जीवन का निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम का। एक में आत्मा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष और शाश्वत जीवन का लक्ष्य है, और दूसरे में मनुष्य की स्वाभाविक विषयोपभोग की प्रवृत्ति का अनुसरण। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हीं दो मार्गों को क्रमशः उत्तरायण-मार्ग और दक्षिणायन-मार्ग कहा गया है। एक में प्राणतत्त्व का परमोत्कर्ष होता है और दूसरे में रयि-तत्त्व का प्राधान्य रहता है।

प्राण का महत्त्व

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥

(२।५-६)

अर्थात्, अग्नि, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, प्रकृति तथा व्यक्ताव्यक्त समस्त सृष्टि तथा अमृतत्व में भी मूलतः प्राणतत्त्व ही कार्य कर रहा है। साथ ही मनुष्य-समाज की ज्ञान-सम्बन्धी, धार्मिक अथवा सामाजिक समस्त उपलब्धियाँ भी अन्ततोगत्वा प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं।

अभिप्राय यह है कि विश्व की समस्त गति, प्रगति, प्रवृत्ति और विकास प्राण-तत्त्व की ही अनन्त महिमा का निदर्शन है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राण-विद्या के ज्ञान का फल

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य
प्रजा हीयतेऽमृतो भवति ।

(३।११

अर्थात् , जो विद्वान् प्राण के रहस्य को इस प्रकार जानता है, उसकी पुत्र पौत्रादि प्रजा नष्ट नहीं होती और वह स्वयं अमृत[1] हो जाता है अर्थात् सावधानता के साथ जीवन के शाश्वत मूल्यों का अनुगामी बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि प्राण-विद्या से लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की वास्तविक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

५. मुण्डकोपनिषद्

इस उपनिषद् का सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक-शाखा से है। प्राचीन उपनिषदों में यही एक उपनिषद् है जिसमें 'संन्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है इसका नाम (मुण्डक-उपनिषद्) भी कदाचित् संन्यासाश्रमियों के साथ इसके घनि सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। इसके अनेक पद्य अंशतः अथवा पूर्णतः कठोपनि के पद्यों से समानता रखते हैं।[3]

अनेक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण विचार इस उपनिषद् में पाये जाते हैं, जिनमें कुछ का दिग्दर्शन कराना यहाँ हम आवश्यक समझते हैं।

परा और अपरा विद्या

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"

(१।१।४-

अर्थात्, ब्रह्मज्ञानियों का कहना है कि दो विद्याएँ मनुष्य को जाननी चाहि एक परा दूसरी अपरा। उनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये च वेद, और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष—ये छह वेदांग, इन अपरा विद्या समझना चाहिए। और जिसके द्वारा उस अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) ज्ञान होता है, वह परा विद्या है।

१. तु० "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥ (सनत्सुजात का धृतराष्ट्र प्रति वचन। महाभारत, उद्योगपर्व, ४२।४)।
२. देखिए, ३।२।६। तथा तुलना कीजिए—१।२।११।
३. तु० कठोप० १।२।२३ तथा मु० उ० ३।२।३; कठोप० २।२।१५ तथा मु० उ० २।२ कठोप० १।२।५ तथा मु० उ० १।२।८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अक्षर ब्रह्म से विश्व की सृष्टि

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

(१।१।७)

अर्थात्,

जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है;
जिस प्रकार भूमि में तरह-तरह की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं;
जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोम उत्पन्न होते हैं;
उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से इस विश्व की सृष्टि होती है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की असारता

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः···
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

(१।२।७)

अर्थात्, ये नाना प्रकार के वैदिक यज्ञ अदृढ (दुर्बल अतएव अविश्वसनीय) नौकाओं के समान हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। जो मूर्ख लोग 'यही कल्याण का साधन है' ऐसा मानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

(१।२।८)

अर्थात्, अविद्या में फँसे हुए, पर अपने को बुद्धिमान् और पण्डित समझनेवाले, वे मूढ याज्ञिक, अन्धे से ले जाये जाते हुए अन्धों के समान, अनेक पीडाओं से पीडित होते हुए इधर-उधर भटकते रहते हैं।

अविनाशी ब्रह्म का विराट् स्वरूप

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(२।१।४)

अर्थात्, अग्नि (अथवा द्युलोक) इसका सिर है। चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं। दिशाएं कान और वाणी प्रसिद्ध वेद हैं। वायु इसका प्राण है और विश्व इसका हृदय है, इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यही पुरुष सब भूतों का अन्तरात्मा है।

ब्रह्म-प्राप्ति में धनुर्बाण का प्रसिद्ध रूपक

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(२।२।३-४)

अर्थात्, उपनिषद् द्वारा वर्णित महान् अस्त्र (=ब्रह्मविद्या) रूप धनुष को लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किये हुए बाण को चढ़ा, फिर उसे खींचकर, सोम्य ! ब्रह्म में तन्मयचित्त से उस अक्षर (=अविनाशी ब्रह्म) रूप लक्ष्य का वेधन कर। (अथवा ऐसा समझो कि) प्रणव अथवा ओंकार धनुष है और उपासक का आत्मा ही बाण है। ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमाद को छोड़कर उसका वेधन करना चाहिए। उपासक बाण के समान तन्मय हो जाय।

ब्रह्म-साक्षात्कार का फल

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(२।२।८)

अर्थात्, परावर (कार्यकारण-रूप) ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।

ब्रह्म का ज्योतिर्मय स्वरूप

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥

(२।२।९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, प्रकाशमय परम कोश (हृदयाकाश) में निर्मल और निष्कल (=निरवयव) ब्रह्म विद्यमान है। वह शुद्ध है और ज्योतियों की ज्योति है। आत्मज्ञानी ही उसको जानते हैं।

ब्रह्म की सर्व-व्यापकता की भावना

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्
ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

(२।२।११)

अर्थात्,

यह अमृत ब्रह्म ही (मेरे) सामने है, ब्रह्म ही पीछे है;
ब्रह्म ही (मेरी) दायीं और बायीं ओर है;
(मेरे) नीचे और ऊपर ब्रह्म ही फैला हुआ है;
यह सब कुछ वरिष्ठ (=श्रेष्ठतम) ब्रह्म ही है।

जीव और ब्रह्म का सख्य-भाव और दो पक्षियों का प्रसिद्ध रूपक

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(३।१।१)

अर्थात्,

साथ-साथ रहनेवाले, परस्पर सख्य रखनेवाले
दो पक्षी (जीव और परमात्मा) एक ही वृक्ष
(शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं।
उनमें से एक (जीव) उस वृक्ष के फल का स्वाद लेकर
उपयोग करता है
और दूसरा भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।

वैदिक विचारधारा का यह एक पुराना सुप्रसिद्ध रूपक है। जीव और ब्रह्म दोनों का सम्बन्ध इस शरीर से है। दोनों का एक प्रकार से परस्पर सख्य-भाव है। जीव इस शरीर में अपने कर्म-फलों का उपभोग करता है; पर ब्रह्म साक्षी के रूप में केवल देखता रहता है।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सूक्त (ऋग्० १।१६४) में यह मन्त्र इसी रूप में आया है और वहाँ इसकी संख्या २० है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् (४।६) में भी यह मन्त्र दिया हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्म-दर्शन के साधन

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(३।१।५

अर्थात्, यह आत्मा केवल सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य द्वारा ही सदा प्रा[प्त] किया जा सकता है। वह शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा शरीर के भीतर ही विराजमान है सब प्रकार के दोषों से रहित यतिजन ही उसको देखते हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्-
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

(३।२।४

अर्थात्, बल-हीन मनुष्य इस आत्मा को नहीं पा सकता। प्रमाद से अथवा शुष्क त[प] से भी इसको कोई नहीं पा सकता। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष इन उपर्युक्त उपा[यों] से प्रयत्न करता है उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश कर जाता है।

दृढ धारणा का महत्त्व

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

(३।१।१०

अर्थात्, विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य जिस-जिस लोक का चिन्तन करता है [और] जिन-जिन भोगों की कामना करता है, वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भो[गों] को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जिसे ऐश्वर्य अथवा समृद्धि की कामना है [उसे] आत्मज्ञानी की अर्चना करनी चाहिए।

ब्रह्म-प्राप्ति में नदी-समुद्र-संगम का दृष्टान्त

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽ-
स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(३।२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जैसे प्रवहण-शील नदियाँ अपने नाम-रूप अथवा व्यक्तित्व को छोड़कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी मनुष्य नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

६. माण्डूक्य-उपनिषद्

इस उपनिषद् के विषय की सामान्य रूप से चर्चा पहले की जा चुकी है।

प्राचीन उपनिषदों में ब्रह्म-प्राप्ति तथा ब्रह्मोपासना दोनों की दृष्टि से ओंकार (प्रणव) का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। प्रश्न, कठ और छान्दोग्य उपनिषदों में विशेष रूप से ओंकार का वर्णन है।[१] इस उपनिषद् का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही ओ३म् है।

शास्त्रों में परमात्मा का मुख्य वाचक शब्द ओंकार बतलाया गया है।[२] इस उपनिषद् में वाच्यवाचक का अभेद मानकर **"ओंकार आत्मैव"** (१२) = ओम् ही आत्मा अथवा परमात्मा है, यह कहा गया है। ओंकार के अ, उ, म् और मात्रा-रहित अव्यवहार्य रूप (अनन्त में लीन हो जानेवाला अन्तिम रूप) इन चार अंशों की आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और प्रपंचोपशम शिवात्मक तुरीय अवस्थाओं[३] के साथ अभिन्नता के प्रतिपादन द्वारा परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और इस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति ही इस उपनिषद् का मुख्य लक्ष्य है।

इसीलिए इस उपनिषद् का मुख्य सूत्र है :

संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद (१२)

अर्थात्, जो मनुष्य अन्तरवेक्षण द्वारा अपनी ही आत्मा की जाग्रत् आदि अवस्थाओं पर विचार करता है वही उसकी तुरीय (चतुर्थ) अवस्था में परमात्मा के शिवस्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

अध्यात्मोपासना का यही वास्तविक रहस्य है।[४]

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ वेद-मन्त्रों में प्रायेण आधिभौतिक अथवा आधिदैविक दृष्टियों द्वारा परमतत्त्व तक पहुँचने का यत्न किया गया है, वहाँ उपनिषदों की दृष्टि आध्यात्मिक ही है।

यही उपनिषदों का अध्यात्म-योग[५] है।

---

१. उदाहरणार्थ देखिए : प्रश्नोप० (प्रश्न ५), कठोप० (१।२।१५-१७), छा० उ० (१।१।१)।
२. तु० "तस्य वाचकः प्रणवः" (योगसूत्र १।२७)।
३. आत्मा की इन चार अवस्थाओं के लिए यथाक्रम वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय अथवा शिव ये चार पारिभाषिक नाम इस उपनिषद् में दिये गये हैं।
४. यहाँ तुलना कीजिए : कठोप० (१।३।१०-१३)।
५. तु० "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।" (कठोप० १।२।१२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. तैत्तिरीय-उपनिषद्

इस उपनिषद् का कई दृष्टियों से अद्वितीय महत्त्व है। इसके तीन प्रपाठकों (=प्रकरणों) में प्रथम का नाम शिक्षावल्ली है। यह छोटा-सा प्रकरण उपनिषत्काल के आचार्य-कुलों के उदात्त और पवित्र वातावरण का जैसा स्पष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है, वैसा उपनिषदों में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। उस चित्र की हृदयाकर्षक झाँकी हम ऊपर तीसरे तथा चौथे परिच्छेदों में दिखला चुके हैं।

"सत्यं वद। धर्मं चर" वाला स्नातक के प्रति आचार्य का उपदेश वैदिक साहित्य की शाश्वत निधि है। इसीलिए आजकल भारतीय विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त भाषणों में उसका उल्लेख प्रायेण आता है।

इस उपनिषद् का दूसरा प्रपाठक ब्रह्मानन्दवल्ली है। उसका हृदय इसकी प्रारम्भिक श्रुति में ही हमारे सामने रख दिया गया है :

> ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता।
> सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
> यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
> सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ (२।१)

अर्थात्, ब्रह्मज्ञानी ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्तव्य लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसी तथ्य को आगे दी हुई श्रुति में बतलाया गया है :

"ब्रह्म सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त है। वह परम-दिव्यलोक-स्थानीय हृदय-रूपी गुफा में अवस्थित है। जो उसको जानता है वह ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म के साथ मानो समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।"

ब्रह्मज्ञानी की उस अवस्था का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं :

> यल्लब्ध्वा नापरं किंचिल्लब्धव्यमवशिष्यते।
> यज्ज्ञात्वा नापरं किंचिज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥[१]

अर्थात्, जिस स्थिति को पाकर कोई अन्य वस्तु प्राप्त करने को शेष नहीं रहती, जिसको जानकर कोई अन्य ज्ञातव्य वस्तु शेष नहीं रहती।

अन्नमय आदि पाँच कोश

ब्रह्म हृदय की गुहा में अवस्थित है। वहाँ तक पहुँचने का मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। वह मार्ग अपने ही अन्दर है। उसकी पाँच मंजिलें हैं, एक के अन्दर एक पाँच कोश या कोठरियाँ हैं। अन्तिम कोठरी ही वह गुहा है जहाँ आनन्दमय ब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं।

---

१. जीवनज्योतिः अथवा वैदिकगीताञ्जलि (१०।१०५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वे पाँच कोश हैं : (१) अन्नमय कोश, (२) प्राणमय कोश, (३) मनोमय कोश, (४) विज्ञानमय कोश, और (५) आनन्दमय कोश।

इनका अर्थ प्रायः स्पष्ट ही है। (१) खाना-पीना, (२) श्वास-प्रश्वास, (३) संकल्प-विकल्प (अथवा बाह्यजगत् का अनुभव), और (४) चिन्तन—हमारे व्यक्तित्व की इन चार अवस्थाओं के ऊपर आनन्द का स्थान है। उसीका सम्बन्ध आनन्दमय कोश से है। उसी अवस्था में पहुँचकर मनुष्य अनुभव करता है :

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।...
यदा ह्येवैष एतस्मिन्...प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति॥" (२।७)

अर्थात्, वही परमात्मा वास्तव में रस-स्वरूप है। रस को ही पाकर यह जीवात्मा आनन्द का अनुभव करता है। आनन्द अथवा रस-रूप सर्वान्तर्यामी परमात्मा के बिना किसकी जीवन-क्रिया चल सकती है। अर्थात् आनन्द की पृष्ठभूमि में ही सब कोई अपना-अपना कार्य करता है।...जब भी यह जीवात्मा इस आनन्दमय स्थिति में सर्वात्मना स्थित हो जाता है, वह निर्भयावस्था को पा लेता है। परन्तु यदि वह उससे थोड़ा भी दूर रहता है, वह भय-भीत रहता है।[1]

इसी उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक का नाम भृगुवल्ली है। वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता से प्रश्न करता है :

अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

अर्थात्, भगवन् मुझे ब्रह्म का बोध कराइये।

वरुण निम्न शब्दों में ब्रह्म का उपदेश करते हैं :

ब्रह्म का लक्षण

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्वि जिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति॥" (३।१)

अर्थात्, निश्चय ही ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्त में जिसको प्राप्त कर उसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है। उसी को विशेष रूप से जानने की तुम इच्छा करो।

इस लक्षण को सामने रखकर भृगु अध्यात्म-चिन्तनरूप तप में प्रवृत्त होता है। आध्यात्मिक भूमि-सम्बन्धी मानव-विकास की विभिन्न अवस्थाओं में—उपर्युक्त अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों में—वह क्रमशः ब्रह्म-भावना करता है; और अन्त में उक्त तप के द्वारा ही इस परिणाम पर पहुँच जाता है कि वास्तव में आनन्द ही ब्रह्म है :

१. तु० "सैषा स्थितिः सदा मे स्याज्जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।...तदेवं निर्भयः शान्त आत्मन्येवात्मना स्थितः।...ब्रह्मनिर्वाणमाप्नुयाम्॥ (रश्मिमाला ८६।१३-१४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust Foundation KS MoE-Grant-2

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥" (३।६

अर्थात्, उसने अन्त में यही समझा कि आनन्द ही ब्रह्म है। क्योंकि आनन्द से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर आनन्द द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द को प्राप्त कर उसीमें समा जाते हैं।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या

यही विद्या वरुण के पुत्र भृगु के नाम से प्रसिद्ध है।

८. ऐतरेय-उपनिषद्

प्राचीन उपनिषदों में, एक उपनिषद् की दृष्टि से, ऐतरेय-उपनिषद् का विशेष महत्त्व नहीं है। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसमें कुछ अपने ही ढंग पर यह दिखाने का यत्न किया गया है कि आत्मा से ही समस्त जड-चेतनात्मक प्रपंच की सृष्टि हुई और यह कि इसी तथ्य को वस्तुतः समझ लेने से मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। जैसे :

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
नान्यत् किञ्चन मिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।
स इमान् लोकानसृजत् ॥" (१।१-२

अर्थात्, प्रारम्भ में यह जगत् केवल एक आत्मा के रूप में ही था। उसके सिवा कोई अन्य क्रियाशील पदार्थ नहीं था। उसने सोचा कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। उसीने इन लोकों को रचा।

मानव में आत्मा का प्रवेश और उसकी त्रिधा प्रतीति

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत ।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ।
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः ।
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥" (३।१२

अर्थात्, (ऐसा मानो कि) उसी आत्मा (=परमात्मा) ने मनुष्य के शिर को विदीर्ण कर उसी द्वार से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर लिया है। उसी विदीर्ण स्थान को 'विदृति' कहते हैं। वही आनन्द का—ब्रह्म-प्राप्ति का—स्थान है। शरीर में प्रविष्ट हुए उस आत्मा के तीन विशेष स्थान हैं और (अथवा वे ही) तीन स्वप्न हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) को ब्रह्म-प्राप्ति का स्थान माना जाता है। एवं मस्तक, कण्ठ और हृदय—ये तीन विशेषतः आत्म-ध्यान के स्थान माने जाते हैं। अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं में हमें सामान्यतः आत्मा की प्रतीति होती है। ये तीनों अवस्थाएँ, आत्मज्ञानी की तुरीयावस्था की दृष्टि से, स्वप्न के ही समान हैं।

अन्तिम सिद्धान्त

"प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म ॥"

(५।३)

अर्थात्, प्रज्ञान (= चैतन्य) ही लोक को प्रेरणा प्रदान करता है। प्रज्ञान पर ही सबका आधार है। प्रज्ञान (चैतन्य रूप) ही ब्रह्म है।

९. छान्दोग्य-उपनिषद्

जैसा हम पहले कह चुके हैं, सामवेदीय यह उपनिषद् कई दृष्टियों से अतीव महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन उपनिषदों में, बृहदारण्यक-उपनिषद् को छोड़कर, यह सबसे बड़ी है।

इसके आठ प्रपाठकों (= अध्यायों) में से पहले पाँच प्रपाठकों में मुख्य रूप से परमात्मा की अनेक प्रकार की प्रतीकोपासनाओं का वर्णन है और अन्तिम तीन में आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान की व्याख्या की गयी है।

यह उपनिषद् अनेकानेक उदात्त सुन्दर विचारों से और हृदयंगम संवादों और आख्यायिकाओं से परिपूर्ण है। उन्हीं में से कुछ का ही दिग्दर्शन हम यहाँ कराना चाहते हैं।

ज्ञानपूर्वक कर्म की प्रशंसा

"...उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद।
नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया
करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥" (१।१।१०)

अभिप्राय यह है कि किसी भी[१] कार्य को करनेवाले दो प्रकार के लोग होते हैं; एक तो वे जो उसको समझकर करते हैं, दूसरे वे जो विना समझे करते हैं। परन्तु विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और सच्ची लगन के साथ किया जाता है वह अधिक शक्तिशाली होता है।

स्पष्टतः यह सिद्धान्त धार्मिक कृत्य के साथ-साथ किसी भी अन्य कार्य के विषय में ठीक है।

१. यहाँ प्रकरण ओंकार की उपासना का है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कामनाओं की सिद्धि का रहस्य

"आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तः।
अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीत।"

(१।३।१२

अर्थात्, (अन्त में) मनुष्य को चाहिए कि एकाग्रचित्त (अथवा स्वस्थ शान्तचित्त) होकर अपने अभीष्ट अर्थ पर ध्यान लगाता हुआ स्तुति करे। इस प्रकार जिस कामना को लेकर वह स्तुति करता है वह शीघ्र ही संपन्न हो जाती है।

धर्म के तीन आधार-स्तम्भ

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः।
तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।
सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति॥"

(२।२३।१

अर्थात्, धर्म के तीन स्कन्ध या आधार-स्तम्भ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान—यह पहला स्कन्ध है[1]। तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुल (गुरुकुल) में रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुल में ही रहते हुए अपने को अत्यन्त क्षीण कर देता है[2], तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोक को प्राप्त होते हैं।

पुरुष का स्वरूप अपने अध्यवसाय पर निर्भर होता है

"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथाक्रतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।"

(३।१४।१

अर्थात्, पुरुष निश्चय ही क्रतुमय—अध्यवसायात्मक है। इस लोक में मनुष्य जैसे निश्चय (अध्यवसाय, अभिप्राय) वाला होता है, वैसा ही यहाँ से मरकर जाने पर होता है।[3]

---

१. यह ध्यान देने योग्य बात है कि यजन, अध्ययन और दान ये तीनों कर्म कर्तव्य-पक्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों (द्विजों) के लिए समान हैं; तु० मनु० १।८८-९० । जो याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह आदि तीन-तीन कर्म प्रत्येक वर्ण के पृथक्-पृथक् दिये गये हैं, उनका सम्बन्ध वृत्ति-आजीविका से है, कर्तव्य से नहीं।

२. स्पष्टतः यहाँ अभिप्राय जीवनपर्यन्त गुरुकुल में रहकर विद्याग्रहण करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी से है।

३. तु० "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥" (भगवद्गीता ८।६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीवन में यज्ञ की भावना और ११६ वर्ष की आयु की प्राप्ति

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महिदास ऐतरेय (=इतरा, शूद्रा पत्नी की सन्तान) नाम के एक बड़े विद्वान् हो गये हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण नामक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ उन्हीं की कृति है। वे बड़े संयमी और अध्यवसायी थे। वे ११६ की अवस्था तक जीवित रहे। उनकी इस दीर्घ आयु का क्या रहस्य था, यही यहाँ उपनिषद् में बतलाया गया है।

जीवन में एक पवित्र यज्ञ की भावना ही उनकी दीर्घ आयु और उदात्त जीवन का रहस्य था। इसीका प्रतिपादन बड़े प्रभावोत्पादक शब्दों में यह उपनिषद् इस प्रकार करती है :

"पुरुषो वाव यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। गायत्रं प्रातःसवनम्। तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः। प्राणा वाव वसवः। एते हीदं सर्वं वासयन्ति। तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात्— "प्राणा वसवः! इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनं सवनमनुसन्तनुतेति। माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीय" इति। उद्धैव तत एति, अगदो ह भवति॥" (३।१६।१-२)

अर्थात्, निश्चय ही पुरुष (अर्थात् उसका जीवन) यज्ञ है। उसके (जीवन के) जो आरम्भ के चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातःसवन हैं। गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं और प्रातःसवन का सम्बन्ध गायत्री से है। उस प्रातःसवन से वसु नामक देवता सम्बद्ध हैं। प्राण ही वसु हैं, क्योंकि उनके आधार पर ही शरीर में सब कुछ रहता है। (यहाँ 'वसु' का सम्बन्ध 'वस्' धातु से है)।

इस चौबीस वर्ष की आयु के मध्य में उसे कोई रोग आदि कष्ट पहुँचाये तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए—"हे प्राणरूप वसुओ! (अभी तो) मेरा यह (केवल) प्रातःसवन है; इसके अनन्तर माध्यंदिन सवन को आप देवगण चलाइये। ऐसा न हो कि प्राणरूप वसुओं के मध्य में ही यज्ञ-स्वरूप मैं विलुप्त हो जाऊँ।" तब वह उस कष्ट से विमुक्त होकर नीरोग, स्वस्थ, हो जाता है।

इसी प्रकार उपनिषद् में आगे चलकर आयु के द्वितीय भाग को, जिसको ४४ वर्षों का माना है, माध्यंदिन सवन कहा है। माध्यंदिन सवन का सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द से है, जिसमें ४४ अक्षर होते हैं। इस सवन के देवता रुद्र कहलाते हैं। यहाँ भी प्राणों को ही रुद्र कहा है; क्योंकि मध्यायु में प्राणों के वियोग से सब कोई रोते हैं। (यहाँ 'रुद्र' का सम्बन्ध 'रोदन' से है)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस काल में भी रोगादि के उपस्थित होने पर मनुष्य को यही सोचना चाहि कि अभी तो मेरे जीवन-यज्ञ का माध्यंदिन सवन ही है—मध्यकाल ही है। एक स और शेष है। यज्ञ-पूर्ति के लिए उसे भी करना है। रुद्ररूपी प्राणों से ऐसी प्रार्थ करके उसे रोगादि कष्ट को भगा देना चाहिए।

उपनिषद् के अनुसार जीवन का तृतीय भाग ४८ वर्ष का है। वह तृतीं सवन है। तृतीयसवन के जगती छन्द में ४८ अक्षर होते हैं। उसके देवतागण आदि कहलाते हैं। यहाँ भी प्राणों को ही आदित्य माना है; क्योंकि जीवन की इस अन्ति अवस्था में मनुष्य के समस्त गुण, समस्त ज्ञान और अनुभव उसमें संगृहीत हो लगते हैं। (यहाँ 'आदित्य' का सम्बन्ध 'आदान' से है)।

इस अवस्था में भी रोगादि के उपस्थित होने पर उसे यही सोचना चाहिए यह मेरे जीवन-यज्ञ का अन्तिम सवन है। किसी भी विघ्न के विना इसकी पूर्ति पर वश्यक है। इस प्रकार आदित्य-रूप प्राण उसकी हार्दिक प्रार्थना को अवश्य स्वी करते हैं और उसका जीवन-यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होता है।

जीवन-यज्ञ की इसी पवित्र भावना से प्रेरित होकर विद्वान् महिदास का रोग को ललकार कर कहना था कि :

"स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति।"

(३।१६।७

अर्थात्, अरे रोग ! तू मुझे क्यों सता रहा है। मैं तेरी इस बाधा से मृत्यु को न प्राप्त होऊँगा। इस प्रकार :

"स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्।"

(३।१६।

अर्थात्, वे महिदास ऐतरेय ११६ वर्ष तक जीवित रहे।

"प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद।"

(३।१६।

अर्थात्, और भी कोई जो ऐसा जानता है अर्थात् ज्ञानपूर्वक आचरण करता है ११६ वर्ष तक जीवित रहता है।

केकय देश के राजा अश्वपति के राज्य की स्थिति

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥"

(५।११।

अर्थात्, (अश्वपति कहते हैं) मेरे जनपद में न कोई चोर है, न कोई कृपण है, कोई मद्यप है, न कोई अग्निहोत्ररहित है, न कोई अपढ़ है, न कोई व्यभिचारी फिर व्यभिचारिणी का तो कहना ही क्या ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भुक्त अन्न के तीन परिणाम

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते।
तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति।
यो मध्यमस्तन्मांसम्। योऽणिष्ठस्तन्मनः॥"

(६।५।१)

अर्थात्, खाया हुआ अन्न पचकर तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग होता है वह मांस हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह मन हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के मन अथवा विचारों पर उसके भोजन का प्रभाव अवश्य पड़ता है।

वाणी की महत्ता

"यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न
सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो न नाहृदयज्ञः।
वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति॥"

(७।२।१)

अर्थात्, (वाणी—भाषा—की बड़ी महत्ता है, क्योंकि) यदि वाणी न होती तो न धर्म का न अधर्म का, न सत्य का न असत्य का, न साधु (भला) का न असाधु (बुरा) का, और न सुन्दर अथवा असुन्दर का ही ज्ञान होता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है।

वाणी से मन बड़ा है

"मनो वाव वाचो भूयः।...स यदा मनसा मनस्यति
मन्त्रानधीयीयेति, अथाधीते। कर्माणि कुर्वीयेति, अथ कुरुते॥"

(७।३।१)

अर्थात्, निश्चय ही मन वाणी से बड़ा है।...जब कोई मन से विचारता है कि 'मैं मन्त्रों का अध्ययन करूँ', तभी वह अध्ययन करता है। जब वह सोचता है कि 'मैं काम करूँ', तभी वह काम करता है।

वास्तविक सुख का स्वरूप

"यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्॥"

(७।२३।१)

अर्थात्, जो महान् है, 'भूमा' है, वही सुख है; अल्प में सुख नहीं रहता। महान् और सुख दोनों अभिन्न हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मा का स्वरूप

"अथात आत्मादेश एव। आत्मैवाधस्तादात्मैवोपरि-
ष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत
आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति॥"

(७।२५।

अर्थात्, ऊपर वास्तविक सुख से अभिन्न 'भूमा' का जो वर्णन किया गया उसीको आत्मा के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है: आत्मा ही नीचे है, आ ही ऊपर है आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही सामने है, आत्मा ही दाहिनी ओर आत्मा ही बायीं ओर है। वास्तव में यह सब कुछ आत्मा ही है।

'आहार'-शुद्धि का महत्त्व

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥"

(७।२६।

अर्थात्, आहार (=इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषय) की शुद्धि अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति में स्थिरता आ है। स्मृति में स्थिरता आ जाने पर हृदय की सब ग्रन्थियाँ, उलझनें, निवृत्त हो जाती है

शरीर और आत्मा का भेद

"मर्त्यं वा इदं शरीरम्। आत्तं मृत्युना।
तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्॥"

(८।१२।

अर्थात्, यह शरीर निश्चय ही मरणशील है। मृत्यु ने इसे पकड़ा हुआ है। वह अमृत, शरीर से रहित, आत्मा का अधिष्ठान है।

अभिप्राय यह है कि यह शरीर ही आत्मा नहीं है। दोनों का स्वभाव भि भिन्न है। जहाँ शरीर मर्त्य है वहाँ आत्मा अमृत है, शाश्वत है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सातवाँ परिच्छेद

अमृत-स्रोत [३]

१०. बृहदारण्यक-उपनिषद्

जैसा हम पहले कह चुके हैं, यह उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में सबसे बड़ी है। साथ ही उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय का जैसा मार्मिक और उपपत्ति-युक्त प्रतिपादन इसमें किया गया है, वैसा अन्य उपनिषदों में नहीं मिलेगा। वह प्रतिपादन भी, कठोपनिषद् आदि के समान, सिद्ध रूप में नहीं, अपितु साध्य रूप में प्रायः संवादों द्वारा किया गया है। इसलिए इसके नाम के साथ में 'बृहद्' (=बड़ा) शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक ही है।[१]

इसकी और भी कई विशेषताएँ हैं।

संन्यास की प्रवृत्ति का जिस विशद रूप से उल्लेख इस उपनिषद् में किया गया है वैसा किसी अन्य प्राचीन उपनिषद् में नहीं है। 'संन्यास' शब्द का उल्लेख केवल मुण्डक-उपनिषद् में आता है, यह हम पहले कह चुके हैं। इस उपनिषद् में एषणात्रय (=लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा) को छोड़ने का, भिक्षाचर्या का और 'प्रव्रजन' (=संन्यास लेना) का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।[२] 'एषणात्रय' तथा संन्यास लेने के अर्थ में 'प्रव्रजन' का तथा संन्यासियों की 'भिक्षाचर्या' का उल्लेख प्राचीन उपनिषदों में केवल इसी उपनिषद् की विशेषता है।

ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक रोचक संवाद भी इस उपनिषद् की एक विशेषता है। मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य तथा जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

साथ ही मैत्रेयी और गार्गी का, विदुषी ब्रह्मवादिनियों के रूप में, उल्लेख भी इस उपनिषद् की एक उल्लेखनीय विशेषता है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञवल्क्य के साथ है, वैसा किसी आचार्य-विशेष के साथ किसी अन्य प्राचीन उपनिषद् का नहीं है। निश्चय ही इसके प्रवचन के साथ याज्ञवल्क्य का विशेष सम्बन्ध है।[३]

ऐसे ही कारणों से, जैसा हम पहले कह चुके हैं, औपनिषद् धारा के व्यापक स्वरूप और विकास के अध्ययन के लिए इस उपनिषद् का सर्वाधिक महत्त्व है।

---

१. तु० "बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम्", (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक)।
२. दे० बृ० उ० २।४।१; ३।५।१; ४।५।२; ४।४।२२।
३. तु० "याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि" (दे० पाणिनिसूत्र ४।३।१०५ पर काशिकावृत्ति)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह उपनिषद् अनेकानेक सुन्दर और हृदयस्पर्शी विचारों से परिपूर्ण है। उ का सामान्य दिग्दर्शन हम यहाँ कराना चाहते हैं।

एक उत्कृष्ट जप-मन्त्र

"असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥" (१।३।२८)

अर्थात्, हे भगवन्! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलिये। मुझे अन्धकार प्रकाश की ओर ले चलिये। मुझे मृत्यु अर्थात् अपूर्णता की ओर से अमृत अ पूर्णता की ओर ले चलिये।

धर्म और सत्य में अभेद

"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति। वा वदन्तं सत्यं वदतीति। एतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥" (१।४।१४)।

अर्थात्, जो धर्म है, वह निश्चय ही सत्य है। इसीलिए सत्य बोलनेवाले को 'यह धर्म को कह रहा है' ऐसा कहते हैं। और धर्म कहनेवाले को 'यह सत्य रहा है' ऐसा कहते हैं। वास्तव में धर्म और सत्य में भेद नहीं है।

ज्ञान-मार्ग की श्रेष्ठता

"अथ त्रयो वाव लोकाः— मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सो मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलो देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः। तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति ॥" (१।५।१६)

अर्थात्, मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये ही तीन लोक हैं। इनमें मनुष्यलोक पुत्र द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी और कर्म से नहीं। पितृ यज्ञादि कर्म द्वारा और देवलोक विद्या द्वारा ही जीता जा सकता है। तीनों लो देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिए विद्या की प्रशंसा करते हैं।

आत्मा से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी और अग्नि-विस्फुलिङ्ग के दृष्टान्त

"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः
क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवा-
स्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः
सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्योपनिषत्—सत्यस्य सत्यमिति।
प्राणा वै सत्यम्। तेषामेष सत्यम्॥" (२।१।२०)

अर्थात्, जैसे मकड़ी अपने तार के सहारे ऊपर की ओर जाती है और जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, ऐसे ही इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत नाना रूप में उत्पन्न होते हैं। 'वह सत्य का सत्य है' यही उसका रहस्य है; क्योंकि प्राण सत्य हैं और प्राणों की सत्यता आत्मा पर ही निर्भर है।

यहाँ 'आत्मा' से अभिप्राय इस शरीरस्थ आत्मा से भी हो सकता है। उस दशा में प्राण का अर्थ जीवन-शक्ति, लोक का अर्थ तत्तद् अवस्था, देवों का अर्थ इन्द्रियाँ और भूतों का अर्थ देहगत पृथिवी आदि भूत करना चाहिए।

शिर का विचित्र वर्णन

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥[1] (२।२।३)

अर्थात्, यह शिर एक ऐसा चमस (=एक प्रकार का यज्ञिय सोम रखने का प्याला) जिसका छिद्र नीचे की ओर और पेंदा ऊपर की ओर है। उसमें विश्वरूप यश स्थित है। अर्थात् व्यक्तियों की तत्तद् विशेषताएँ मस्तिष्क में ही रहती हैं। ज्ञान-स्फूर्ति से युक्त सात ऋषि (अर्थात्, दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका के पुट और रसनेन्द्रिय) उसके तीर पर रहते हैं। और यह आठवीं वाणी ब्रह्म अर्थात् वेद से संवाद करती है, अर्थात्, ज्ञान को दूसरों पर प्रकट करती है।

मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य का तत्त्व-ज्ञानोपदेश

याज्ञवल्क्य संन्यास की तैयारी कर रहे हैं। वे कात्यायनी और मैत्रेयी नामक अपनी पत्नियों में अपनी संपत्ति का बटवारा करना चाहते हैं।

मैत्रेयी पूछती है :

"भगवन्! यदि धन से पूर्ण यह सारी पृथिवी मेरी हो जाय, तो क्या उससे अमर हो जाऊँगी?"

याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं :

"मैत्रेयि! ऐसा तो नहीं होगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं की सकती।"[2]

इस पर मैत्रेयी कहती है :

"जिससे मैं अमर नहीं हो सकती हूँ उसे लेकर मैं क्या करूँगी। इसलिए आप अमृतत्व का साधन समझते हैं, मुझे वही बतलाइये।

[1] तु० अथर्ववेद १०।८।९।
[2] "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।" (बृ० उ० २।४।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस पर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को महत्त्वयुक्त आत्म-ज्ञान का उपदेश देते हैं। प्रसंग के कुछ हृदयग्राही वचन हम यहाँ देते हैं।

पति, जाया, पुत्र, वित्त आदि मनुष्य को अपने-अपने रूप में नहीं; आत्मा की कामना, अथवा आत्म-संतोष के कारण ही प्रिय होते हैं। यह कहने बाद याज्ञवल्क्य यहाँ तक कहते हैं :

"न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति; आत्मनस्तु कामाय प्रिया भवन्ति।...न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु का सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासित मैत्रेयि! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदँ सर्वं विदितम् (२।४।५)

अर्थात्, अये मैत्रेयि! मनुष्य को देव क्या, सब कुछ, अपने-अपने रूप में नहीं होता है। आत्मा के आधार पर ही वे सब प्रिय होते हैं। इसलिए में प्रिय-स्वरूप आत्मा ही देखने (=जानने) योग्य है, श्रवण करने योग्य है, करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है। आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन वास्तविक ज्ञान से इस विश्व का सारा रहस्य ज्ञात हो जाता है।[1]

ऊपर की बात को समझाने के लिए याज्ञवल्क्य अनेक दृष्टान्त देते हैं। से एक सुन्दर दृष्टान्त इस प्रकार है :

"स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय। वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥" (२।४।९)

अर्थात्, जैसे बजाई जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं परन्तु वीणा के अथवा वीणा के वादन के पकड़ लेने से वीणा का शब्द पकड़ जाता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है; इसी प्रकार आत्मा के जान लेने से जाना जाता है।

भाव यह है कि वास्तव में आत्म-तत्त्व से ही सब पदार्थ प्रका रहे हैं।

आत्म-तत्त्व में ही समस्त विश्व आश्रित है

"स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः। सर्वेषां भूतानाँ राजा। तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥" (२।५।१५)

---

१. तु० "यस्यामीप्साजिहासाभ्यां व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम्। सार्थक्यं लभते नूनं यस्यैवेक्ष... संस्मृतिस्तस्य तत्त्वस्य नियतं ह्यनपायिनी। स्वरूपे संस्थितिः सत्यमात्मसंमानन... ([illegible] ४।३।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, वह जो यह आत्मा (अथवा परमात्मा) है वह सब प्राणियों का स्वामी एवं राजा है। जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि में सारे अरे समर्पित रहते हैं, ऐसे ही इस आत्मा (अथवा परमात्मा) में समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण और ये सभी आत्माएँ समर्पित हैं।

वैदेह जनक का विद्वत्सम्मेलन

विदेह देश के राजा जनक ने एक बार बड़ी दक्षिणाओंवाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पञ्चाल देशों के बड़े-बड़े विद्वान् एकत्रित हुए। इस सम्मेलन में अनेक आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार किया गया। सम्मेलन महाराज जनक की अध्यक्षता में उन्हीं के समाश्रित विद्वान् याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। जितने भी प्रश्न सम्मेलन में तत्तद् विद्वानों की ओर से उठाये गये, उनका समाधान याज्ञवल्क्य की ओर से ही किया गया। बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय में इसी सम्मेलन का विस्तृत विवरण दिया गया है।

याज्ञवल्क्य के अनेक प्रतिपादन बड़े महत्त्व के हैं। उन्हीं का निदर्शन नीचे दिया जाता है।

सर्वान्तर आत्मा का वर्णन

उषस्त चाक्रायण (=चक्र के पुत्र) याज्ञवल्क्य से पूछते हैं :

"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति ।।" (३।४।१)

अर्थात्, हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म और साथ ही सबके अभ्यन्तर रहनेवाला आत्मा है उसका उपदेश मुझे कीजिये।

याज्ञवल्क्य उपदेश करते हैं :

"एष त आत्मा सर्वान्तरः···न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः। न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः। न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः। न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरः। अतोऽन्यदार्तम् ॥" (३।४।२)

अर्थात्, हे उषस्त चाक्रायण! यही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, सबके अभ्यन्तर रहनेवाला है।···(तुम पदार्थों को देखते हो, पर उस) दृष्टि के देखनेवाले को नहीं देखते हो। इसी प्रकार श्रुति के सुननेवाले को नहीं सुनते हो। मति अर्थात् मनन-शक्ति के मनन करनेवाले का मनन नहीं करते हो। इसी प्रकार विज्ञान-शक्ति के विज्ञाता को तुम नहीं जानते हो। पर वास्तव में जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता और विज्ञाति का विज्ञाता है, वही तुम्हारा आत्मा है और वह सर्वान्तर है। उससे भिन्न है वह नाशवान् है।

उषस्त चाक्रायण के ही प्रश्न को कौषीतकेय (=कुषीतक के पुत्र) कहोल दोहराते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनको याज्ञवल्क्य निम्नस्थ शब्दों में उत्तर देने के साथ-साथ ब्रह्म-ज्ञान के लिए पूर्ण वैराग्य तथा संन्यास की आवश्यकता को भी बतलाते हैं :

ब्रह्मज्ञान के लिए वैराग्य और संन्यास की आवश्यकता

"एष त आत्मा सर्वान्तरः···योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा। या वित्तैषणा सा लोकैषणा। उभे ह्येते एषणे एव भवतः।

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः।

स ब्राह्मणः केन स्यात् ? येन स्यात्तेनेदृश एव। अतोऽन्यदार्तम् ॥"

(३।५।

अर्थात्, हे कहोल कौषीतकेय ! यही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, सबके अन्दर रहनेवाला है···जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से परे है। इस आत्मा को जानकर ब्रह्मज्ञानी लोग पुत्रैषणा (=सन्तान की कामना) वित्तैषणा (=धन की कामना) और लोकैषणा (=लोक की कामना) से उठकर, तीनों एषणाओं को त्यागकर, भिक्षावृत्ति से विचरते हैं। जो पुत्रैषणा है वित्तैषणा है। जो वित्तैषणा है वह लोकैषणा है। ये दोनों एषणाएँ ही हैं।

इसलिए ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि वह पाण्डित्य को पूर्णतया प्राप्तकर सुलभ सरल-भाव से रहने की, जीवन-यात्रा करने की, इच्छा करे। निर्व्याज सुलभ जीवन-यापन और पाण्डित्य के लाभ से वह मुनि-पद अर्थात् मननशील अवस्था को प्राप्त कर लेता है। मौन और अमौन अवस्थाओं के परिपाक से वह ब्रह्म-संस्थ ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।

प्रश्न होता है कि वह ब्रह्म-संस्थ ब्रह्मज्ञानी किस प्रकार रहे ? उसकी जीवन-चर्या किस प्रकार की हो सकती है ? इसका उत्तर यही है कि इसका कोई नियम नहीं है। अर्थात् उसकी जीवन-चर्या का उसकी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

यही वास्तविक तथ्य है। इससे भिन्न जो कुछ है वह विनाशी है, असार है।

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि दसों प्राचीन उपनिषदों में यह प्रकरण उन बहुत थोड़े स्थलों में से एक है जिनमें वैराग्य और भिक्षाचर्या (= संन्यास) का इस प्रकार स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में अन्यत्र, औपनिषद धारा के प्रारम्भ और विकास के प्रसङ्ग में, स्पष्ट करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वान्तर्यामी आत्मा का वर्णन

उद्दालक आरुणि (= अरुण के पुत्र) याज्ञवल्क्य से पूछते हैं :

"वेत्थ नु त्वं···तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति" (३।७।१)

अर्थात्, क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को भीतर से नियमित करता है ?

वे आगे कहते हैं :

"यो वै···विद्यात् तम्···अन्तर्यामिणम्···स ब्रह्मवित् स लोकवित् स वेदवित् स भूतवित् स आत्मवित् स सर्वविदिति" (३।७।१)

अर्थात्, जो कोई उस अन्तर्यामी को जानता है, वह ब्रह्म को, लोक को, वेद को, भूतों को, आत्मा को और सब कुछ जानता है।

उक्त प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य क्रमशः आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से देते हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र और तारा, आकाश, तमस् और तेजस् के दैवीजगत् को लेकर वे आधिदैविक दृष्टि से परमात्मा के अन्तर्यामी स्वरूप को समझाते हैं। उदाहरणार्थ, पृथिवी के विषय में वे कहते हैं :

> "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी
> न वेद। यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिवीमन्तरो
> यमयति। एष त आत्मान्तर्यास्यमृतः।" (३।७।३)

अर्थात्, जो पृथिवी में रहता हुआ उसमें व्याप्त है। जिसको पृथिवी नहीं जानती। जिसका पृथिवी शरीर है। जो पृथिवी के भीतर रहकर उसका नियमन करता है। यह तुम्हारा आत्मा अविनाशी और अन्तर्यामी है।

इसी प्रकार समस्त भौतिक पदार्थों को लेकर याज्ञवल्क्य आधिभौतिक दृष्टि से परमात्मा के अन्तर्यामी स्वरूप की व्याख्या करते हैं।

अन्त में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वच्, विज्ञान और रेतस् (= वीर्य) को लेकर आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा के अन्तर्यामी स्वरूप को समझाते हुए वे कहते हैं :

> "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता,
> अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता। नान्योऽतोऽस्ति
> द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता,
> नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
> अतोऽन्यदार्त्तम्।" (३।७।२३)

अर्थात्, यही तुम्हारा आत्मा अविनाशी और अन्तर्यामी है। यह दिखायी नहीं देता, पर देखनेवाला है। सुनायी नहीं देता, पर सुननेवाला है। मनन का विषय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न होते हुए भी मनन करनेवाला है। बुद्धि का विषय न होते हुए सबका ज्ञाता है। वास्तव में इसको छोड़कर कोई अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है। यही तुम्हारा अन्तर्यामी और अविनाशी आत्मा है। इससे भिन्न सब कुछ नाशवान् है।

ब्रह्मविद् का स्वरूप

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

२. आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

३. यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स 'उ' लोक एव ॥

४. इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥

५. यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

६. एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥ इति तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति। सर्वमात्मानं पश्यति। नैनं पाप्मा तरति। सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति। सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। एष ब्रह्मलोकः ॥

७. अभयं वै ब्रह्म। अभयं हि वै ब्रह्म भवति। य एवं वेद ॥

(४।४।७,१२–१५,२३,

अर्थात्,

१. जब मनुष्य के हृदय में रहनेवाली सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, यह मरण-धर्मा अमृत हो जाता है और यहीं (इसी जीवन में) वह ब्रह्म को कर लेता है ॥

२. यदि मनुष्य 'मैं यह हूँ' इस प्रकार आत्म-तत्त्व को जान जाय, तो उसे किसी पदार्थ की इच्छा अथवा कामना के कारण तन को तपाने की आवश्य नहीं है ॥

३. अनेक अनर्थों से पूर्ण इस गहन शरीर में प्रविष्ट आत्मा को जिसने कर लिया है, जान लिया है, वह विश्वकृत् (अथवा कृतकृत्य) है, वह सबका है (अर्थात् उसकी शक्ति अनन्त है), लोक को वह अपना समझता है, विश्व के उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. इसी शरीर में रहते हुए यदि हम उस (ब्रह्म) को जान लेते हैं तब तो ठीक है; नहीं तो उसका न जानना महान् अनर्थ है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। दूसरे लोग तो दुःख को ही प्राप्त होते हैं ॥

५. जब जिज्ञासु भूत और भविष्यत् के स्वामी इस देव-स्वरूप आत्मा को साक्षात् जान लेता है, तब वह उसकी जुगुप्सा नहीं करता, अर्थात् उसके प्रति उपेक्षा-भाव नहीं रखता ॥

६. ब्रह्मवेत्ता की यह महिमा नित्य है। वह कर्म से न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उसी महिमा के स्वरूप को जानना चाहिए। उसे जानकर मनुष्य पाप-कर्म से लिप्त (अर्थात् संबद्ध) नहीं होता। इसलिए इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, विरक्त, द्वन्द्व-सहिष्णु और समाहित (=एकाग्र-चित्त) होकर अपनी आत्मा में ही अपनी आत्मा को देखता है; सबको आत्म-रूप ही देखता है। इसको पाप नहीं लगता, यह सब पापों को पार कर जाता है। इसको पाप नहीं तपाता, प्रत्युत यह सारे पाप को तपा डालता है, भस्म कर देता है। यह निष्पाप, निर्मल और संशयों से रहित ब्रह्मविद् हो जाता है। यही तो ब्रह्मलोक है ॥

७. निश्चय ही ब्रह्म अभय है। जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आठवाँ परिच्छेद

सूक्तिमञ्जरी

ईशावास्योपनिषद्

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥ १ ॥

यह सारा विश्व अन्तर्यामी भगवान् (अर्थात् अन्तर्यामी चैतन्य-शक्ति) [से]
प्राप्त है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ॥ २ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष [त]क
जीने की इच्छा करे ।

स...स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य [का]
आधार होता है ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ॥ १५ ॥

सत्य का मुख सुवर्ण-जैसी चमकीली वस्तुओं से छिपा हुआ रहता है ।

केनोपनिषद्

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (२।५)

यदि मनुष्य ने इसी जन्म में वास्तविक तत्त्व को जान लिया, तब तो ठीक है,
यदि इस जन्म में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है ।

कठोपनिषद्

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (१।१।२७)

मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती ।

नैषा तर्केण मतिरापनेया । (१।२।९)

श्रद्धा और विश्वास के अभाव में तात्त्विक बुद्धि केवल शुष्क तर्क के आधार [पर]
नहीं प्राप्त हो सकती । अथवा केवल शुष्क तर्क के आधार पर तात्त्विक बुद्धि [को]
नहीं हटा देना चाहिए ।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् । (१।२।१०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह नित्य पदार्थ (=परमात्मा) विनाशशील अनित्य वस्तुओं के सहारे से नहीं मिल सकता।

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत। (१।६।१४)

(हे अज्ञान से ग्रस्त लोगो !) उठो, जागो और श्रेष्ठजनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्। (२।१।१)

कोई बिरला धीर पुरुष ही अपनी अन्तरात्मा को देखता है, अथवा अन्तर-वेक्षण (आत्म-समीक्षण) में प्रवृत्त होता है।

प्रश्नोपनिषद्

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। (२।१३)

तीनों लोकों में जो कोई भी पदार्थ प्रतिष्ठित है वह सब प्राण अथवा जीवनी-शक्ति के अधीन है।

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। (६।१)

जो मनुष्य झूठ बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है।

मुण्डकोपनिषद्

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः। (१।२।७)

आदर्श-हीन याज्ञिक कर्म अदृढ नौका के समान होते हैं। अर्थात्, उनके द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक जीवन-लक्ष्य को नहीं पा सकता है।

सत्यमेव जयते नानृतम्। (३।१।६)

सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं।

तैत्तिरीयोपनिषद्

सत्यं वद। धर्मं चर। (१।११)

सत्य बोलो और अपने कर्तव्य का पालन करो।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (१।११)

स्वाध्याय में प्रमाद न करो।

कुशलान्न प्रमदितव्यम्। (१।११)

अपने स्वास्थ्य और आरोग्य की रक्षा के प्रति प्रमाद नहीं करना चाहिए।

भूत्यै न प्रमदितव्यम्। (१।११)

समृद्धि और समुन्नति की उपेक्षा न करो।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (१।११)

माता, पिता, आचार्य (गुरु) और अतिथि में पूज्य-बुद्धि रखो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।
श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् ।
भियाऽदेयम् । संविदा देयम् । (१।११)

दूसरों की आर्थिक सहायता करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है; परन्तु वो सहायता श्रद्धा से, न कि अश्रद्धा से, प्रसन्नता से, नम्रता से, न कि डर से, और सहानुभूति तथा प्रेम से करनी चाहिए।

रसो वै सः । रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । (२।७)

वह मूलतत्त्व रूप भगवान् रसमय या रस-स्वरूप है। उसी रस को पाकर मनुष्य (या प्राणि-मात्र) आनन्द का अनुभव करता है।

ऐतरेयोपनिषद्

परोक्षप्रिया हि देवाः (१।१४)

देवता परोक्ष से प्रेम करते हैं। अर्थात्, दैवी शक्तियों पर वास्तविक स्वरूप का ही प्रभाव पड़ता है, आपाततः प्रतीयमान या दिखावटी स्वरूप का नहीं।

छान्दोग्योपनिषद्

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति । (१।११।७)

सूर्य के उदय होने पर निश्चय ही समस्त प्राणी उसका गुण-गान करते हैं।

महामनाः स्यात्तद् व्रतम् । (२।११।२)

मनुष्य को महान् अथवा उदार विचारोंवाला होना चाहिए। यह एक व्रत है।

न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत् । तद् व्रतम् (२।१२।२)

अग्नि के सम्मुख न तो आचमन करना चाहिए, न थूकना चाहिए। यह व्रत है।

न काञ्चन परिहरेत् । तद् व्रतम् । (२।१३।२)

किसी स्त्री का अपमान नहीं करना चाहिए।[1] यह व्रत है।

तपन्तं न निन्देत् । तद् व्रतम् । (२।१४।२)

तपते हुए सूर्य की उपेक्षा न करे। यह व्रत है।

वर्षन्तं न निन्देत् । तद् व्रतम् । (२।१५।२)

जब वर्षा हो रही हो तब उसकी निन्दा न करे, उसका दुरुपयोग न करे। यह व्रत है।

ऋतुं न निन्देत् । तद् व्रतम् । (२।१६।२)

किसी ऋतु की निन्दा न करे। उसके प्रतिकूल आचरण न करे। यह व्रत है।

---

१. "न कांचन परिहरेत्" इस पर शंकराचार्य की व्याख्या यह है : "कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत् समागमार्थिनीम्, वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन विधानात्। एतस्मादन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयः। वचनप्रामाण्याच्च धर्मावगतेर्न प्रतिषेधशास्त्रेणास्य विरोधः।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

लोकान्न निन्देत् । तद् व्रतम् । (२।१७।२)

लोकों की निन्दा न करे । अर्थात् लोक-कल्याण की अथवा जनता की उपेक्षा न करे। यह व्रत है ।

पशून् न निन्देत् । तद् व्रतम् । (२।१८।२)

पशुओं की निन्दा न करे। उनकी उपेक्षा न करे। यह व्रत है ।

ब्राह्मणान्न निन्देत् । तद् व्रतम् (२।२०।२)

विद्वानों की अथवा ब्रह्मवेत्ताओं की निन्दा न करे । यह व्रत है ।

आशां मनुष्येभ्यः । (२।२२।२)

मनुष्यों में आशा का (आशावाद का) संचार करना चाहिए ।

असौ वा आदित्यो देवमधु । (३।१।१)

वह आदित्य निश्चय ही देवताओं (=दैवी शक्तियों) के लिए मधु अर्थात् शक्ति का स्रोत है ।

वेदा हि रसाः···वेदा ह्यमृताः । (३।५।४)

वेद वास्तव में रस अर्थात् सार-वस्तु हैं।···वेद निश्चय ही अमृत अर्थात् अमरणशील हैं ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म । तज्जलानिति शान्त उपासीत । (३।१४।१)

यह सारा विश्व निश्चय ब्रह्म ही है। यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें जीवित (=कार्यक्षम, स्थिर) रहनेवाला है। साधक को शान्त-चित्त होकर इसी प्रकार ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए ।

पुरुषो वाव यज्ञः । (३।१६।१)

निश्चय ही पुरुष (अर्थात् उसका जीवन) यज्ञ है ।

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति
ता अस्य दक्षिणाः । (३।१७।४)

जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही पुरुष-रूपी यज्ञ की दक्षिणा हैं ।

अभिप्राय यह है कि जैसे यज्ञ-पूर्ति के लिए दक्षिणा देना आवश्यक होता है, इसी प्रकार जीवन-यज्ञ की पूर्ति अथवा सफलता के लिए तप, दान, आर्जव आदि की आवश्यकता है ।

आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति । (४।९।३)

आचार्य (=पूर्ण विद्वान्) से ही जानी गयी विद्या उत्कृष्ट कल्याण का संपादन करती है ।

यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि
पापं कर्म न श्लिष्यते । (४।१४।३)

जैसे कमल-पत्र में पानी श्लिष्ट नहीं होता है, ऐसे ही जो (ऐसे) तत्त्वज्ञानी होते हैं उनमें पाप-कर्म का श्लेष नहीं होता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । (६।२।१)

हे सोम्य ! प्रारम्भ में यह (ब्रह्म) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद । (६।१४।२)

आचार्यवान् पुरुष ही (सत्य को) जानता है ।

तरति शोकमात्मवित् । (७।१।३)

जो आत्मा को जानता है वह शोक को तर जाता है ।

मनो वाव वाचो भूयः । (७।३।१)

निश्चय ही मन वाणी से उत्कृष्ट है ।

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान् । (७।४।१)

मन से सङ्कल्प बढ़कर है । (संकल्प = कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय) ।

बलेन लोकस्तिष्ठति । (७।८।१)

बल से ही लोक की स्थिति है ।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते, आशयास्य सर्वे कामाः
समृध्यन्ति, अमोघा ह्यस्याशिषो भवन्ति । (७।१४।२)

जो आशा को ब्रह्म (= आराध्यदेव अथवा परमतत्त्व) समझकर उपासना करता है, उसकी समस्त कामनाएँ आशा द्वारा सिद्ध हो जाती हैं । उसकी आकाङ्क्षाएँ कभी व्यर्थ नहीं जातीं ।

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति । (७।१६।१)

जो सत्य के आधार पर बोलता है, उसी की बात को महत्त्व दिया जाता है ।

यदा वै विजानाति, अथ सत्यं वदति । (७।१७।१)

विज्ञान-पूर्वक ही सत्य बात कही जा सकती है ।

यदा वै मनुते, अथ विजानाति । (७।१८।१)

विज्ञान विचार की अपेक्षा करता है ।

यदा वै श्रद्दधाति, अथ मनुते । (७।१९।१)

विचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है ।

यदा वै निस्तिष्ठति, अथ श्रद्दधाति । (७।२०।१)

श्रद्धा के लिए निष्ठा अर्थात् अविचल धारणा का होना आवश्यक है ।

यदा वै करोति, अथ निस्तिष्ठति । (७।२१।१)

निष्ठा के लिए कर्तव्य कर्म में प्रवृत्त होने की आवश्यकता होती है ।

यदा वै सुखं लभते, अथ करोति । (७।२२।१)

किसी काम में प्रवृत्ति के लिए उसमें सुख की उपलब्धि की अपेक्षा होती है ।

यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति । (७।२३।१)

जो महान् है, 'भूमा' है, वही सुख है । अल्प में सुख नहीं रहता ।

यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति,
स भूमा । (७।२४।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वही 'भूमा' है।

यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति, तदल्पम्। (७।२४।१)

जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है तथा कुछ और जानता है, वह 'अल्प' है।

यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (७।२४।१)

जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य अर्थात् मरणशील अथवा विनाशशील है।

आत्मैवेदं सर्वम् (७।२५।२)

यह सब कुछ आत्मा ही है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। (७।२६।२)

आहार (=इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषय) की शुद्धि से अन्तः-करण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि से स्मृति में स्थिरता आती है।

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते। एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। (८।१।६)

जैसे यहाँ कर्म से प्राप्त किया हुआ लोक (=स्थिति) क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार परलोक में भी पुण्य से अर्जित लोक क्षीण हो जाता है।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय। (८।४।१)

यह आत्मा ही इन सब लोकों को (=विभिन्न अवस्थाओं को) मिलानेवाला, परस्पर संबद्ध करनेवाला, सेतु अथवा पुल है।

मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना। (८।१२।१)

यह शरीर मरणशील है, इसको मृत्यु ने पकड़ रखा है।

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। (८।१२।१)

जब तक मनुष्य का शरीर से सम्बन्ध है तब तक प्रिय और अप्रिय का अभाव नहीं हो सकता। शरीर से वियुक्त हो जाने पर उसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते।

बृहदारण्यकोपनिषद्

अशनाया हि मृत्युः। (१।२।१)

भूख ही मृत्यु है।

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। (१।४।१४)

यह जो धर्म है वह वास्तव में सत्य ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन । (२।४।२)

अमृतत्व की तो धन से आशा नहीं हो सकती ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । (२।४।५)

मनुष्य को कोई भी वस्तु अपने-अपने रूप में प्रिय नहीं होती है। आ... की दृष्टि से ही सब कुछ प्रिय होता है।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (२।४।५)

वास्तव में आत्मा ही देखने (=जानने) योग्य है, श्रवण करने योग्य... मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है।

योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् । (२।५।१)

यह जो आत्मा है, यह अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है।

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः । (२।५।१९)

यही आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है।

अनन्तं वै मनः । (३।१।९)

मन की शक्ति (या गति) अनन्त है।

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । (३।२।१३)

मनुष्य पुण्य-कर्म से पुण्यवाला और पाप-कर्म से पापी होता है।

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । (४।२।२)

देवता मानो परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष करनेवाले होते... अर्थात् देवगण दिखावट के स्थान में वास्तविकता को ही पसन्द करते हैं।

काममय एवायं पुरुष इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति ।
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते । यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते । (४।४...

यह मनुष्य कामनामय ही है। वह जैसी कामनावाला होता है वैसा संकल्प करता है; जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है। वह जैसा करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है।

अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा । (४।५।१४)

अरे यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी है। इसका उच्छेद नहीं होता।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधो जनाः । (४।४।११)

घोर अन्धकार से आवृत वे लोक (=वह स्थिति) अनन्द नाम... अर्थात् आनन्द से रहित हैं। जो अविद्वान् और अज्ञानी लोग हैं वे मरकर उन्हें प्राप्त होते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदि (? दी)[1] महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ (४।४।१४)

इस शरीर में रहते हुए ही यदि हम उस परम तत्त्व को जान लेते हैं (तब तो ठीक है)। यदि उसको तुमने नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसको जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं। परन्तु दूसरे लोग दुःख को ही पाते हैं।

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते[2] ॥ (४।४।१५)

भूत और भविष्यत् के स्वामी इस आत्मारूपी देवता को जब मनुष्य साक्षात् जान लेता है तब वह किसी प्रकार की आत्मग्लानि अथवा निर्वेद का अनुभव नहीं करता।

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (४।४।१९)

विचारपूर्वक इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि ब्रह्म के विषय में नानात्व जैसी कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म में जो नानात्व की भावना को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को ही पाता है, अर्थात् रिक्तता और अपूर्णता की भावना से ही बराबर खिन्न रहता है।

---

१. 'अवेदीः' संभावित इस पाठ के लिए देखिए केनोप० (२।५) : 'न चेदिहावेदीत्'। 'अवेदि:' पाठ में शांकरभाष्य में बड़ी क्लिष्ट कल्पना की गयी है।

२. 'विजुगुप्सते' का जो अर्थ शांकरभाष्य आदि में दिया गया है, वह स्पष्टतः सन्तोषप्रद नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का स्वरूप

पिछले परिच्छेदों में औपनिषद धारा के सम्बन्ध में अनेक दृष्टियों से वि[illegible] किया गया है। अब औपनिषद धारा के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ वि[illegible] करना आवश्यक प्रतीत होता है।

औपनिषद धारा ही साधारणतः प्रचलित भाषा में वेदान्त नाम से प्रसिद्ध [illegible] वेदान्त के सम्बन्ध में चिरकाल से, सर्वसाधारण ही क्यों, विद्वानों में भी कुछ धार[illegible] चली आ रही हैं; जैसे :

(१) वेदान्त संसार से विरक्त संन्यासियों की चीज है; सांसारिक [illegible] व्यतीत करनेवाले गृहस्थों से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

(२) वेदान्त के स्वाध्याय का परम लक्ष्य यही समझा जाता रहा [illegible] सांसारिक त्रिविध तापों से संतप्त मनुष्य 'बन्ध' रूप जन्म-मरण के 'आवागमन' से '[illegible] होकर सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म से मिलकर शाश्वत आनन्दमय अवस्था का अनुभव क[illegible]

उक्त भावना ने गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व की [illegible] भावनाओं से भागकर अपनी वैयक्तिक 'मुक्ति' के लिए सतत ब्रह्म-चिन्तन को ब[illegible] प्रोत्साहित किया है।

मोक्ष-प्राप्ति की भावना का मूल स्रोत 'संसार दुःखमय है', 'बन्धरू[illegible] 'मिथ्या है', इन विचारों में अथवा 'मृत्यु की विभीषिका' में माना जाता रहा [illegible] कि स्वतः उस भावना के उत्कृष्ट मूल्यांकन में।

संस्कृत का प्राचीन तथा नवीन साहित्य ऐसी विचारधाराओं से भरा पड़ा [illegible] और उनका आधार अन्ततोगत्वा उपनिषदों को ही माना जाता है। उदाहरण [illegible] निम्नलिखित वचनों को देखिए :

को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः।
को दीर्घरोगो भव एव साधो ! (७)
विषाद् विषं किं विषयाः समस्ताः। (१२)

(श्री शंकराचार्यकृत प्रश्नोत्त

अर्थात्, अपना शरीर ही घोर नरक है।
संसार ही बड़ा भारी रोग है।
सांसारिक विषय ही सबसे भयंकर विष हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे। (१)

नलिनीदलगतजलमतितरलं
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्। (४)

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः। (८)

मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा। (११)

यावज्जननं तावन्मरणं
तावज्जननीजठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः। (२१)

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारम्। (२३)

(श्री शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर)

अर्थात्, कर्म करने से मनुष्य का त्राण नहीं होता है।

जीवन पद्म-पत्र पर पड़े हुए जल के समान अति चपल है।

कौन तेरी स्त्री है और कौन तेरा पुत्र है ?

यह संसार मिथ्या है, इसको नितरां छोड़कर तू ब्रह्म-पद में प्रवेश कर जा।

जन्म-मरण और फिर माता के पेट में शयन करना—संसार का यही रूप है। उसका दोष अत्यन्त स्पष्ट है।

तू कौन है ? मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? कौन मेरी माता और कौन पिता है ? इस प्रकार संसार को असार समझो।

विवेकचूड़ामणि[1] श्री शंकराचार्य की प्रसिद्ध पुस्तक है। उसमें स्पष्टतया सर्व-कर्म-परित्याग, मृत्यु की विभीषिका, संसार-तापों की अग्नि-ज्वालाओं से सन्ताप, संसार-रूपी कारागार और भव-बन्ध की बातें कही गयी हैं।

ईसा से १५० वर्ष पूर्व के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ व्याकरण-महाभाष्य में परिव्राजक (संन्यासी) अर्थवाले 'मस्करी' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है :

मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याह,
अतो मस्करी परिव्राजकः। (६।१।१५४)

अर्थात्, संन्यासी को मस्करी इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह सबसे कहता है कि 'तुम लोग कर्म मत करो, तुम्हारे लिए शान्ति ही अच्छी है।'

---

1. "संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये" (१०), "भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः" (३८), "संतप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो" (४१), "संसारकारागृहमोक्षमिच्छोः" (२७३), (विवेकचूड़ामणि)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भर्तृहरि के शतकत्रय (शृंगारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक) प्रसिद्ध वे सांसारिक जीवन के एक असाधारण विवेचक और पण्डित थे। उनके वैराग्य में सांसारिक जीवन से ऊबकर और अपने कर्तव्यों से भागकर पर्वतों की कन्दराओं में, अरण्यों में, संसर्गदोषरहित विजन वनान्तों में जाकर रहने की ओर का जीवन व्यतीत करने की बार-बार तीव्र उत्सुकता प्रकट की गयी है।[१]

अभिप्राय यह है कि भारतीय चिन्तन में चिरकाल से उक्त प्रकार भावनाओं का गहरा स्थान रहा है और इन सबका मूल उपनिषदों को ही मा जाता रहा है।

प्रथम इसके कि औपनिषद धारा के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की यह दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपनिषदों के विवेचनात्मक अध्ययन उक्त धारणाओं का कहाँ तक समर्थन होता है।

उपनिषद् और संन्यास

सबसे पहले हम इस धारणा को लेते हैं कि औपनिषद धारा (या वेदान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध मूलतः संन्यासियों से ही है।

'भारतीय संस्कृति का विकास', प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' के प्रथम, और दशम परिच्छेदों (द्वितीय संस्करण में पृ० १३, १८१-१८२, २१९-२ में हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि संन्यासाश्रम का मौलिक सम्बन्ध धारा से नहीं था।

अगले परिच्छेद में हम ऐतिहासिक दृष्टि से औपनिषद धारा के प्रारंभ विकास को दिखाएँगे। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि औपनिषद धारा का प्रारं उत्थान वैदिक धारा से ही हुआ था। ऐसी स्थिति में स्पष्टतः औपनिषद धारा मूल में संन्यासाश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

प्राचीन दसों उपनिषदों के विवेचनात्मक अध्ययन से भी इसी बात की होती है।

यह ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के विचार प्रथमतः महा (=महागृहस्थ) विद्वानों की जिज्ञासाओं से प्रवृत्त होते हैं और उन जिज्ञासाओं निवृत्ति या समाधान प्रायः प्रजा-पालन के कर्तव्यों में संलग्न गृहस्थाश्रमी राजाओं होता है।

---

१. तु० "युक्तं केवलमेतदेव सुधियां ··· गिरीन्द्रकन्दरदरीकुञ्जे निवासः क्वचित्" (३१), "किं कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः" (६७), "स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं ग (६८), "यान्तु दिवसाः सदा पुण्येऽरण्ये" (४०), "सन्तो वनान्तं गताः" (६६), " दोषरहिता विजना वनान्ताः" (७३), "निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनम्" (१ (वैराग्यशतक)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरणार्थ, देखिए :

"शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।"

(मु० उ० १।१।३)

अर्थात्, शौनक नाम के प्रसिद्ध महागृहस्थ ने अंगिरस् के पास विधिपूर्वक उपस्थित होकर पूछा।

यहाँ 'महाशाल' का अर्थ स्वयं शंकराचार्य ने 'महागृहस्थ' किया है।

छान्दोग्योपनिषद् (५।११) में प्राचीनशाल आदि अनेक गृहस्थ[1] जिज्ञासु आत्मा और ब्रह्म के विषय में तत्त्वज्ञान के लिए पहले उद्दालक आचार्य के पास उपस्थित होते हैं, जो स्वयं गृहस्थ थे। और अन्त में उन्हीं आचार्य की प्रेरणा से, उनको साथ लेकर, केकय देश के अधिपति राजा अश्वपति की सेवा में उपस्थित होते हैं और वे उनको उपदेश देते हैं।

इसी तरह के प्रसंग उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आते हैं।

वास्तव में, यहाँ तक कहा जा सकता है कि प्राचीन दसों उपनिषदों में व्यक्तिक नाम लेकर जिन जिज्ञासुओं अथवा समाधान करनेवाले उपदेष्टाओं का उल्लेख आया है, वे सब या तो ब्रह्मचारी हैं या गृहस्थी (जो अपने परिवार के साथ रहते हैं), संन्यासी कोई नहीं है।

ऊपर द्वितीय परिच्छेद में हम दिखला चुके हैं कि औपनिषद धारा में संन्यास मौलिक न होकर, आगन्तुक ही था। तो भी यह कहना ठीक होगा कि पीछे शनैः-शनैः संन्यास का सम्बन्ध औपनिषद धारा से बढ़ता गया, यहाँ तक कि अन्त उसको संन्यासियों की ही वस्तु समझा जाने लगा। पीछे से 'संन्यास-उपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध उपनिषदों का निर्माण, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, क्रमशः बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

उपनिषद् और वैराग्य

औपनिषद धारा की मूल प्रवृत्तियों के प्रसङ्ग में हम दिखला चुके हैं कि संयत वैराग्य का आध्यात्मिक जीवन और अतएव औपनिषद धारा से मौलिक सम्बन्ध है।

'संयत वैराग्य' से हमारा क्या अभिप्राय है, इसको यहाँ स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

वैराग्य को हम मूढ वैराग्य और सात्त्विक वैराग्य इन दो भेदों में बाँट सकते हैं।

सात्त्विक वैराग्य का आधार जीवन की प्रगति में शाश्वतिक और अस्थिर अथवा क्षणभंगुर वस्तुओं के मूल्यों के बुद्धिपूर्वक विवेचन पर होता है। मनुष्य के अन्दर स्वभावतः एक ऐसे सुख की अभिलाषा है जो शाश्वत हो, अमृत हो, कभी नष्ट

[1] देखिए : "ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः—को नु आत्मा किं ब्रह्मेति" (छा० उ० ५।११।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न हो। वह उसीकी तलाश में रहता है। विभिन्न उपभोग्य पदार्थों में मानो वह उ
को ढूँढता है, पर पाता नहीं है। वह उक्त दोनों प्रकार के पदार्थों का मूल्यांकन क
है और अन्ततः अध्रुव पदार्थों से विरक्त होकर उनके सामने शाश्वतिक मूल्य के प
को, आदर्शों को, पसन्द करता है, उनका अनुसरण करता है। वह अध्रुव पदार्थों
ऐकान्तिक या नितरां तिरस्कार नहीं करता, उनका संयत उपयोग करता है, उन्
आदर्शों की ओर अपनी प्रगति में।

उपनिषदों में उक्त तथ्य को विभिन्न प्रकार से कहा गया है।[1] राज्
शासन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता राजा जनक आदि की सुप्रसिद्ध कथाएँ इसी बा
पुष्टि करती हैं।

इसी प्रकार के सात्त्विक वैराग्य को हमने ऊपर संयत वैराग्य कहा है।
वैराग्य का सम्बन्ध बुद्धि और विवेक से न होकर मूढ भावनाओं से होता है। उ
मुख्य आधार होता है—दोषदर्शिता, आलस्य, कर्तव्यभीरुता और हृदयदौर्
उसमें जीवन के आदर्शों का विशेष मूल्यांकन नहीं होता।

यह ध्यान देने की बात है कि औपनिषद धारा के ह्रास के दिनों में जिस
वैराग्य का अत्यधिक प्राचुर्य दिखलाई देता है और जिसने हमारे जातीय जीवन
निष्क्रिय और निष्प्राण बनाने में बड़ा भाग लिया था, उसका प्राचीन दस उपनि
में कोई स्थान नहीं है।

उदाहरणार्थ, देखिए :

यह सब जानते हैं कि उत्तरकालीन वेदान्त के ग्रन्थों में सांसारिक ऐश्व
निन्दा के साथ-साथ "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" (अर्थात्, कौपीनधारी, न
अकिञ्चन ही, भाग्यशील होते हैं) के आदर्श की ही सराहना की गयी है।[2] पु
के सम्बन्ध को बन्धन और स्त्री को नरक का द्वार कहा गया है।[3] संसार को बन्ध
कारागार (=क़ैदख़ाना) बतलाया गया है।[4] जीवन मायामात्र अथवा मिथ्या
रक्त-मांसादि से निर्मित यह क्षण-भंगुर शरीर अत्यन्त घृणास्पद है।[5] इत्यादि प्र

१. देखिए : "नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" (कठोप० १।२।१०)। "अमृतत्वस्य तु न
विक्तेनेति" (बृ० उ० २।४।२)। "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" (कठोप० १।१।२७)
२. तु० "अर्थमनर्थं भावय नित्यम्", "मूढ जहीहि धनागमतृष्णाम्" (मोहमुद्गर २९।२)
३. तु० "का ते कान्ता कस्ते पुत्रः", "का मे जननी को मे तातः" (मोहमुद्गर ८, २३);
किमेकं नरकस्य नारी" (प्रश्नोत्तरी ३)।
४. तु० "भवबन्धविमुक्तये", "संसारकारागृहमोक्षमिच्छोः" (विवेकचूडामणि ६८, २७३)
५. तु० "मायामात्रमिदं द्वैतम्" (विवेकचूडामणि ४०६), "मायामयमिदमखिलम्" (मोह
११), "संसारमिथ्यात्व-" (प्रश्नोत्तरी ३१)।
६. तु० "त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्। पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं व
(विवेकचूडामणि ८९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचारों द्वारा सांसारिक कर्तव्यों से भागकर संन्यास की ओर मूढ वैराग्य की प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन पिछले काल के वेदान्त की एक मुख्य विशेषता रही है।

परन्तु यह उल्लेखनीय बात है कि प्राचीन दसों उपनिषदों में ऐसे विचारों का सर्वथा अभाव है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२) में उद्दालक और पञ्चाल देश के राजा जैवलि प्रवाहण की एक कथा दी गयी है। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्वेतकेतु के पिता महाविद्वान् उद्दालक प्रवाहण की सेवा में शिष्य-भाव से उपस्थित होकर कुछ रहस्यात्मक प्रश्न पूछते हैं। प्रवाहण पहले उनसे कहते हैं कि ये प्रश्न तो दैवी वरों में से हैं, तुम मनुष्य-सम्बन्धी वरों में से धनादि-विषयक कोई वर माँगो। इस पर उद्दालक कहते हैं :

"विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां
दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य।" (बृ० उ० ६।२।७)

अर्थात्, आप जानते हैं कि जहाँ तक सांसारिक ऐश्वर्य का प्रश्न है वह तो पहले से ही मेरे पास है; क्योंकि हिरण्य (= धन), गौओं, घोड़ों, दासियों, परिवारों (नौकर-चाकरों) और वस्त्र की संपत्ति तो मुझे पहले से ही प्राप्त है।

औपनिषद विचारधारा से संबद्ध एक सुप्रसिद्ध आचार्य के वैभवशाली रहन-सहन का यह उदाहरण हमारे उक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

ऐसे ही और अनेकानेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।[1]

इसी प्रकार स्थान-स्थान पर उपनिषदों में ब्रह्मविद् आचार्यों की पुत्र-पौत्रादि संतति का और उनके सुखमय और ऐश्वर्य-युक्त गृहस्थ-जीवन का उल्लेख उपलब्ध होता है।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि दसों उपनिषदों में कहीं भी स्त्री-जाति के प्रति निन्दा के शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके विपरीत, वहाँ ब्रह्मविद्या में निष्णात अथवा रुचि रखनेवाली विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है।[3]

दसों उपनिषदों में संसार को कहीं भी न तो बन्ध, न कारागार कहा गया है। यहाँ तक कि स्वयं 'संसार' शब्द, जो उत्तरकालीन विचारधारा का द्योतक है, केवल

---

१. देखिए : "तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते। प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्", "तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति", "तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च" (छा० उ० ५।१३,१४,१५)।

२. तु० "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या।···य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या" (तै० उ० ३।६)। "तद्धेतद् उद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच। इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने" (छा० उ० ३।११।४-५)।

३. देखिए : गार्गी वाचक्नवी और याज्ञवल्क्य का संवाद तथा मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का संवाद (बृ० उ० ३।६ तथा ४।५)। किञ्च, "स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात्" (छा० उ० ५।२।८) उपनिषदों में ऐसे वचनों से स्त्रियों के प्रति आदर-भाव ही स्पष्ट होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कठोपनिषद् (१।३।७ : "संसारं चाधिगच्छति") को छोड़कर, और कहीं प्रयु
नहीं हुआ है।

इसी प्रकार शरीर के प्रति जुगुप्सा या अपवित्रता की भावना अभी तक हम
कहीं भी इन उपनिषदों में नहीं मिली है।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि 'जीवन या यह संसार मायामय
मिथ्या है' इस सिद्धान्त का नाममात्र का उल्लेख भी इन उपनिषदों में कहीं न
मिलता है; यहाँ तक कि 'माया' और 'मिथ्या' इन शब्दों का प्रयोग भी उक्त अभिप्र
से यहाँ कहीं नहीं हुआ है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौलिक औपनिषद धारा में
वैराग्य का वास्तव में कोई स्थान नहीं था।

हाँ, पीछे से धीरे-धीरे ऊपर दिखलायी हुई वैराग्य की भावना औपनि
धारा में अवश्य प्रवेश पाने लगी थी। यही कारण है कि बृहदारण्यकोपनिषद्
कहीं-कहीं[1] प्राचीन काल के परिव्राजकों का उदाहरण देकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा
लोकैषणा को छोड़कर भिक्षाचर्या से जीवन-यात्रा की बात कही गयी है। स्पष्ट
पूर्वोक्त संन्यास की प्रवृत्ति के समान यह प्रवृत्ति भी औपनिषद धारा में, मौलि
न होकर, आगन्तुक ही थी। 'औपनिषद धारा के प्रारम्भ और विकास' को दिख
हुए, अगले परिच्छेद में, हम इसकी विशेष व्याख्या करेंगे।

वेदान्त की उत्तरकालीन परम्परा के अनुसार औपनिषद धारा के नाम
प्रचलित अनेक धारणाओं को उस धारा से मूलतः असंबद्ध दिखला देने के बाद स्व
यह प्रश्न उठता है कि औपनिषद धारा का वास्तविक स्वरूप क्या था। नीचे
इसी जिज्ञासा का समाधान करने का प्रयत्न करेंगे।

औपनिषद धारा का वास्तविक स्वरूप

मनुष्य का जीवन स्वभावतः कामना-प्रधान है। उसकी स्वाभाविक प्रवृ
सुख की प्राप्ति अथवा दुःख की निवृत्ति के लिए ही होती है। प्रारम्भ में वह जीव
यात्रा के भौतिक अथवा बाह्य साधनों की प्राप्ति में ही सुख समझता है।

चाहे उसके प्रतिदिन के लौकिक व्यापारों को लिया जाय, अथवा धर्म
नाम पर किये जानेवाले तत्तत् कर्मकाण्ड को, उन सबके पीछे उसकी उपर्युक्त सु
प्राप्ति की कामना ही काम करती हुई दीख पड़ती है।

मनुस्मृति ने ठीक ही कहा है :

> अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
> यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

---

१. देखिए, बृ० उ० ३।५।१ तथा ४।४।२२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः । (मनु० २।४, २)

अर्थात्, मनुष्य के जीवन में कोई भी क्रिया कामना के बिना नहीं देखी जाती । वह जो कुछ करता है वह कामना से प्रेरित होकर ही करता है । वेदों का अध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड भी कामना-मूलक ही हैं ।

मनुष्य-जीवन की इस स्थिति को, जब कि उसकी लौकिक अथवा धार्मिक (या पारलौकिक) सारी प्रवृत्ति भौतिक अथवा बाह्य पदार्थों की प्राप्ति और उनके उपभोगात्मक सुख के लिए ही होती है, प्रवृत्ति-मार्ग अथवा औपनिषद धारा की परिभाषा में प्रेय-मार्ग कहते हैं ।[1]

अन्तःसमीक्षण का प्रारम्भ

परन्तु क्रमशः मन और बुद्धि के विकास से एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य अनुभव करने लगता है कि सुख-दुःख-मूलक उसकी सारी प्रवृत्ति से वास्तव में उसकी आन्तरिक तृप्ति और सन्तोष नहीं होता ।

इसी बात को उपनिषदों में इन शब्दों में कहा गया है :

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।"

(कठोप० १।१।२७)

अर्थात्, धनादि बाह्य पदार्थों से मनुष्य को वास्तविक संतोष नहीं प्राप्त होता ।

बाह्य उपभोग के साधन स्थायी नहीं होते । इसलिए उनसे जो सुख का अनुभव होता है, वह भी क्षणिक होता है । इसीलिए परिणाम में वे दुःख देनेवाले ही बन जाते हैं ।

इसी भाव को कठोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है :

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।

(कठोप० १।१।२६)

अर्थात्, नचिकेतस् यमराज से कहता है :

हे यमराज ! मरणशील मनुष्य के बाह्य या भौतिक उपभोग्य पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । साथ ही उनके उपभोग से इन्द्रियों का तेज भी जीर्ण हो जाता है । फिर यह सारा जीवन भी तो थोड़ा ही है ।

जो बात सांसारिक उपभोग्य पदार्थों की है, वही स्त्री, पशु, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि अथवा स्वर्ग की कामना से किये जानेवाले धार्मिक कर्मकाण्ड की भी है । उसका

[1] आधुनिक नीतिशास्त्र (Ethics) में इसी सिद्धान्त को 'आधिभौतिक सुखवाद' (Hedonism) इस नाम से कहा जाता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फल भी अस्थायी और विनाशशील और परिणाम में दुःखप्रद ही होता है। इसीलि छान्दोग्योपनिषद् का कहना है :

"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।"

(छा० उ० ८।१।६)

अर्थात्, जिस प्रकार इस लोक में कर्म द्वारा प्राप्त सुख की सामग्री नष्ट हो जानेवा अस्थिर है, इसी प्रकार यज्ञादि द्वारा प्राप्तव्य परलोक के पदार्थ भी नष्ट हो जानेव ही होते हैं।

ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर मनुष्य में अन्तःसमीक्षण की प्रवृत्ति जाग होती है। अन्तर्मुख होकर वह उस आनन्द की खोज में प्रवृत्त होता है जो स्थिर और जिसमें किसी प्रकार की रिक्तता और अशान्ति का अनुभव न हो।

यहीं श्रेयमार्ग अथवा निवृत्ति-मार्ग का प्रारम्भ होता है। वास्तव में औपनिषद धारा की भूमिका है।

आत्म-जिज्ञासा, ब्रह्म-जिज्ञासा और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

अन्तःसमीक्षण की प्रवृत्ति के जागरित हो जाने पर मनुष्य आपाततः दृश्यम जगत् की आन्तर अथवा बाह्य क्रियाओं और उनके अनुभवों से सन्तुष्ट नहीं होत वह उनके मूल को समझना चाहता है। इस अवस्था में उसमें दो प्रकार जिज्ञासाओं का उदय होना स्वाभाविक होता है।

प्रथम तो वह यह सोचता है कि समस्त विश्व की प्रक्रिया, जो व्यवस्थि कल्याणोन्मुख और सहेतुक अथवा बुद्ध्यनुगत दीखती है[1], किसी एक ऐसे मौलिक त से ओत-प्रोत अथवा अनुस्यूत होनी चाहिए जो आपाततः दृश्यमान वैविध्य में एक एकसूत्रता अथवा सामञ्जस्य का संपादक हो। प्रकृति के तत्तद्विभागों के अधिष्ठातृ-रूप विभिन्न देवताओं से उसकी जिज्ञासा को शान्ति नहीं मिलती। मूलतत्त्व को उपनिषदों में ब्रह्म, अक्षर, पुरुष अथवा पर-पुरुष आदि शब्दों से गया है।[2]

दूसरी ओर वह अपने वैयक्तिक जीवन के विविध अनुभवों और व्यापारों एकत्व और सामञ्जस्य के सम्पादक तत्त्व के स्वरूप को जानना चाहता है। दृश्य ज के अनुभव में आनेवाले व्यापारों का, तत्तद्विषयों का द्रष्टा, उपभोक्ता, सुख-दु आनन्द और शान्ति का अनुभव करनेवाला कौन है? वह कैसा है? यही उ

---

१. तु० "विश्वमेतद् यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा। नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना मन्यताम्॥ तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्। चाल्यते हितभावेन ता समाश्रये॥" (रश्मिमाला ६६।१-२)।

२. तु० "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।" (ऋग्वेद १।१६४।४६ "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म" (कठोप० १।२।१६)। "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु ३।२।८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरी जिज्ञासा होती है। यही आत्म-जिज्ञासा है। इसी आत्मा को उपनिषदों में 'प्रत्यगात्मा' और 'अन्तरात्मा' आदि शब्दों से भी कहा गया है।[1]

उपर्युक्त दोनों जिज्ञासाएँ पहले पृथक्-पृथक् चल सकती हैं। परन्तु अन्त में दोनों का पर्यवसान इस जिज्ञासा में ही होता है कि आत्मा और ब्रह्म दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या और कैसा है।[2]

इस जिज्ञासा का अन्तिम समाधान, विभिन्न युक्तियों के साथ, उपनिषदें जिन शब्दों में देती हैं वे इस प्रकार हैं :

"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"

(बृ० उ० २।५।१९)

अर्थात्, यही आत्मा ब्रह्म है जो सबका द्रष्टा है।

"स वा अयमात्मा ब्रह्म"

(बृ० उ० ४।४।५)

अर्थात्, वह यह आत्मा ही ब्रह्म है।

"तत् त्वमसि श्वेतकेतो"

(छा० उ० ६।८।७)

अर्थात्, हे श्वेतकेतु तू वही (=ब्रह्म) है।

उपनिषदों में ऊपर जैसे कथनों का वास्तव में क्या अभिप्राय है या होना चाहिए, वेदान्त-शास्त्र का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। विभिन्न भाष्यकारों ने इनकी अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या की है। हम उस विवाद में यहाँ नहीं जाना चाहते। तो भी इतना समझ लेना चाहिए कि उक्त जिज्ञासा का समाधान उपनिषदों में प्रायः उक्त शब्दों में ही दिया है।

जीवन का परम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन

उक्त जिज्ञासाओं के समाधान के अनन्तर स्वाभाविक प्रश्न यही होता है कि जीवन का परम लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं।

चिन्तन की उपर्युक्त भूमिका के अनन्तर मनुष्य को प्रतीत हो जाता है कि वास्तव में उसका स्वरूप सब प्रकार के तमस् अर्थात् अज्ञान और पाप से परे है।[3] वह हर्ष-शोक से परे शाश्वत आनन्दमय और सब प्रकार की अपूर्णता और रिक्तता से रहित है।[4] तथापि उसकी वर्तमान स्थिति वैसी नहीं है।

---

१. दे० "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।" (कठोप० २।१।१)। "अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः" (कठोप० २।३।१७)।

२. दे० "ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः। को नु आत्मा किं ब्रह्मेति।" (छा० उ० ५।११।१)।

३. तु० "असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।" (बृ० उ० १।३।२८)।

४. "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको...सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० उ० ८।७।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसी अवस्था में उसके जीवन का परम लक्ष्य यही हो जाता है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करे। दूसरे शब्दों में, विश्व की समष्टि-रूप ब्रह्म के साथ अपने व्यष्टिगत जीवन के सामञ्जस्य अथवा सामरस्य को स्थापित करे। यह स्थिति स्वार्थ और परार्थ में अद्वैत-भावना से ही प्राप्त हो सकती है। वास्तव में यही अमृतत्व अथवा निःश्रेयस की प्राप्ति है।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति इसी जीवन में हो सकती है। इसीलिए कहा गया है :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोप० २।५)

अर्थात्, मनुष्य ने यदि इसी जन्म में वास्तविक तत्त्व को जान लिया, तब तो ठीक है। यदि इस जन्म में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

(कठोप० २।३।१४)

अर्थात्, तत्त्वज्ञानी मनुष्य इसी जीवन में ब्रह्म को प्राप्त कर अमृत हो जाता है।

अन्त में प्रश्न यही रह जाता है कि जीवन के उस परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है?

इसका उत्तर यही है कि उपनिषदों की दृष्टि में उस लक्ष्य की प्राप्ति में श्रद्धा, तपस् और ब्रह्मचर्य की अनिवार्य आवश्यकता है।[1]

श्रद्धा का अर्थ लक्ष्य में एकान्त निष्ठा अथवा आस्था है। इसके लिए ही उपनिषदों में आध्यात्मिक तत्त्वों के विषय में बराबर श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता बतलायी गयी है।[2] श्रवण का अर्थ स्वाध्याय, मनन का विचार और निदिध्यासन का सतत गम्भीर चिन्तन है।

तपस् का अर्थ कष्ट-सहिष्णुता है। अर्थात्, ऐन्द्रियक सुख के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति (=प्रेयमार्ग) को छोड़कर कर्तव्य अथवा आदर्श के मार्ग (श्रेयमार्ग) पर चलना।

ब्रह्मचर्य से अभिप्राय चित्त की वृत्तियों और इन्द्रियों के संयम से है।

इस प्रकार श्रद्धा, तपस् और ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य—शाश्वत आनन्दमयी स्थिति और पूर्णता—को प्राप्त कर अमृत हो सकता है।

संक्षेप में औपनिषद धारा का यही स्वरूप है।

---

१. दे० प्रश्नोप० १।२।१० ; ५।३; छा० उ० ५।१०।१; ८।५।१-५ ।

२. दे० बृ० उ० २।४।५ ; ४।५।६ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दसवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास

औपनिषद धारा के स्वरूप के दिग्दर्शन के अनन्तर अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति की परम्परा में, ऐतिहासिक दृष्टि से, उसका प्रारम्भ और विकास कब और कैसे हुआ था।

अत्यधिक जटिल वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया

अपनी अन्तिम अवस्था में वैदिक धारा प्रायेण लौकिक सुख-ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा की कामना से प्रवृत्त और क्रमशः कृत्रिम जटिलता की ओर बढ़ते हुए शुष्क कर्मकाण्ड को ही सब कुछ मानने लगी थी। अन्तःसमीक्षण पर आधृत और वास्तव में आत्म-कल्याण या श्रेय के मार्ग पर चलनेवाली औपनिषद धारा के लिए स्पष्टतः उसमें कोई स्थान नहीं हो सकता था।

इसीलिए शुष्क वैदिक कर्मकाण्ड में आस्था रखनेवालों के विषय में कहा गया है :

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।

(गीता ९।२१)

अर्थात्, वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड का आश्रय लेनेवाले केवल लौकिक कामनाओं से प्रभावित होते हैं और अतएव बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड को ही 'त्रयीधर्म' (= ऋग्, यजुः और सामवेद का प्रतिपाद्य धर्म) इस शब्द से कहा गया है और उसका अनुसरण करनेवालों को 'कामकामाः' (= कामनाओं के पीछे दौड़नेवाले) बतलाया गया है।[1]

वास्तव में कामना-प्रधान जटिल तथा कृत्रिम वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के रूप में ही औपनिषद धारा का प्रारम्भ हुआ था; अनेकानेक प्रमाणों, युक्ति और उपपत्ति के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

मानव के विकास में एक अवस्था ऐसी आती है, जब उसका सन्तोष सांसारिक सुख-ऐश्वर्य तथा प्रतिष्ठा से नहीं होता; उसकी दृष्टि जीवन के शाश्वतिक मूल्यों, आत्म-कल्याण और वास्तविक शान्ति की ओर झुक जाती है। इसीसे वह विश्व-प्रपञ्च के मौलिक तत्त्व की तथा आत्मस्वरूप की जिज्ञासा में प्रवृत्त होता है।

---

1. तु० "त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः" (भागवत ६।३।२५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी अभिप्राय से उपनिषदों में ही कहा गया है :

पराचः कामाननुयन्ति बालाः···
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

(कठोप० २।१।२

अर्थात् , मन्द-प्रज्ञ लोग बाह्य अर्थात् ऐन्द्रियक कामनाओं का अनुसरण करते हैं परन्तु जो बुद्धिमान् हैं, दीर्घदर्शी हैं, वे अमृतत्व अर्थात् शाश्वत जीवन के स्वरूप को समझकर नश्वर पदार्थों में ध्रुव पदार्थ की खोज नहीं करते ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।

(कठोप० २।२।१३

अर्थात् , शाश्वत शान्ति उन्हीं को प्राप्त होती है जो अपने अन्दर में अवस्थित मूलतत्त्व का दर्शन करते हैं, दूसरों को नहीं ।

ऋग्वेद की एक सुन्दर उक्ति है :

"हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"

(ऋग्० १०।१२९।

अर्थात् मनीषी लोग अन्तर्मुख होकर अपने हृदय में ही बुद्धि-पूर्वक (तत्त्वानुसं करते हैं)। दूसरे शब्दों में, तत्त्वदर्शी मनीषी ही नियमतः किसी नवीन विचार के प्रवर्तक हुआ करते हैं ।

अशाश्वत लौकिक कामनाओं को लेकर चलनेवाले आदर्शहीन वैदिक क काण्ड से धीर मनीषियों की विरक्ति का होना और वास्तविक आत्म-कल्याण के म को सुझानेवाली औपनिषद धारा में उनका प्रवृत्त होना स्वाभाविक था ।

उक्त विरक्ति की भावना को उपनिषदों में ही बार-बार स्पष्ट शब्दों में क गया है; जैसे :

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः···
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

(मु० उ० १।२।

अर्थात् , ये यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ नौका के समान हैं। अविवेकी लोग ही इ कल्याणकर मानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, और इसीलिए वे बार-बार जरा मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

"तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत
एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते ।"

(छा० उ० ८।१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जिस प्रकार इस लोक में कर्म द्वारा प्राप्त स्थिति अन्त में नष्ट हो जाती है, ऐसे ही परलोक में यज्ञादि के पुण्य द्वारा प्राप्त स्थिति नष्ट हो जाती है। अर्थात् यज्ञों द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽह-
मस्मीति न स वेद। यथा पशुरेवं स देवानाम्।"

(बृ० उ० १।४।१०)

अर्थात्, परन्तु जो (ब्रह्मरूप आत्मा को छोड़कर) किसी अन्य देवता की उपासना करता है, उस देवता को अपने से पृथक् समझता है (जैसा कि यज्ञों में तत्तद्देवता के विषय में होता है), वह वास्तविक तत्त्व को नहीं समझता। जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है।

स्पष्टतया इसका अभिप्राय यही है कि अज्ञानी लोग ही याज्ञिक कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् (३।९।२१) में मृत्यु के देवता यम का स्थान यज्ञ में बतलाया गया है ("यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? यज्ञ इति")। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि यज्ञों द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति असम्भव है।

इस प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रति विरक्ति की भावना प्रकट की गयी है।[१]

कामनाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड को उपनिषदों में प्रायः 'अविद्या' कहा गया है और उस मार्ग का अनुसरण करनेवालों को 'मूढ', 'पण्डितंमन्य' और 'बाल' अर्थात् अज्ञानी, इन उपाधियों से स्मरण किया है।[२]

इससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा की कर्मकाण्ड की भावना से ऊपर उठकर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही मनीषियों द्वारा औपनिषद धारा का प्रारम्भ हुआ था।

वैदिक धारा से उद्गम

औपनिषद धारा के प्रारम्भ के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं है कि उसके उद्गम का स्रोत वैदिक धारा से बाहर का था, अथवा यह कि उसके प्रारम्भ की प्रेरणा उन लोगों से प्राप्त हुई थी जो स्वयं वैदिक धारा के अनुगामी नहीं थे।

---

१. तु० "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥" (गीता २।४२-४३)। तथा "मुह्यन्त्याम्नायवादिनः। कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः" (भागवत ११।५।५-६)। तथा सूतसंहिता (४।१०।६४-६६)। इस प्रसङ्ग में केनोपनिषद् (३) भी देखिए, तथा धम्मपद (१०६-१०७)।

२. दे० "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।" (मु० उ० १।२।८-९) तथा कठोप० १।२।४-५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक धारा के वातावरण में ही उसी धारा का अनुस[रण] करनेवाले मनीषियों ने प्रथमतः उसको जन्म दिया था। आगे चलकर, जैसा हम [दि]खलायेंगे, उसको एक दूसरी सांस्कृतिक धारा ने, मुनिसंप्रदाय की त्याग और सं[न्यास] की धारा ने, अवश्य प्रभावित किया; पर अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वह वैदिक [धारा] का ही एक प्रकार से विकसित रूप था—ऐसा मानना चाहिए।

इसीलिए उपनिषदों में, जहाँ-तहाँ वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विरक्ति [की] भावना के प्रकट किये जाने पर भी, उसका एकान्ततः खण्डन कहीं नहीं किया गया; हाँ, उसको ज्ञानपूर्वक ही किया जाय—इसकी प्रेरणा अवश्य की गयी है।[1] कहीं-[कहीं] यज्ञ और उसकी प्रक्रिया को आध्यात्मिक रूप देने का भी यत्न किया गया है। उ[दा]हरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद् (३।१६) में पुरुष को ही साक्षात् यज्ञ मानकर उ[सके] जीवन की तीन अवस्थाओं को क्रमशः यज्ञीय प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृ[तीय] **सवन** बतलाया गया है। याज्ञिक भावना का इस प्रकार का उदात्तीकरण उपनिषदों [में] प्रायः पाया जाता है।

इसके साथ ही, अपने कथन के समर्थन में अथवा अपने अंश के रूप में उपनिषदों में वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया गया है।[2]

इत्यादि कारणों से यह स्पष्ट है कि औपनिषद धारा का वैदिक धारा से मू[ल] विरोध नहीं था, प्रत्युत उसको हम एक प्रकार से वैदिक धारा का विकास ही कह स[कते] हैं। इसीसे अनेक प्राचीन उपनिषदों को कर्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों का अ[न्तिम] भाग ही समझा जाता है। इसीलिए औपनिषद धारा के लिए पीछे से दिया ग[या] 'वेदान्त' (वेद + अन्त) यह नाम सार्थक माना जा सकता है।

औपनिषद धारा और अथर्ववेद

ऊपर उपनिषदों में वैदिक मन्त्रों के उद्धरण की बात कही गयी है। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जहाँ तक औपनिषद धारा के विचारों के प्रारम्भ[का] प्रश्न है, क्या उसको चारों वैदिक संहिताओं के विस्तृत साहित्य में दिखलाया [जा] सकता है?

---

१. तु० "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव वि[द्यया] करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।" (छा० उ० १।१।१०)। "स य इदमवि[द्वान]ग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात्। अथ य एतदेवं विद्वानग्नि[होत्रं] जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति।" (छा० उ० ५।२४।१-[२]) तथा (बृ० उ० ३।८।१०)।

२. उदाहरणार्थ, तु० कठोप० २।१।८ तथा ऋग्० ३।२९।२; कठोप० २।२।२ तथा ऋग्० ४।४०।५; यजु० १०।२४; मु० उ० ३।१।१ तथा ऋग्० १।१६४।२०; बृ० उ० ५।१५ तथा [ई]... १।१८९।१। तथा दे० "तदेतदृचाभ्यनूक्तम्" (छा० उ० ३।१२।५), "तदेतदृचाभ्यु[क्तम्]" (बृ० उ० ४।४।२३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका उत्तर यही है कि जहाँ तक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद संहिताओं की 'त्रयी' की बात है, उनमें कुछ स्थल ऐसे अवश्य उपलब्ध हैं जिनमें अध्यात्म मूलतत्त्व की भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। उदाहरणार्थ, देखिए :

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

(ऋग्० १।१६४।४६)

अर्थात्, विद्वान् लोग एक ही मूलतत्त्व को अग्नि, यम आदि नामों से कहते हैं।

ऐसे ही विचार यजुर्वेद और सामवेद में भी पाये जाते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १६४वाँ सूक्त तथा दशम मण्डल का १२९वाँ सूक्त और यजुर्वेद आदि का पुरुषसूक्त (यजु० अध्याय ३१; ऋग्वेद १०।९०) गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसे ही और भी महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय तो ईशावास्योपनिषद् से प्रायः अभिन्न ही है। इन विचारों में स्पष्टतः औपनिषद धारा के प्रारम्भ का संकेत दिखलाया जा सकता है।

यह सब ठीक है, तो भी यहाँ एक बात विचारणीय है।

उपर्युक्त तीनों वेदों के लिए ही 'त्रयी' यह नाम प्राचीन साहित्य में प्रसिद्ध है। वेद-त्रयी का साक्षात् सम्बन्ध कामना-प्रधान श्रौत (=वैदिक) कर्मकाण्ड से सर्वत्र माना गया है।[१] इसी दृष्टि को लेकर **भगवद्गीता, भागवत** आदि में, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, त्रयी और त्रयी-धर्म की भर्त्सना की गयी है। इसलिए उपर्युक्त अध्यात्म-विषयक स्थलों का त्रयी के साथ कोई गहरा प्रातिस्विक सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए ये अंश इन संहिताओं में आगन्तुक अथवा पीछे से बढ़ाये हुए हैं, ऐसा भी अनेक विद्वान् मानते हैं।

इसके विपरीत **अथर्ववेद-संहिता** की दूसरी स्थिति है।[२] उसकी गणना 'त्रयी' में नहीं की जाती। उसका सम्बन्ध भी श्रौत कर्मकाण्ड से प्रायः नहीं है।

अथर्ववेद में हमें अनेक सूक्त (उदाहरणार्थ, अथर्व० १०।७; १०।८; १०।२; ११।८) ऐसे मिलते हैं जिनमें 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग ही नहीं, उसका वर्णन भी प्रायेण नितरां औपनिषद धारा के अनुसार किया गया है।[३]

---

१. तु० "यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" (हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र १।१।१; २)।

२. अथर्ववेद के विशिष्ट स्वरूप के विषय में देखिए हमारी पुस्तक : 'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा', परिच्छेद ५ (द्वितीय संस्करण)।

३. तु० "ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।", "यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।", "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥" (अथर्व० १०।७।१७, २४, ३२)। इस प्रसङ्ग में यह कहना अनुचित न होगा कि उपनिषदों और अथर्ववेद के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री R. D. Ranade का कथन "It is a far cry from the Atharvaveda to the Upanishads" (दे० A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, पृ० ५) स्पष्टतया निराधार है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह आकस्मिक बात नहीं हो सकती कि 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में यद्यपि लगभग दो सौ बार हुआ है, परन्तु वहाँ कहीं भी उसका अर्थ औपनिषद ब्रह्मन् का नहीं है। साधारणतया ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग मन्त्र या प्रार्थना के अर्थ में हुआ है।[१]

वैदिक संहिताओं में 'ब्रह्मन्' शब्द का स्पष्टतया औपनिषद ब्रह्मन् के अर्थ में प्रयोग अथर्ववेद में ही पाया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि औपनिषद धारा में सबसे अधिक महत्त्व का शब्द 'ब्रह्मन्' ही है। उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय को 'ब्रह्मविद्या' शब्द से ही अधिकतर कहा जाता है।

यही नहीं, अथर्ववेद का एक प्रसिद्ध नाम 'ब्रह्मवेद' भी है।[२] इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि सब वैदिक संहिताओं में से केवल अथर्ववेद में ही वेदान्तीय ब्रह्म का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है। कम से कम अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ का यही मत दीखता है।[३] उदाहरणार्थ देखिए :

"श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव।"

(गोपथब्राह्मण १।१।९)

अर्थात्, अथर्ववेद सब वेदों में श्रेष्ठ है। तप से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्मज्ञानियों के हृदय में प्रकट हुआ था।

महाभारत के उद्योग पर्व (सनत्सुजात पर्व) के ४३वें अध्याय का ५वाँ श्लोक इस सम्बन्ध में विशेषतः उल्लेखनीय है। वह पद्य यह है :

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसंघ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम्॥

महाभारत के व्याख्याकार नीलकण्ठ के अनुसार इसका अर्थ है : हे धृतराष्ट्र, उपनिषदों में प्रसिद्ध अथर्वा ऋषि ने महर्षियों के संघ में जिन मन्त्रों का गान किया उनको ही उपनिषद्-रूप छन्दस् अर्थात् अथर्ववेद समझो। जिन्होंने वेद पढ़ा है वे

१. दे० "कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे" (ऋग्० १।४७।२)। "गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म" (ऋग्० १।६२।१३)। "वोचेम ब्रह्म" (ऋग्० १।७५।२)। इत्यादि। तु० "ब्रह्म वै मन्त्रः" (शतपथब्राह्मण ७।१।१।५)।

२. देखिए : "शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामाथो यजुः" (अथर्व० ११।८।२३)। "तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्" (अथर्व० १५।६।८)। "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति" (गोपथब्राह्मण १।२।१६)।

३. दे० "एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः... यदमृतं तद् ब्रह्म।" (गोपथब्राह्मण १।३।४)।

४. प्रकृत पाठ सायणकृत अथर्ववेद-भाष्य की भूमिका में उद्धृत पाठ के अनुसार है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि वेदों से वेदनीय औपनिषद ब्रह्म को नहीं जानते हैं, तो छन्दोविद् अर्थात् अथर्ववेद के ज्ञाता नहीं हैं।[१]

इस व्याख्या के अनुसार उक्त पद्य का मुख्य अभिप्राय यही है कि अथर्ववेद का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ से ही औपनिषद ब्रह्म से है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि 'उपनिषद्' शब्द कम से कम उपसर्गों सहित अपनी धातु और क्रिया के रूप में केवल अथर्ववेद (१९।४१।१)[२] में प्रयुक्त हुआ मिलता है। किसी अन्य वेद में वह किसी रूप में भी नहीं पाया जाता। यह भी देखना चाहिए कि उपलब्ध उपनिषदों की जितनी अत्यधिक संख्या का सम्बन्ध, परम्परा के अनुसार, अथर्ववेद से बतलाया जाता है उतनी संख्या का किसी अन्य वेद से नहीं।[३]

जो कुछ ऊपर कहा है उससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्या के रूप में औपनिषद धारा का प्रारम्भ अथर्ववेद और उसकी परम्परा से घनिष्ठतया सम्बद्ध है।

अध्यात्म-(ब्रह्म-)विद्या के प्रवर्तक

यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अध्यात्म-(ब्रह्म-)विद्या अथवा औपनिषद धारा के प्रवर्तक कौन थे।

भारतीय संस्कृति के विकास को ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक-ठीक समझने के लिए इस प्रश्न का महत्त्व है, इसीलिए इसको यहाँ उठाना आवश्यक प्रतीत होता है। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप !॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।

(भगवद्गीता ४।१-३)

---

१ इस सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् (दोनों अथर्ववेद की उपनिषद् हैं) के प्रारम्भिक अंशों को भी अवश्य देखना चाहिए। विशेषतः मुण्डकोपनिषद् के इन वाक्यों को देखिए : "ब्रह्मा···ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। ···अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह। भारद्वाजोऽङ्गिरसे···" (मु० उ० १।१।१-२)। यह भी महत्त्व की बात है कि 'परा' और 'अपरा' विद्या के विभेद का मौलिक विचार अथर्ववेदीय मु० उ० (१।१।४-५) में ही पाया जाता है।

२ दे० "भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे" (अथर्व० १९।४१।१)।

३ दे० 'The Philosophy of the Upanisads' by Paul Deussen (इंग्लिश-अनुवाद), पृ० २६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, स्वरूपतः कभी नाश न होनेवाले इस (कर्म-) योग को मैंने विवस्वान् को बतलाया था, विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को, और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। हे परन्तप (अर्जुन)! वही योग बड़े काल से इस लोक में नष्ट हो गया था। उसी प्राचीन (कर्म-) योग को आज मैंने तुम्हें बतलाया है।[१]

भगवद्गीता में ही आगे चलकर ब्रह्मज्ञान को

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

(गीता ९।२)

इस प्रकार 'राजविद्या' (=राजाओं की विद्या) और 'राजगुह्य' (=राजाओं का गुह्य) कहा गया है। टीकाकारों ने प्रायः इनका अर्थ 'श्रेष्ठ विद्या' और 'सब गुह्य पदार्थों में श्रेष्ठ' यह किया है। परन्तु ऊपर के तथा निम्नस्थ उद्धरणों की दृष्टि से यह व्याख्या संदिग्ध हो जाती है।

अब इसी सम्बन्ध में स्वयं उपनिषदों के निम्नस्थ स्थलों को देखिए।

छान्दोग्योपनिषद् (५।११-२४) में आत्मा वैश्वानर (=विश्वव्यापी आत्म-तत्त्व) की व्याख्या की गयी है। इस सम्बन्ध में पाँच महाश्रोत्रिय विद्वान् (प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य, बुडिल आश्वतराश्वि) जिज्ञासु होकर आचार्य उद्दालक के पास पहुँचते हैं। उद्दालक कहते हैं कि मैं स्वयं इस विषय को नहीं जानता। वे पाँचों विद्वानों को साथ में लेकर केकय देश के राजा अश्वपति की सेवा में उपस्थित होकर अपनी जिज्ञासा के समाधानार्थ प्रार्थना करते हैं। राजा उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हैं। वे सब श्रद्धापुरस्सर समित्पाणि (ब्रह्मचारियों के समान समिधाओं को हाथ में लेकर) होकर शिष्य-भाव से अश्वपति के सामने बैठते हैं और अश्वपति उनको विश्वव्यापी आत्मा का उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध विद्वान् श्वेतकेतु और उनके पिता उद्दालक परलोक के सम्बन्ध में अध्यात्म-विषयक जिज्ञासा से पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैवलि की सेवा में उपस्थित होते हैं। राजा उनको उपदेश देते हुए कहते हैं :

"इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि। को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति।"

(बृ० उ० ६।२।८)

अर्थात्, इससे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मण में नहीं थी। परन्तु उसका उपदेश तुमको करूँगा। इस प्रकार विनीत भाव से प्रार्थना करनेवाले के प्रति उपदेश देने से कौन मना कर सकता है?

१. तु० "आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।" (बुद्धचरित १।५०)। छा० उ० ३।११।४।

२. इस सन्दर्भ की व्याख्या में शांकरभाष्य का कहना है : "सर्वदा क्षत्रियपरम्परयेयं आगता।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही प्रसङ्ग छान्दोग्योपनिषद् (५।३) में भी आया है और वहाँ यही बात और भी स्पष्ट शब्दों में कही गयी है।[१]

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१) में गार्ग्य बालाकि को काशी के राजा अजातशत्रु ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है।[२]

इसी प्रकार के और भी प्रसङ्ग उपनिषदों में आते हैं जिनमें क्षत्रिय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया गया है।[३]

उपर्युक्त प्रसङ्गों और उद्धरणों का स्पष्टतया यही अभिप्राय हो सकता है कि औपनिषद धारा का प्रारम्भ वास्तव में कामना-प्रधान जटिल वैदिक कर्मकाण्ड के निर्वाहक ऋत्विग्वर्गीय ब्राह्मणों से न होकर जीविका की दृष्टि से कर्मकाण्ड की अपेक्षा न रखनेवाले स्वतन्त्र-विचारक एवं मनीषी क्षत्रिय राजाओं से ही हुआ था।

कोई भी वर्ग प्रथमतः ऐसे आन्दोलन या विचारधारा का प्रवर्तक नहीं होता, जिससे उसके ही निहित स्वार्थों को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ग्रन्थ-विशेष-परक 'ब्राह्मण' शब्द और तत्कालीन वर्ग-विशेष का द्योतक 'ब्राह्मण' शब्द दोनों की व्युत्पत्ति जिस 'ब्रह्मन्' शब्द से हुई थी उसका अभिप्राय, औपनिषद ब्रह्मन् से न होकर, वैदिक कर्मकाण्ड से अथवा कर्मकाण्ड से सम्बद्ध वेद से ही था। इसीलिए कर्मकाण्डीय साधारण विचार के प्रसङ्ग में भी ब्राह्मणों आदि में 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' (=ब्रह्मवादी लोग कहते हैं) ऐसा कथन प्रायः मिलता है।[४]

---

१. दे० "यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति। तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति।" (छा० उ० ५।३।७)। इस सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं : "तत्रास्ति वक्तव्यम्। यथा येन प्रकारेणेयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती। न च ब्राह्मणा अनया विद्ययानुशासितवन्तः। तत्रैतत्प्रसिद्धं लोके यतस्तस्माद् पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद् बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्यैतावन्तं कालमागता। तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि। त्वत्संप्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति।..."

२. दे० "स होवाच गार्ग्यः—उप त्वायानीति। स होवाचाजातशत्रुः—प्रतिलोमं चैतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति। व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति।" (बृ० उ० २।१)। कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् (४।१) में भी यह प्रसङ्ग उल्लिखित है।

३. छा० उ० के सप्तम अध्याय में भगवान् सनत्कुमार ने नारद को ब्रह्मोपासना का उपदेश दिया है। इस प्रसङ्ग का उल्लेख करते हुए श्री पाउल ड्रायसन (Paul Deussen) (दे० The Philosophy of the Upaniṣads, पृ० १८) तथा श्री ए० बी० कीथ (A. B. Keith) (दे० The Religion and Philosophy of the Veda and Upaniṣads, पृ० ४९३) दोनों ने सनत्कुमार को 'युद्ध-देवता' कहा है। स्पष्टतया उनको यहाँ सनत्कुमार से कुमार कार्त्तिकेय का भ्रम हो गया है।

४. दे० The Principal Upaniṣads, by Dr. S. Radhakrishnan, भूमिका, पृष्ठ ५३। तु० "ब्रह्मवादिनो वदन्ति। यद् वसूनां प्रातःसवनम्। रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस दृष्टि से उपनिषदों का उक्त कथन कि ब्राह्मणों को प्रारम्भ में ब्रह्मविद्या का ज्ञान नहीं था, ठीक ही है।

वेदत्रयी की अपेक्षा अथर्ववेद का, जिसको हम एक प्रकार से तत्कालीन विश्व-कोश कह सकते हैं, संहितीकरण क्षत्रिय राजाओं के संरक्षण में हुआ था, इसे हम अपने 'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा' (परिच्छेद ५, द्वितीय संस्करण) में दिखला चुके हैं।

जहाँ तक वेद के ऋषियों का सम्बन्ध है उनके विषय में प्रथम तो यह सामान्य सिद्धान्त मानना चाहिए कि अधिकतर मन्त्रद्रष्टा ऋषि उस युग के हैं जब कि उत्तर-कालीन रूढिपरक वर्ण-व्यवस्था का जन्म ही नहीं हुआ था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हम अपनी उक्त पुस्तक के सातवें परिच्छेद में कर चुके हैं। इसीलिए महाभारत आदि में ऐसे वचन प्रायः पाये जाते हैं :

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।

(महाभारत, शान्तिपर्व, २३२।३५)

अर्थात्, वेदों का संहितीकरण और यज्ञों, वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था त्रेतायुग में की गयी थी।[1]

इसके अतिरिक्त, पुराणों आदि की ही उत्तरकालीन पारिभाषिक विचार-पद्धति के अनुसार अनेकानेक वैदिक ऋषि या तो क्षत्रिय ही थे या 'क्षत्रोपेत द्विजाः' (अर्थात् क्षत्रिय वंशों से निकले हुए ब्राह्मण) थे।[2] स्वयं भृगु-कुल और अङ्गिरा-कुल के वैदिक ऋषियों में अनेक क्षत्रिय माने गये हैं। इन्हीं दो कुलों के नाम से अथर्ववेद को भृग्वङ्गिरोवेद कहा जाता है।[3]

…(छा० उ० २।२४।१)। "ब्रह्मवादिनो वदन्ति। तनुवो वावैता अग्न्याधेयस्य। आग्नेयो-ऽष्टाकपालोऽग्न्याधेयमिति…।" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।६।३)।

१. दे० "त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां, न कृते युगे" (महाभारत, शान्तिपर्व, २३२।३२)। "यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥" (विष्णुपुराण १।६।७)। तथा "इज्या दानं तपः सत्यं त्रेताधर्मास्तु वै स्मृताः। तदा प्रवर्तते वर्णाश्रमविभागशः॥" (मत्स्यपुराण १४१।७४)।

२. उदाहरणार्थ, वीतहव्य, शौनक आदि क्षत्रियवंशज वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में देखिए : महाभारत, अनुशासन-पर्व, अध्याय ३०। इसी प्रकार विष्णुपुराण (४।१९) में कण्व, मेधातिथि, गर्ग, गार्ग्य, शिनि, शैन्य, मुद्गल आदि क्षत्रोपेत (=क्षत्रियवंशोत्पन्न) ऋषियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से अनेक भृगु-कुल और अङ्गिरा-कुल के कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत विचार के लिए देखिए : पं० भगवद्दत्तकृत "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" (प्रथम संस्करण), प्रथम भाग, अध्याय १४। इसी प्रकार हरिवंश (१।२७।४५-५३) में याज्ञवल्क्य, वाष्कल, गालव, मुद्गल, आदि आदि वैदिक ऋषियों को विश्वामित्र के वंशज बतलाया गया है। हरिवंश (१।३२) भी देखिए।

३. तु० "एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः" (गोपथब्राह्मण १।३।४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस समस्त व्याख्या से अध्यात्म-(ब्रह्म-)विद्या के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में भगवद्गीता और उपनिषदों के उपर्युक्त कथनों की स्पष्टतया पुष्टि हो जाती है। अन्यथा उनकी संगति का दिखाना नितरां असम्भव है।

औपनिषद धारा का विकास और संन्यास की प्रवृत्ति

ऊपर हमने औपनिषद धारा का प्रारम्भ अथर्ववेद से दिखलाया है। स्पष्टतः अथर्ववेद में उसका प्रारम्भ मात्र था। जो कुछ अथर्ववेद में ब्रह्म-विद्या के विषय में कहा गया था, उस पर विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता थी। ब्रह्म के साथ-साथ आत्मा का भी क्या स्वरूप है? उनका परस्पर और इस दृश्य जगत् के साथ कैसा सम्बन्ध है? ब्रह्म की प्राप्ति का क्या अर्थ है और वह कैसे हो सकती है? जीवन का परम लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उस लक्ष्य की प्राप्ति में ज्ञान (=विद्या) और कर्म (=अविद्या) का कितना स्थान है? इत्यादि प्रश्नों के तात्त्विक विवेचन और समाधान की अपेक्षा थी।

इसी अपेक्षा को सामने रखकर उपनिषदों की प्रवृत्ति हुई थी और उन्होंने अपनी अद्भुत हृदयंगम शैली में उक्त प्रश्नों के समाधान का सफल यत्न किया है।

जीवन-चर्या अथवा ज्ञान और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में औपनिषद धारा का दृष्टिकोण प्रारम्भ में लगभग वैसा ही रहा होगा जैसा कि भगवद्गीता का सिद्धान्त है। भगवद्गीता ज्ञानी के लिए भी कर्तव्य-कर्म को, यज्ञ, दान और तप को, आवश्यक समझती है और मिथ्या-संन्यास की भावना की भर्त्सना करते हुए कर्म-फल में आसक्ति को छोड़कर कर्तव्य-बुद्धि से अथवा ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करने को ही सच्चा संन्यास मानती है।[1]

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में औपनिषद धारा की भी यही दृष्टि थी, इसमें संदेह नहीं हो सकता।[2]

तभी तो उपनिषदों में नृपतिगण राज्य करते हुए ब्रह्मविद् कहला सकते थे और ब्रह्मविद्या का दूसरों को, कर्मकाण्डी वेदज्ञ ब्राह्मणों को भी, उपदेश दे सकते थे।

तभी तो उपनिषदों के प्रधान व्यक्ति, जैसा हम पिछले परिच्छेद में दिखला चुके हैं, 'महागृहस्थ' और वैभवशाली भी दिखलाये गये हैं। और यह कहा गया है कि

१. दे० गीता : "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (३।४)। तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।···कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३।१९-२०)। अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (६।१)। यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८।५)"।

२. तु० ईशोप० २,९–११।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मविद् के कुल में अब्रह्मविद् न होना चाहिए, अथवा यह कि ब्रह्मविद्या का उपदे[श] अपने ज्येष्ठ पुत्र या योग्य शिष्य को ही करना चाहिए।[1]

इस स्थिति में 'मृत्यु के अनन्तर अमृतत्व या ब्रह्म की प्राप्ति होती है'[2] [इस] उत्तरकालीन भावना के स्थान में 'इसी जीवन में ब्रह्म और अमृतत्व की प्राप्ति [हो] सकती है या होनी चाहिए'[3] यही धारणा ब्रह्मवेत्ताओं की थी। स्थान-स्थान पर उ[प]निषदों में ऐसे वचन मिलते हैं जो इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। इसी लक्ष्य [को] भगवद्गीता में 'ब्राह्मी स्थिति' कहा है।[4]

यह स्पष्ट है कि उक्त धारणा के हो जाने पर 'मृत्यु' अपनी सारी विभीषिका [को] छोड़कर एक साधारण रूप धारण कर लेती है। वास्तव में तो उपनिषदों में 'मृ[त्यु]' शब्द का साधारणतया प्रचलित अर्थ न करके 'मनुष्य की अज्ञान या अपूर्णता [की] अवस्था' यही अर्थ करना चाहिए।[5] इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।२८) [में] 'मुझे मृत्यु से अमृत को प्राप्त कराइये'[6] इस प्रार्थना को ही शब्दान्तरों में 'मुझे अ[सत्] से सत् को अथवा तमस् (= अज्ञान) से ज्योतिः (= ज्ञान) को प्राप्त कराइये' [इस] प्रकार कहा गया है।

परन्तु शनैः-शनैः औपनिषद धारा का यह आरम्भिक स्वरूप तिरोहित [होने] लगा और उसका कारण था संन्यास की प्रवृत्ति का उदय।

संन्यास की प्रवृत्ति का उदय

औपनिषद धारा के जिस प्रारम्भिक स्वरूप का हमने ऊपर वर्णन किया है [और] जिसके लिए अनेक प्रमाण उपनिषदों से ही उपस्थित किये हैं, उसके साथ-साथ [उप]निषदों में ही ऐसे स्थल भी उपलब्ध हैं जिनमें संन्यास की प्रवृत्ति पायी जाती है।

इस प्रकार के मुख्य स्थल निम्नलिखित हैं :

---

१. दे० "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।" (मु० ३।२।९)। तथा छा० उ० ५।१४-१७।२। "इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्र[ब्रू]यात् प्राणाय्याय वान्तेवासिने" (छा० उ० ३।११।५)। "प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्" (ऋ० ५।४।१०)।

२. तु० "धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (केनोप० १।२)।

३. तु० "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।" (केनोप० २।५)। "[अथ] मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठोप० २।३।१४)। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० उ० २।२३।१)। तु० बृ० उ० ४।४।१४। तथा छा० उ० ८।१५।१—"यावदायुषं ब्रह्मलो[क]मभिसंपद्यते।"

४. तु० गीता २।७२।

५. तु० "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि" (महाभारत, उद्योगपर्व, ४२।...) तथा "प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणः सुतः" (विवेकचूडामणि ३२२)।

६. दे० "असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

(मु० उ० ३।२।६)

अर्थात्, वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को ठीक-ठीक समझ लिया है ऐसे शुद्ध-चित्त यति-जन संन्यास द्वारा ब्रह्म में संस्थित होते हुए देहावसान के समय परम अमर-भाव को प्राप्त हो संसार से मुक्त हो जाते हैं ।

स्मरण रहे कि प्रकृत दसों उपनिषदों में 'संन्यास' शब्द केवल एक बार यहीं प्रयुक्त हुआ है । 'यति' शब्द का प्रयोग भी यहाँ और इसी उपनिषद् में एक बार और ३।१।५ में हुआ है ।

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते । किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।"

(बृ० उ० ४।४।२२)

अर्थात्, इसी (आत्मा) को जानकर मुनि होता है । इसी आत्मलोक को चाहते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ छोड़कर परिव्राजक (या संन्यासी) हो जाते हैं; क्योंकि प्राचीन समय के विद्वान् सन्तान की इच्छा नहीं करते थे । (वे सोचते थे कि) हमें, जिन्होंने इस आत्मलोक को प्राप्त कर लिया है, सन्तान से क्या करना है । अतः वे पुत्रैषणा, धनैषणा और लोकैषणा से चित्त को मोड़कर भिक्षाचर्या किया करते थे । अर्थात् भिक्षु या संन्यासी बनकर विचरते थे ।

लगभग इसी अभिप्राय का एक दूसरा प्रसङ्ग बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।१) में आया है ।[१]

यहाँ स्पष्टतया वैराग्य-युक्त संन्यास का उल्लेख है । परन्तु इस प्रसङ्ग में जो विशेष ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि यहाँ औपनिषद धारा में संन्यास की पुष्टि प्राचीनकाल के भिक्षुओं या परिव्राजकों की विचारधारा से की गयी है । इससे क्या परिणाम निकलता है, इसको हम नीचे दिखलायेंगे ।

इसके अतिरिक्त, बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१ तथा ४।५।२) में दो बार याज्ञवल्क्य के मुख से कहलाया गया है :

---

[१] एक अन्य स्थल, जहाँ भिक्षाचर्या का उल्लेख है, मु० उ० (१।२।११) में आता है : "तपः-श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि" (२।४।१)

अर्थात्, याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि 'मैं इस स्थान से ... वाला हूँ।'

"प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि" (४।५।२)

अर्थात्, (हे मैत्रेयि !) मैं इस स्थान से परिव्रज्या करनेवाला हूँ।

इन दोनों वाक्यों का टीकाकारों ने 'मैं संन्यास-ग्रहण करनेवाला हूँ' ... अर्थ किया है।

इन स्थलों को छोड़कर दसों उपनिषदों में कदाचित् ही कोई प्रसङ्ग होगा ... स्पष्ट रूप से संन्यास की प्रवृत्ति का उल्लेख मिलता हो।

स्पष्ट है कि इस संन्यास और वैराग्य की प्रवृत्ति का औपनिषद धारा की ... दिखलायी हुई प्रारम्भिक प्रवृत्ति से मेल नहीं बैठता।

प्रश्न यह है कि इस प्रवृत्ति का आरम्भ और प्रवेश औपनिषद धारा में ... हुआ। क्या वैदिक धारा का ही यह विकास था ? अथवा किसी बाह्य प्रभाव से इस ... औपनिषद धारा में उदय हुआ था।

हमारा उत्तर यही है कि वैदिक धारा का जैसा स्वरूप हम अपनी पु... 'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा' में दिखला चुके हैं ... उसीसे विकसित अथवा उद्भूत औपनिषद धारा के प्रारम्भिक स्वरूप को भी जैसा ... ऊपर दिखला चुके हैं, स्पष्टतया संन्यास की प्रवृत्ति का सामञ्जस्य उनके साथ ... बैठता। दोनों की दृष्टि में मौलिक अन्तर है।

इसलिए उपनिषदों में उपलब्ध संन्यास की प्रवृत्ति का मूल भारतव... प्राग्वैदिक **मुनि-संप्रदाय** की धारा के प्रभाव में ही देखना चाहिए।

ऋषि-संप्रदाय (वैदिक) और मुनि-संप्रदाय (प्राग्वैदिक) के पारस्... विभेद की व्याख्या हम अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

उसी ग्रन्थ में (परिच्छेद १,९,१० में) हम यह भी दिखला चुके हैं ... संन्यास का मौलिक सम्बन्ध वैदिक धारा से नहीं था। इस सम्बन्ध में और भी ... प्रमाण हैं जिनके उल्लेख की यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ ... ध्यान देने की बात है कि **बृहदारण्यकोपनिषद्** के उपर्युक्त स्थल में 'पूर्वे विद्वा... (= प्राचीन काल के ज्ञानी पुरुष) इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही दीखता ... कि संन्यास की प्रवृत्ति वैदिक धारा की अपनी मौलिक वस्तु नहीं है।

भगवद्गीता में, हम ऊपर दिखला चुके हैं, संन्यास की प्रवृत्ति की जो भर्त्स... की है, उसका अभिप्राय भी मूलतः यही हो सकता है।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में इस प्रवृत्ति का अस्तित्व मौलि... नहीं हो सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक बार प्रवेश पा लेने पर यह प्रवृत्ति औपनिषद धारा में क्रमशः बढ़ती गयी। यहाँ तक कि पीछे से 'संन्यास-उपनिषद्' इस नाम से ही अनेक विशिष्ट उपनिषदें बन गयीं; जिनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। ऐसे ही कारणों से क्रमशः यह समझा जाने लगा कि उपनिषदों का सम्बन्ध वास्तव में संन्यासाश्रमियों से ही है।

इस प्रवृत्ति ने अन्त में कैसा विकृत रूप धारण किया, इसका दिग्दर्शन हम आगे चलकर, अन्तिम परिच्छेद में 'औपनिषद धारा का ह्रास अथवा शैथिल्य' इस प्रसङ्ग में करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्यारहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि

भारतीय संस्कृति के विकास में औपनिषद धारा का अनेक दृष्टियों से अ
अद्वितीय महत्त्व है, यह हम अन्यत्र कह चुके हैं। किसी भी सांस्कृतिक धारा के सम्
में उसकी नैतिक दृष्टि का प्रश्न प्रमुख रूप से विचारणीय होता है। इसलिए औपनि
धारा के सम्बन्ध में भी उसकी नैतिक दृष्टि पर यहाँ विचार करना आवश्यक प्र
होता है।

नैतिकता का वातावरण

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सरसरी दृष्टि से भी उपनिषदों का पारा
करते हुए जो भावना सबसे प्रथम मन को प्रभावित करती है वह उनका उत्कृष्ट नै
वातावरण है। यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि विशुद्ध नैतिक वातावरण में ही उपनि
द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिकता का प्रारम्भ, विकास और चरमोत्कर्ष हो सकता है

इसीलिए, उदाहरणार्थ, कठोपनिषद् में कहा गया है :

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
>
> (कठोप० १।२।

अर्थात्, जो दुश्चरित्र अथवा दुर्नीति से विरत नहीं है, जो शान्त और एकाग्र
नहीं है, जिसका मन असंयत है, वह केवल ज्ञानमात्र से, कोरे बुद्धिवाद से, आत्मा
अपने विशुद्ध रूप को, अथवा परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

अथवा, प्रश्नोपनिषद् के निम्नस्थ वचन को देखिए :

> तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥
> तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥
>
> (प्रश्नोप० १।१५-१

अर्थात्, यह ब्रह्मलोक अथवा ब्राह्मी स्थिति उन्हींको प्राप्त होती है जिनमें तप, ब्रह्म
और सत्य प्रतिष्ठित हैं।

यह निर्मल विशुद्ध ब्रह्मलोक उन्हीं के लिए प्राप्य हो सकता है जिनमें कुटि
अनृत और छल-कपट नहीं हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार उपनिषदें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक नैतिकता की दृष्टि से ओत-प्रोत हैं।

प्रथम इसके कि हम उक्त वातावरण को दिखलाएँ, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि के मौलिक आधार अथवा उसके प्रेरणा-स्रोत पर विचार कर लें।

औपनिषद् धारा की नैतिक दृष्टि का आधार

(१) अन्तःसमीक्षण अथवा आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति : मनुष्य स्वभाव से बहिर्मुख है। साधारणतया उसकी सारी प्रवृत्ति अपने से बाह्य पदार्थों की ओर होती है। उसकी इन्द्रियों का सम्बन्ध बाह्य-जगत् से ही रहता है। उसका मन भी स्वभावतः इन्द्रियों के पीछे ही दौड़ता है। इसलिए प्रारम्भ में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बाह्य-जगत् के ऐन्द्रियक पदार्थों की ही प्राप्ति, अर्जन और उपभोग में होती है। इसी में वह सुख का अनुभव करता है और जीवन की कृतकृत्यता मानता है।

पर बाह्य ऐन्द्रियक पदार्थ इच्छानुसार उसको प्राप्त नहीं होते, उनकी प्राप्ति में बाधक तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं। उनका उपभोग भी प्रायः कष्टप्रद हो जाता है। उनकी प्राप्ति भी चिरस्थायिनी नहीं होती। ऐसी अवस्था में वे ही पदार्थ दुःख देनेवाले हो जाते हैं। वह अपनी बहिर्मुख प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण करता है। अनुभव करता है कि इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को उद्दाम या बेलगाम नहीं छोड़ा जा सकता। उनको संयम में रखना होगा। यही अन्तःसमीक्षण का प्रारम्भ है। वह अन्तर्मुख होने लगता है और अनुभव करने लगता है कि बाह्य-जगत् के साथ-साथ एक अन्तर्जगत् भी है और वह बहुत अंशों में बाह्य-जगत् से भिन्न स्वभाववाला है। उसमें उसे अनिर्बाध शाश्वत शान्ति और आनन्द की झलक का आभास प्रतीत होता है।[१]

यहीं से मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है। इसी बात को कठोपनिषद् में इन सुन्दर शब्दों में कहा गया है :

> **पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्**
> **तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।**
> **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥**
>
> (कठोप० २।१।१)

अर्थात्, स्वयंभू भगवान् ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर जानेवाला बनाया है। इसीलिए मनुष्य स्वभावतः बाह्य विषयों की ओर देखता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं देखता। कोई बिरला ही धीर (बुद्धिमान्) मनुष्य होता है जो इन्द्रियों को मूँदकर, अमृतत्व (शाश्वत शान्ति) को चाहता हुआ, आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता है।

१. तु० "चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी। वहति कल्याणाय। वहति पापाय च। या तु कैवल्य-प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा।...विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते।" (योगसूत्र १।१२ पर व्यासभाष्य)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२) **श्रेयः और प्रेयः का विवेक :** उक्त अन्तःसमीक्षण की प्रवृत्ति
आधार पर ही कठोपनिषद् में कहा गया है :

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

(कठोप० १।२।

अर्थात्, श्रेयस् और प्रेयस्, दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। बुद्धिमान मनुष्य सम्यक्तया विचारकर उन दोनों में विवेक करता है। वह प्रेयस् को छोड़कर श्रेयस् को ग्रहण करता है; पर जो मन्द-बुद्धि है वह योगक्षेम के कारण, अर्थात् सांसारिक सुखोपभोग की दृष्टि से, प्रेयस् को वरण करता है।

उपनिषदों की भाषा में विषयजन्य या ऐन्द्रियक सुख के मार्ग को प्रेयस् (=प्रिय अथवा रोचक), और सुख-दुःख-निरपेक्ष आत्म-कल्याण के मार्ग को श्रेयस् (=ठीक अथवा औचित्य की भावना से युक्त) कहा गया है, यह हम कह चुके हैं।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि नीति-शास्त्र अथवा कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र का मौलिक आधार उपर्युक्त श्रेयस् अथवा वास्तविक आत्म-कल्याण या मानव-कल्याण की भावना ही है। परन्तु इस विचार में 'वास्तविक आत्म-कल्याण का क्या स्वरूप है ?' यह जिज्ञासा बनी ही रहती है।[१]

इसी जिज्ञासा के समाधान के लिए वास्तव में उपनिषदों की प्रवृत्ति हुई है। यही उनका प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए यही कहना होगा कि अन्तःसमीक्षण पुरस्कृत और श्रेयस् तथा प्रेयस् मार्गों के विवेक से सहकृत ब्रह्म-प्राप्ति अथवा अध्यात्म तत्त्वज्ञान की भावना को ही हम औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि का मौलिक आधार मान सकते हैं। इसी सिद्धान्त का उपपादन हम नीचे करना चाहते हैं।

(३) **ब्रह्मप्राप्ति अथवा अध्यात्म-तत्त्वज्ञान की भावना :** ब्रह्मविद्या, आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, मोक्ष-विद्या आदि शब्द समानार्थक हैं, यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म विरज (=सब प्रकार के मलों से रहित), शुभ्र (= विशुद्ध), आनन्द-रूप, अमृत (=शाश्वत) और सब प्रकार के पापों से रहित है।[२] वह सर्वान्तर्यामी है और उससे बाहर कुछ नहीं है। पर आत्मा में ही उस

१. 'कर्तव्य' की भावना या देवऋणादि ऋणों के चुकाने की भावना (देखिए : शतपथ ब्रा० १।७।२।१-५, मनु० ६।३५-३७, बृ० उ० १।४।१६) को भी नैतिकता का मौलिक आधार मानने में 'ऐसा भी क्यों माना जाय ?' यह अन्तिम जिज्ञासा बनी ही रहती है।

२. दे० "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं..." (मु० उ० २।२।९); "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८)। "अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः" (छा० ८।४।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देखा जा सकता है, और इस आत्मा के रूप में ही वह सबका अनुभव करता है। वह चेतनों का चेतन और सब भूतों का, प्राणियों का, अन्तरात्मा है।[1] उसीके ज्ञान से मनुष्य सर्वत्र एकात्मता का अनुभव करने लगता है, सबको अपने से अभिन्न मानने लगता है। वह सत्य-स्वरूप और इसीलिए सत्य का भी सत्य है।[2]

ब्रह्मदर्शन से ही मनुष्य शाश्वती शान्ति, शाश्वत सुख और निःश्रेयस को प्राप्त करता है।[3]

उस अवस्था को ही हम दूसरे शब्दों में भूमा, ब्रह्म, परा शान्ति, सामरस्य और एकतानता भी कह सकते हैं।[4] आत्मा के इस पूर्ण विकास की अवस्था में स्वार्थ और परार्थ में भेद नहीं रहता। समस्त परार्थ स्वार्थ की कोटि में आ जाते हैं और उन दोनों का अद्वैत हो जाता है।[5]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ मनुष्य को अपनी समस्त आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए घोर संघर्ष करना पड़ता है, और दैवी प्रवृत्तियों को पुष्ट और विकसित करना पड़ता है।[6] समस्त नैतिक आदर्श इसमें गतार्थ हो जाते हैं। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है कि विशुद्ध-सत्त्व (=जिसका अन्तःकरण विशुद्ध है) व्यक्ति ही ब्रह्म या परमात्मा के दर्शन कर सकता है।[7] नैतिक आदर्शों का अनुसरण ही उस विशुद्ध-सत्त्वता का एकमात्र साधन है।

इसलिए यह मानना चाहिए कि औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि का मौलिक आधार या प्रेरणा का स्रोत अन्ततोगत्वा ब्रह्मप्राप्ति, अध्यात्म-तत्त्वज्ञान अथवा दूसरे शब्दों में आत्मा के पूर्ण विकास की भावना ही है।

वास्तव में इससे अच्छा नैतिक आदर्शों का आधार हो ही नहीं सकता।

इससे आगे हम उपनिषदों की नैतिक दृष्टि का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

---

[1] दे० "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (ईशोप० ५)। "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति" (कठोप० २।२।१२)। "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृ० उ० २।५।१९)। "सर्वभूतान्तरात्मा"; "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठोप० २।२।१२,१३)।

[2] दे० "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानम्"; "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः" (ईशोप० ६, ७)। "सत्यं ह्येव ब्रह्म" (बृ० उ० ५।४।१)। "तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति" (बृ० उ० २।१।२०)।

[3] दे० "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती" (कठोप० २।२।१३)।

[4] दे० "भूमा ब्रह्म परा शान्तिः साम्यावस्थैकतानता। सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तरा इमे॥" (जीवनज्योतिः १६।१३)।

[5] तु० "वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः। एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः॥" (अमृतमन्थन १०५)।

[6] दे० गीता (अध्याय १६)।

[7] दे० "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० उ० ३।१।८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों की नैतिक दृष्टि

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, आदि से लेकर अन्त तक उपनिषद् नैतिकता की दृष्टि से ओत-प्रोत हैं। इसलिए विस्तार से इसको यहाँ दिखलाना संभव नहीं। संक्षेप में दिग्दर्शनमात्र ही इस विषय का यहाँ कराया जा सकता है।

ईशावास्योपनिषद्

ईशोपनिषद् में नीति-(अथवा कर्तव्य-)शास्त्र का मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार बतलाया गया है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोप० २,१,...)

अर्थात्,

मनुष्य को यावज्जीवन कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर, अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए।

यह समझते हुए कि यह सम्पूर्ण विश्व एक ही मूलतत्त्व से, अन्तर्यामी शक्ति से आच्छादित है, व्याप्त है, कार्य कर रहा है और उसमें सर्वत्र औचित्य का साम्राज्य है, उसे किसीके साथ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो जिसको औचित्य से प्राप्त है उसमें बाधक न होना चाहिए।

सब भूतों में, प्राणियों में, आत्मैकत्व का दर्शन करते हुए, परार्थ में स्वार्थ की अनुभूति करते हुए, उनके प्रति अपना जो भी कर्तव्य है उसके करने में मोह और शोक जैसे मनोविकारों से त्रुटि नहीं आने देनी चाहिए।

उपनिषद् के अन्त में यह सुन्दर प्रार्थना दी है :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्...
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(ईशोप० १...)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव! हमको सन्मार्ग से ले चलिए, जिससे हम अपने अ... लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। हमारे अन्दर जो छल-कपट का पाप हो उसे हमसे दूर कर दीजिये। हम बार-बार आपको नमस्कार करते हैं।

केनोपनिषद्

इस उपनिषद् में उपनिषद्विद्या के आधार और आयतन को इस प्र... बतलाया है :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा,
वेदाः सर्वाङ्गानि, सत्यमायतनम्।

(केनोप० ४।८)

अर्थात्, तप, दम (= इन्द्रियों का नियन्त्रण) और कर्तव्य-बुद्धि से किया हुआ कर्म—ये ब्रह्म-विद्या के आधार हैं। वेदों से उसको पुष्टि मिलती है और सत्य उसका आयतन अथवा अधिष्ठान है।

आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जानेवाला एकनिष्ठ प्रयत्न ही तप है। अग्नि जैसे समस्त कालिमा को भस्मसात् करके परिपाक द्वारा सुवर्ण को शुद्ध कर देती है, ऐसे ही आत्मा के समस्त कालुष्य को जलाकर तप उसके विशुद्ध पवित्र स्वरूप को निखार देता है।[१]

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् में अन्तःसमीक्षण, श्रेयस् और प्रेयस् का विवेक और दुर्नीति अथवा दुश्चरित्र से बचने की अनिवार्य आवश्यकता का जो प्रतिपादन किया गया है उसका उल्लेख हम अभी ऊपर कर चुके हैं।

प्रश्नोपनिषद्

इस उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के लिए तप, ब्रह्मचर्य और सत्य की प्रतिष्ठा की और कुटिलता, अनृत और माया के वर्जन की आवश्यकता को बतलाते हुए, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, यह भी बार-बार कहा है कि तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का जीवन व्यतीत करने पर ही मनुष्य ब्रह्म-विद्या का अधिकारी बन सकता है।[२]

अन्त में उपनिषद् यह कहती है :

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।

(प्रश्नोप० ६।१)

अर्थात्, जो अनृत-भाषण करता है वह समूल सूख जाता है, नष्ट हो जाता है, कभी हरा-भरा नहीं होता।

मुण्डकोपनिषद्

इस उपनिषद् के निम्नस्थ स्थलविशेष ध्यान देने योग्य हैं :

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
... ... ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥

---

१. तप के माहात्म्य के सम्बन्ध में देखिए—मनु० (११।२३४–२४४), भागवत (२।९।२२-२३)।

२. दे० "तान् ह स ऋषिरुवाच। भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।" (प्रश्नोप० १।२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्यमेव जयते नानृतम् ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते ।

(मु० उ० ३।१।५, ६, ८

अर्थात्, इस परमात्मा को सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है।
सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं ।
जिसका चित्त शुद्ध है वही ज्ञान-प्रसाद से उस परमतत्त्व को देख पाता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।

(मु० उ० ३।२।

अर्थात्, चारित्रिक बल जिसमें नहीं है वह इस आत्मा (= परमात्मा) को नहीं प्र कर सकता ।

तैत्तिरीयोपनिषद्

समस्त प्राचीन उपनिषदों में उनके नैतिक वातावरण का जितना स्पष्ट व्यापक परिचय इस उपनिषद् से हमें मिलता है उतना और किसीसे नहीं। ती और चौथे परिच्छेदों में हम इसका पूरा परिचय दे चुके हैं ।

उससे स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक नैतिक आदर्शों में व्यक्ति और स दोनों के कल्याण की दृष्टि का आधार था । कष्ट-सहिष्णुता, अनुशासन, इन्द्रियसं और मानसिक शान्ति के साथ-साथ सत्य-पालन, चारित्रिक संपत्ति और पवित्रता भी पूरा-पूरा बल दिया जाता था। प्रत्येक अवस्था में यथासंभव लोक-सेवा अपना कर्तव्य समझा जाता था ।[1]

छान्दोग्योपनिषद्

इस उपनिषद् के नैतिक दृष्टि से ध्यान देने योग्य कुछ स्थलों का निर्देश किया जाता है ।

महामनाः स्यात्तद् व्रतम् ।
न कांचन परिहरेत्तद् व्रतम् ।
लोकान्न निन्देत्तद् व्रतम् ।
ब्राह्मणान्न निन्देत्तद् व्रतम् ।
सर्वमस्मीत्युपासीत । तद् व्रतम् ।

(छा० उ० २।११, १३, १७, २०, २

१. दे० "अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।", "आचा भव । अतिथिदेवो भव ।"'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भियाऽदेयम् । संविदा देय (तै० उ० १।९ तथा १।११) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र्थात्, अध्यात्मोपासना में तत्पर व्यक्ति को चाहिए कि वह व्रत-रूप में इन बातों का लन करे—स्वयं उदार विचार रखे, किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार न करे, क-कल्याण की उपेक्षा न करे, विद्वानों की निन्दा न करे, और सबके साथ आत्म-व रखते हुए बर्ताव करे।

> त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुल-वासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽव-सादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति।

(छा० उ० २।२३)

र्थात्, धर्म के आधार-स्तम्भ तीन हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान—यह पहला स्तम्भ तप ही दूसरा स्तम्भ है। आचार्य-कुल में ही रहकर जीवन-पर्यन्त ज्ञान का र्जन और वृद्धि करनेवाला ब्रह्मचारी तृतीय स्तम्भ है। जो कोई इनका अनुसरण ते हैं वे सब पुण्यलोक के भागी होते हैं। अर्थात् उनके द्वारा लोक और समाज उत्कर्ष होता है।

छान्दोग्योपनिषद् ३।१६-१७ में मानव-जीवन को एक यज्ञ मानकर एक बड़ा दर रूपक उपस्थित किया है (दे० परिच्छेद ६)। उस यज्ञ की दक्षिणाओं के सम्बन्ध कहा गया है :

> अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचन-मिति ता अस्य दक्षिणाः।

(छा० उ० ३।१७।४)

त्, तप, दान आर्जव (=सरलता), अहिंसा और सत्य-भाषण ये ही उस जीवन-की दक्षिणा हैं। अर्थात् इनके पालन करने से ही जीवन की सफलता हो सकती है।

चतुर्थ अध्याय में राजा जानश्रुति और रैक्व का एक उपाख्यान दिया गया उस राजा के वर्णन में ये शब्द आते हैं :

> जानश्रुतिर्ह ... श्रद्धादेयो बहुदायी बहु-पाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति।

(छा० उ० ४।१।१)

त्, राजा जानश्रुति श्रद्धापूर्वक दान देनेवाला तथा बड़ा दानी था। उसके यहाँ करने के लिए बहुत-सा अन्न पकाया जाता था। उसने स्थान-स्थान पर आवास-(धर्मशालाएँ) बनवा दिये थे। उनमें ठहरनेवालों को उसीकी ओर से भी दिया जाता था।

पाँचवें अध्याय में गृहस्थों की उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है :

> अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते।

(छा० उ० ५।१०।३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जो गृहस्थ लोग ग्राम (=बस्ती) में रहते हुए इष्ट (=अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म), पूर्त (=जनता के आराम के लिए बाउली, कूप, तड़ाग और बगीचा आदि) और दान के रूप में उपासना करते हैं वे··· ।

उसी अध्याय में अपने राज्य की स्थिति को बतलाते हुए केकय देश का अश्वपति कहता है :

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

(छा० उ० ५।११।

अर्थात्, मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, तथा न कृपण, न मद्यप, न अनाहिताग्नि (=जो अग्निहोत्र न करता हो), न मूर्ख और न परस्त्रीगामी ही है; फिर व्यभिचारिणी स्त्री तो आवेगी ही कहाँ से ?

बृहदारण्यकोपनिषद्

इस उपनिषद् की एक विशेषता यह है कि इसमें नैतिक कर्तव्याकर्तव्य का इतना उल्लेख नहीं है जितना कि नैतिकता को प्रेरणा देनेवाली आध्यात्मिक दृष्टि या भावना का, जिसका कुछ संकेत हम ऊपर (परिच्छेद ७ में) कर चुके हैं।

फिर भी, उदाहरणार्थ देखिए :

आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के लक्ष्य का हृदयस्पर्शी दिग्दर्शन नीचे के प्रसिद्ध मन्त्र में किया गया है :

असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मामृतं गमय ॥

(बृ० उ० १।३।

अर्थात्, हे भगवन् ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलिये । मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिये । मुझे मृत्यु (अपूर्णता) की ओर से अमृत (पूर्णता) की ओर ले चलिये ।

जीवन के शाश्वत परम लक्ष्य की दृष्टि से सांसारिक धनादि संपत्ति का कोई मूल्य नहीं है, इस अर्थ का सुन्दर प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है :

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन ।

(बृ० उ० २।

अर्थात्, अमृतत्व या शाश्वत लक्ष्य की प्राप्ति की आशा वित्त से नहीं हो सकती।

इस उपनिषद् का मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवाद प्रसिद्ध है। दो स्थानों पर (२।४ और ४।५ में) प्रायः समान शब्दों में ही उसका बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इस संवाद में जीवन के प्रायः समस्त अभीष्ट पदार्थों को—पति, पुत्र, जाया, पशु, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देवतागण, वेद, भूत अथवा सब-कुछ को लेकर पृथक्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ह दिखलाया है कि इन सब पदार्थों की कामना वास्तव में तत्तत्पदार्थ के लिए नहीं होती है। उसके मूल में आत्म-सन्तोष की कामना ही मुख्य होती है।[1] इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य के जीवन में रिक्तता या अपूर्णता-मूलक जो बेचैनी या अशान्ति है उसका वास्तविक प्रतीकार आत्मा के पूर्ण-विकास में अथवा अपने तात्त्विक स्वरूप को पहचान लेने में ही निहित है। नैतिक आदर्शों की प्रेरणा का मौलिक स्रोत भी वही आत्म-साक्षात्कार है।

वास्तव में उपनिषदों के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र का मौलिक आधार यही है।

इसीलिए कहा गया है :

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

(बृ० उ० ४।४।२२)

अर्थात्, वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और समुचित तप द्वारा विद्वान् लोग इसी तात्त्विक आत्म-स्वरूप को जानना चाहते हैं।

उपसंहार

संक्षेप में, इसी प्रकार उपनिषदों में नैतिकता की दृष्टि और उसके मौलिक आध्यात्मिक आधार को दिखलाया गया है। मानव-जीवन में इसी दृष्टि का पद्यात्मक वर्णन हमने अपने शब्दों में अन्यत्र इस प्रकार किया है :

तत्पदं मे प्रकाशताम्

जीवन का लक्ष्य

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम्।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ १॥

सद्भावना-रूपी कुसुमों में जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोक को आकृष्ट करनेवाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो।

नैराश्यमन्धतामिस्रं यतः सर्वं निवर्तते।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ २॥

आशा के प्रकाश से विच्छिन्न होकर घोर अन्धकार रूपी सारा नैराश्य जहाँ से निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो।

---

[1] उदाहरणार्थ देखिए : "न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।...न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" (बृ० उ० २।४।५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ३ ॥

ईर्ष्या से रहित, सदाचार में तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषों द्वारा सदा सेवित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नम् आदर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

दुःख के आने पर भी जो उद्विग्नता से रहित है, आदर्श के प्रति जो दृढ़ और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करनेवाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

सत्यानुसन्धानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ५ ॥

सत्य के अनुसन्धान में तत्पर और लोक के कल्याण के लिए सेतु-रूप धीर जिसका आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ६ ॥

विषाद और अवसाद से जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्य के पथ पर जो आरूढ है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ७ ॥

जो श्रम, तपस् और संयम से सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ८ ॥

जिससे विश्व का माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्य से युक्त है, जो 'मधु-विद्या'[१] का मधु है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ९ ॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेह से तथा कारुण्य और आर्जव से यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १० ॥

भाषा की सीमा का अतिक्रमण करके जो अपने रूप से ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्य-रूप है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

१. तु० बृहदारण्यकोपनिषद् २।५ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः सांप्रदायिकैः ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥११॥

विभिन्न सम्प्रदायों के लोग भिन्न-भिन्न नामों से जिसका निर्देश करते हैं, परन्तु वस्तुतः जो उन नामों से असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

मोहेन तमसा हीनम् आनन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१२॥

मोह और अज्ञान से जो रहित है, आनन्द-रस से जो आप्लावित है, और अलौकिक प्रकाश से जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

यत्र स्थिता महात्मानस् तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१३॥

जहाँ स्थित होकर महात्मा लोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परम-तत्व का साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

(जीवनज्योतिः १६।२४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बारहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का सामाजिक पक्ष

किसी भी सांस्कृतिक धारा के अध्ययन में उसके सामाजिक पक्ष का वि[illegible] आवश्यक होता है। सामाजिक जीवन में प्रतिफलित होने पर ही किन्हीं आदर्शों [illegible] वास्तविक स्वरूप परखा जा सकता है। इसलिए औपनिषद धारा के सामाजिक [illegible] का विचार हमारे लिए यहाँ आवश्यक है।

सामान्य व्यावहारिक जीवन

परिच्छेद १० में हम दिखला चुके हैं कि औपनिषद धारा का प्रारम्भ वैदि[illegible] धारा से हुआ था और इसीलिए संन्यास की प्रवृत्ति का औपनिषद धारा के स[illegible] सम्बन्ध, प्रारम्भ से ही न होकर, दूसरे बाह्य प्रभावों के कारण पीछे से हुआ है। उ[illegible] विचार को यहाँ बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ हम औपनिषद धारा के सा[illegible] जिक पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से, प्राचीन दस उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के वि[illegible] और विवेचन में संलग्न जो प्रधान व्यक्ति हैं उनके जीवन के साक्ष्य पर, तथा उ[illegible] निषदों द्वारा प्रसङ्गतः प्रतिपादित जीवन के व्यावहारिक आदर्शों पर, एक दृष्टि डाल[illegible] चाहते हैं।

(१) जनक आदि नृपति-गण : बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय [illegible] राजा जनक द्वारा आमन्त्रित एक महान् ब्रह्मोद्य (ब्रह्म-विषयक विचार) का वि[illegible] वर्णन है। उसमें दूर-दूर से ब्रह्मिष्ठ विद्वान् पधारे थे और उन्होंने राजा जनक के समा[illegible] और याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में ब्रह्म-विषयक विस्तृत वाद किया था। उसी उपनिषद् [illegible] चतुर्थ अध्याय में भी अधिकतर राजा जनक और याज्ञवल्क्य द्वारा किये गये स[illegible] ब्रह्म-विषयक विचारों का विस्तृत उल्लेख है। इस प्रकार ब्रह्म-विद्या के महान् आश्र[illegible] दाता और स्वयं भी प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी होते हुए जनक एक राजा का कार्य करते थे [illegible] उनके सामने राज-पाट छोड़कर संन्यास ले लेने का कभी प्रश्न ही नहीं उठा।

इसी प्रकार पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैवलि (बृ० उ० ६।२ त[illegible] छा० उ० ५-३), काशी के राजा अजातशत्रु (बृ० उ० २।१), केकय देश के रा[illegible] अश्वपति (छा० उ० ५।११-२४) के उपाख्यान उपनिषदों में ही आते हैं। इन[illegible] पास श्वेतकेतु, उद्दालक जैसे विद्वानों ने आकर और शिष्य बनकर ब्रह्मविद्या का उ[illegible] देश लिया था। स्पष्टतः वे नृपतिगण स्वयं पारंगत ब्रह्मज्ञानी थे। ऐसा होते हुए [illegible]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वे अपने-अपने राज्यों का दत्तचित्त होकर शासन करते थे। उनके सामने राज्य-शासन और ब्रह्मज्ञान में कोई विरोध हो सकता है, इसका प्रश्न ही नहीं उठा।

(२) **शौनक आदि महागृहस्थ ब्रह्मवादी :** यह भी ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों में ब्रह्म-जिज्ञासु अथवा ब्रह्मिष्ठ विद्वानों को स्पष्टतया कई जगह 'महाशाल' कहा गया है। 'महाशाल' शब्द की व्याख्या श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में 'महा-गृहस्थ' की है।[1] स्पष्ट है कि "ऋषयो गृहमेधिनः"[2] इस परंपरागत आदर्श के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान के प्रवर्तक गृहस्थ ही दिखलाये गये हैं। राजा जनक के साथ ब्रह्म-सम्बन्धी विचार करनेवाले याज्ञवल्क्य भी गृहस्थ ही थे; पीछे से उनके संन्यास-ग्रहण की चर्चा भले ही आयी हो।

इसीलिए उपनिषदों में ऐसे उल्लेख प्रायः आते हैं :

"ब्रह्मा...ब्रह्मविद्याम्...अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह"

(मु० उ० १।१।१)

अर्थात्, ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया।

"इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्
प्रणाय्याय वान्तेवासिने"

(छा० उ० ३।११।५)

अर्थात्, इसलिए पिता इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र को अथवा सुयोग्य शिष्य को (ही) करे।

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,
नास्याब्रह्मवित्कुले भवति"

(मु० उ० ३।२।९)

अर्थात्, जो कोई उस पर-ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है और उसके वंश में कोई अ-ब्रह्मविद् उत्पन्न नहीं होता।

इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में शुभ कर्तव्य-कर्मों की शिक्षा में तथा स्नातक को दिये गये उपदेश में भी स्पष्ट शब्दों में विवाहादि गृहस्थ धर्मों के साथ-साथ पुत्र-पौत्रादि सन्तानों की उत्पत्ति को[3] विशेष रूप से कर्तव्य-कर्म बतलाया गया है। ब्रह्म-विद्या की प्रतिपादक उपनिषदों में गृहस्थ-धर्म पर इस प्रकार बल देना अकारण नहीं है। उसका स्पष्ट अभिप्राय यही बतलाने का है कि ब्रह्मविद्या और गार्हस्थ्य में कोई विरोध नहीं है।

---

1. दे० "शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ" (मु० उ० १।१।३) तथा "ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति" (छा० उ० ५।११।१) पर शांकरभाष्य।
2. तु० "तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामाः" (प्रश्नोप० १।९)।
3. दे० "मानुषं च...प्रजा च...प्रजनश्च...प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च" (तै० उ० १।९।१)। "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" (तै० उ० १।११।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बृहदारण्यकोपनिषद् जैसी प्रमुख उप-निषद् के अन्त में एक पूरा खण्ड (बृ० उ० ६।४) सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान पर है, जिसमें यथेष्ट सन्तानोत्पत्ति की विधि बतलायी गयी है।

(३) कर्तव्यकर्म की प्रेरणा : ब्रह्मज्ञानी के लिए भी उपनिषदों में कर्तव्य-कर्म की प्रेरणा यत्र-तत्र पायी जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य हैं :

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।

(मु० उ० ३।१।४)

अर्थात्, आत्मा में क्रीडा करनेवाला और आत्मा में रमण करनेवाला क्रियावान् (=कर्तव्य-कर्म को करनेवाला) पुरुष ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है।[१]

तप के द्वारा अन्नादि की उत्पत्ति को बतलाते हुए मुण्डकोपनिषद् में ही कहा गया है :

"कर्मसु चामृतम्"

(मु० उ० १।१।८)

अर्थात्, कर्तव्य कर्मों का संपादन अमृतत्त्व का साधन है। ईशावास्योपनिषद् का बल-पूर्वक यही कहना है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।

(ईशोप० २)

अर्थात्, मनुष्य को कर्तव्य-कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए।

इसी बात को आगे इस प्रकार स्पष्ट किया है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥[२]

(ईशोप० ९, ११)

अर्थात्, जो केवल कर्म की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो केवल ज्ञानमार्ग का ही अनुसरण करते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश

---

१. मु० उ० ३।२।१० ("क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः") को भी देखिए।

२. तु० "कर्मणा रहितं ज्ञानं पङ्गुना सदृशं भवेत्। न तेन प्राप्यते किंचित् न च किंचित्प्रसाध्यते॥ एवं ज्ञानेन हीनं यत्कर्मान्धेन समं स्मृतम्। मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते॥ कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं कर्म कुर्वतः। तस्मादेवेष्टसंसिद्धिश्चतुरस्रा प्रजायते॥" (अ... मन्थन २३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते हैं। परन्तु जो कर्म और ज्ञान दोनों को साथ-साथ लेकर चलता है, वह कर्म द्वारा अपनी अपूर्णता को दूर कर ज्ञान से अमृतत्व को पा लेता है।

इसीलिए केनोपनिषद् का कहना है :

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।

(केनोप० ४।८)

अर्थात्, ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान का आधार तप, दम और कर्म पर है।

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है कि उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मज्ञानी को भी कर्म से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। तभी तो गृहस्थ-धर्म और ब्रह्मज्ञान के सामञ्जस्य की बात ऊपर कही गयी है।[1]

आभ्युदयिक दृष्टि

इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अमृतत्व या शाश्वत शान्ति की प्राप्ति अथवा, दूसरे शब्दों में, समस्त विश्व में ओत-प्रोत सर्वान्तर्यामी परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार ही है। उपनिषदों के अनुसार यह भी निश्चित है कि :

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

(कठोप० १।२।१०)

अर्थात्, वह नित्य पदार्थ (=परमात्मा) विनश्वर अनित्य वस्तुओं द्वारा नहीं मिल सकता। अथवा,

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।

(बृ० उ० २।४।२)

अर्थात्, अमृतत्व की प्राप्ति की आशा धन से नहीं हो सकती।

तो भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सांसारिक आभ्युदयिक दृष्टि की उपनिषदों में उपेक्षा ही की गयी है।

प्रेयस् और श्रेयस् मार्गों का विवेचन भी अवश्य किया गया है, पर उसका अभिप्राय यह नहीं है कि आध्यात्मिक लक्ष्य को लेकर चलनेवाले व्यक्ति को प्रेयस् मार्ग बिलकुल छोड़ कर केवल श्रेयस् मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। उक्त दोनों मार्ग मिले-जुले रूप में ही मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं। ऐसी अवस्था में अध्यात्म-मार्गी का कर्तव्य है कि वह ऐन्द्रियक सुखों (=प्रेयस्) में ग्रस्त न होकर अपने वास्तविक ध्येय (=श्रेयस्) की ओर ही बढ़ने का बराबर यत्न करता रहे। दूसरे शब्दों में, प्रेयस् को श्रेयस् का विरोधी या बाधक न बनाकर उसका साधक ही बनाये।

१. यह भी देखिए : "लोकी भवति···लोकान्न निन्देत् तद् व्रतम्" (छा० उ० २।१७।२)। इस सम्बन्ध में भागवत का यह प्रमाण भी ध्यान देने योग्य है : "एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः। योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥" (भागवत ९।१३।२७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही बात आभ्युदयिक समृद्धि और निःश्रेयस् के परस्पर सम्बन्ध की है। दोनों में सामञ्जस्य अथवा समन्वय स्थापित हो सकता है और होना चाहिए।[1]

वास्तव में प्रश्न जीवन की यात्रा और उसके परम लक्ष्य की प्राप्ति दोनों का है। जीवन के परम लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न करके, जीवन-यात्रा के लिए और जीवन के कर्तव्यों के पालन के लिए, न कि भोग और ऐश्वर्य के मद की दृष्टि से, सांसारिक अभ्युदय की उपयोगिता का निषेध प्राचीन उपनिषदों को कभी अभीष्ट नहीं था। ऊपर दिये गये ब्रह्मवेत्ता जनक आदि नृपतियों के उदाहरणों से इसी बात की पुष्टि होती है।

नीचे के उद्धरणों से उपनिषदों की आभ्युदयिक दृष्टि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और अध्यात्म-चिन्तन के प्रकारों की फल-श्रुतियाँ छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार दी गयी हैं :

स य एवम्···वेद प्राणी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति,
महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या···।

(छा० उ० २।११।२)

अर्थात्, वह जो इस प्रकार··जानता है, प्राणवान् होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, समुज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओं द्वारा महान् होता है और कीर्ति द्वारा भी महत्त्व को पाता है···।[2]

स य एवम्···वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति···।

(छा० उ० २।१७।२)

अर्थात्, वह जो इस प्रकार··जानता है, प्रतिष्ठित स्थितिवाला होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है···।

यस्तद् वेद···सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति···।

(छा० उ० २।२१।४)

अर्थात्, जो उसे जानता है··उसके लिए सब दिशाओं से उपहार और भोग प्राप्त होते हैं।

···श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद।

(छा० उ० ३।१३।२)

---

१. तु० "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिकसूत्र १।१।२)। वास्तव में, जो अध्यात्म तत्त्व को समझता है उसके लिए, प्रेयस् और श्रेयस में, परस्पर विरोध के स्थान में, समन्वय स्थापित किया जा सकता है। प्रकृत वैशेषिक सूत्र में अभ्युदय और निःश्रेयस के तथा पुराणों आदि में भुक्ति और मुक्ति के सायुज्य का यही अभिप्राय है।

२. तु० "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।
(तै० उ० ३।६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, "जो ऐसा जानता है वह विभूति और ख्याति से युक्त होता है।

"ओजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद।

(छा० उ० ३।१३।५)

अर्थात्, "जो ऐसा जानता है वह बलवान् और महत्त्वशाली होता है।

"स य"एवं वेदास्य कुले वीरो जायते।

(छा० उ० ३।१३।६)

अर्थात्, "वह जो" ऐसा जानता है उसके कुल में वीर उत्पन्न होता है।

"सर्वाण्येनं वामानि अभिसंयन्ति य एवं वेद।

(छा० उ० ४।१५।२)

अर्थात्, "जो इस प्रकार जानता है उसे समस्त अभिवाञ्छित अथवा सेवनीय पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

नीचे के उद्धरणों में केवल फलश्रुतियाँ न होकर, ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं की वास्तविक आभ्युदयिक स्थिति का दिग्दर्शन मिल सकता है :

"तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते।

(छा० उ० ५।१२।१)

"तस्मात्तव विश्वरूपं कुले दृश्यते। प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो
दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्।

(छा० उ० ५।१३।१-२)

"तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति।

(छा० उ० ५।१४।१)

अर्थात्, (भिन्न-भिन्न रूपों में परमात्मा की उपासना के फलों के प्रसङ्ग में बतलाते हुए कहते हैं :) इसी उपासना के फलस्वरूप तुम्हारे कुल में (१) सोमयज्ञ, सन्तान का सुख और विशिष्ट खान-पान दिखलायी देते हैं; (२) नाना प्रकार की संपत्ति, जैसे—खच्चरियों से युक्त रथ, आभूषणों के साथ दासियाँ, प्रचुर खाद्य और रमणीय पदार्थ उपस्थित हैं; अथवा (३) नाना प्रकार के उपहार तुम्हारे पास आते हैं और विभिन्न प्रकार के रथों की श्रेणियाँ तुम्हारे पीछे-पीछे चलती हैं।

इसी प्रसङ्ग में औपनिषद धारा के सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता आचार्य उद्दालक की, स्वयं वर्णित, आभ्युदयिक परिस्थिति का भी उल्लेख करना समुचित होगा।

उद्दालक अध्यात्म-विषयक कुछ प्रश्नों को लेकर पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैवलि के पास उपस्थित होते हैं। राजा उनकी परीक्षा के लिए पहले तो उनको धन आदि से सन्तुष्ट करना चाहते हैं। पर उद्दालक कहते हैं कि सांसारिक अभ्युदय उनके पास पर्याप्त है और आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए राजा से आग्रह करते हैं। अपनी आभ्युदयिक स्थिति के विषय में वे कहते हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां
दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य।

(बृ० उ० ६।२।७)

अर्थात्, (हे राजन्!) आप जानते हैं कि मुझे हिरण्य, अनेक गौ और अश्व, दासियाँ, नौकर-चाकर और वस्त्रादि उपभोग-सामग्री सब प्राप्त है।[1]

इत्यादि प्रमाणों से औपनिषद धारा की, कम से कम जहाँ तक उसका प्राचीन उपनिषदों से सम्बन्ध है, आभ्युदयिक दृष्टि क्या थी, यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था में रूढि-मूलक कठोरता का अभाव : 'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिकधारा' के परिच्छेद ७,९ और १० में हम विशद रूप से दिखला चुके हैं कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वैदिक धारा में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ था और शनैः-शनैः उसके तृतीय काल में वह उसकी एक विशेषता बन गयी। तो भी उस समय तक जन्म-परक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का केवल उदय ही था; उस प्रवृत्ति में उत्तरकालीन घोर रूढि-मूलकता नहीं आयी थी।

यहाँ हम यही देखना चाहते हैं कि औपनिषद धारा के काल में रूढि की दृष्टि से वर्णव्यवस्था की कैसी स्थिति थी।

इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि प्राचीन दस उपनिषदों में से किसी में भी ब्राह्मणादि वर्णों के लिए 'जाति' शब्द एक बार भी नहीं आया है। वास्तव में 'जाति' शब्द का प्रयोग ही उनमें नहीं हुआ है।[2] इससे स्पष्ट है कि इसकाल में भी वर्ण-व्यवस्था में परम्परागत लचीलापन विद्यमान था और उसमें उत्तरकालीन कठोर दृष्टि नहीं आ पायी थी। नीचे के उदाहरणों से इस बात की पुष्टि होती है :

छान्दोग्योपनिषद् (४।४।१–५) में सत्यकाम जाबाल आचार्य हारिद्रुमत गौतम के पास उपस्थित होकर गुरुकुल में प्रवेशार्थ प्रार्थना करता है। गुरु पूछते हैं : 'तुम किस गोत्र के हो?" सत्यकाम उत्तर देता है कि मेरी माता ने कहा है : 'मैं नहीं जानती कि तुम्हारा क्या गोत्र है। मैं युवावस्था में परिचारिका का काम करती थी, तभी तुम उत्पन्न हो गये।' आचार्य इस सत्योक्ति से प्रसन्न हो गये और उन्होंने उ…

१. इस प्रसङ्ग में देखिए : "गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते। हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानि।" (छा० उ० ७।२४।२)। तथा "स (=जनकः) ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः। तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति।" (बृ० उ० ३।१।१) तथा "स (=गार्ग्यः) होवाचाजातशत्रुं ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः" (बृ० उ० २।१।१)।

२. तु० "जननेन या प्राप्यते सा जातिः" (महाभाष्य ५।३।५५)। उत्तरकालीन उपनिषदों में 'जाति' शब्द का वर्ण के अर्थ में प्रयोग मिलता है; जैसे देखिये वज्रसूचिकोपनिषद्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनिर्ज्ञात-पितृक सत्यकाम को उपनीत करके अपना अन्तेवासी बना लिया।[1] पीछे से यही सत्यकाम स्वयं सुप्रसिद्ध आचार्य हो गये।[2]

आचार्य महिदास ऐतरेय का उल्लेख **छान्दोग्योपनिषद्** (३।१६।७) में बड़े गौरव के साथ किया गया है। यही **ऐतरेय-ब्राह्मण** के प्रवक्ता थे। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये किसी (अनिर्ज्ञात) आचार्य की 'इतरा' अर्थात् शूद्रा भार्या के पुत्र थे।[3] पिता के स्थान में माता के नाम पर (उपर्युक्त सत्यकाम जाबाल के समान) इनकी 'ऐतरेय' इस शब्द से प्रसिद्धि ही इनके जन्म के साथ कुछ कुत्सा(= निन्दा) की द्योतक है।[4] ऐसा होने पर भी इनका आदरातिशय के साथ उल्लेख प्राचीन उपनिषत्काल में वर्ण-व्यवस्था के लचीलेपन को ही प्रकट करता है।

छान्दोग्योपनिषद् (४।१–३) में जानश्रुति पौत्रायण और आचार्य रैक्व का एक उपाख्यान दिया गया है। रैक्व की प्रसिद्धि सुनकर वह पुष्कल भेंट लेकर उसके पास पहुँचता है और उपासनीय देवता के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है। रैक्व उस भेंट से संतुष्ट न होकर जानश्रुति को 'शूद्र' कह कर लौटा देता है। जानश्रुति उस भेंट को प्रायः दुगुना करके और अपनी दुहिता को भी लेकर पुनः उपस्थित होकर उसी प्रार्थना को दुहराता है। रैक्व उस भेंट को और उसकी दुहिता को पत्नी-रूप में स्वीकार कर लेता है और प्रसन्न होकर पुनः 'हे शूद्र !' इन शब्दों में जानश्रुति को सम्बोधित करके उसकी अभीष्ट जिज्ञासा का समाधान करता है।

प्राचीन उपनिषत्काल की सामाजिक परिस्थिति को देखते हुए शूद्र होते हुए भी जानश्रुति को रैक्व द्वारा उपास्य देवता का उपदेश देना कोई आश्चर्य की बात न होनी चाहिए।

पर **ब्रह्मसूत्र** (१।३।३४–३८) में, 'शूद्र को विद्या का उपदेश नहीं देना चाहिए' इस उत्तरकालीन अभिनिवेश के आधार पर, उपर्युक्त उपाख्यान पर गम्भीर दृष्टि से विचार किया गया है और अन्त में 'निर्णय' दिया है कि वास्तव में जानश्रुति शूद्र न होकर क्षत्रिय ही था। उसको जो 'शूद्र' शब्द से उक्त आख्यान में संबोधित किया गया है उसका कारण यह है कि वह जानश्रुति उस समय 'शोक से खिन्न' था।[5]

---

1. दे० "सत्यकामो ह जावालो जवालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति। सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि……" (छा० उ० ४।४।१-२)।
2. दे० "उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जावाले ब्रह्मचर्यमुवास" (छा० उ० ४।१०।१)।
3. ऐतरेय-ब्राह्मण पर सायण-भाष्य की भूमिका देखिए। इसके अतिरिक्त, पुराणों और महाभारत में भी ऐसे महान् ऋषियों की नामावलियाँ दी हुई हैं जो शूद्र अथवा और भी निम्नवर्ग की स्त्रियों की सन्तान थे। उदाहरणार्थ देखिए भविष्य-पुराण (१।४२।२२–२६)।
4. तु० "गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च" (अष्टाध्यायी ४।१।१४७) पर "पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा" (काशिका)।
5. दे० "शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि" (ब्रह्मसूत्र १।३।३४) पर शांकरभाष्य।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्टतया यहाँ ब्रह्मसूत्रकार (=आचार्य बादरायण) का विचार "न शूद्राय मतिं दद्यात्" (मनु० ४।८०)[१] (=शूद्र को कोई सदुपदेश नहीं देना चाहिए) इस प्रकार की उत्तरकालीन रूढि-मूलक संकुचित दृष्टि से प्रभावित हैं।

द्विजों में पारस्परिक घनिष्ठता की भावना : दूसरी बात जो प्राचीन उपनिषदों की उदार विचारधारा के अनुकूल ही है यह है कि उनमें द्विजाति-मात्र (=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में परस्पर उत्तर काल की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, देखिए :

> **"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा……"**
>
> (छा० उ० ५।१०।७)

अर्थात्, उन (जीवों) में जो रमणीय (=शुभ) आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र उत्तमयोनि को प्राप्त होते हैं, जैसे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि को…

छान्दोग्योपनिषद् के अन्त में एक प्रार्थना दी गयी है। वह भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है :

> **"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम्।…"**
>
> (छा० उ० ८।१४।१)

अर्थात्, मैं उस यश को प्राप्त होना चाहता हूँ जो ब्राह्मणों का, राजाओं का और वैश्यों का है।

स्पष्टतया ऊपर के उद्धरणों में आर्य-जाति के अङ्गभूत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों में एक घनिष्ठता की भावना विद्यमान है[२], जो आगे चलकर क्रमशः क्षीण होने लगती है।[३]

क्षत्रियों द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश : यह भी ध्यान देने की बात है कि यद्यपि प्राचीन उपनिषत्काल में तत्तद् वर्णों की, आजीविका और कर्तव्यों की दृष्टि से, सामान्यतः वैसी ही जीवन-चर्या थी जैसी मनुस्मृति में बतलायी गयी है,[४] तो भी जहाँ अध्यात्म-विषयक गूढ विचारों का प्रश्न होता था, वहाँ क्षत्रिय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को शिष्यरूप से ज्ञानोपदेश देने के अनेकानेक प्रसङ्ग उपनिषदों में आये हैं।

---

१. दे० "न शूद्राय मतिं दद्यात्……न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥" (मनु० ४।८०)। "अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्॥", "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।" (दे० ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य १।३।३८)।

२. तु० "ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः।", "न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियाः।" (शतपथब्राह्मण ३।१।१।९-१०)

३. उदाहरणार्थ देखिए : स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा (गीता ९।३२-३३)।

४. दे० मनु० १।८७–९१।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनको हम अन्यत्र विस्तार से दिखला चुके हैं। स्मरण रहे कि इसमें कोई धर्मशास्त्र का भी विरोध नहीं था; क्योंकि जहाँ धर्मशास्त्र की अध्यापनादिव्यवस्था केवल आजीविका-मूलक थी, वहाँ अध्यात्म-विद्या के उपदेश का आजीविका की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं था।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है :

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥

(मनु० १२।९७)

अर्थात्, ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, इन सबका आधार वेद ही है। तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में वेद मनुष्य-जीवन के लिए प्रेरणा देनेवाला है।

उक्त परम्परागत धारणा के सम्बन्ध में विस्तृत विचार हम अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के परिच्छेद ९ और १० में कर चुके हैं। चातुराश्रम्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में हमने वहाँ यह दिखलाया है कि जहाँ तक केवल वेद-मन्त्रों की बात है, हमें उनमें स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का उल्लेख अभी तक नहीं मिला है। यही नहीं कि वानप्रस्थ और संन्यास के समर्थन में वेदमन्त्रों के प्रमाण नहीं मिलते; प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि मूल वैदिक विचारधारा के साथ संन्यास का सामञ्जस्य बैठाना भी अत्यन्त कठिन है।

यहाँ हम प्राचीन उपनिषदों का साक्ष्य इस सम्बन्ध में क्या है, यही दिखाना चाहते हैं।

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य

उपनिषदों में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य का समर्थन ओत-प्रोत है। स्थान-स्थान पर ब्रह्मचर्य की महिमा और आवश्यकता को बतलाया गया है। विभिन्न उपनिषदों के अनेकानेक वचन इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र उद्धृत कर चुके हैं। उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। श्रद्धा, तप और ब्रह्मचर्य के आधार पर ही कोई ब्रह्मज्ञान या अध्यात्म-विद्या का अधिकारी बन सकता है।[१]

गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में तो, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि औपनिषद विचारधारा के निर्वाहक प्रायः समस्त विद्वान् और आचार्य गृहस्थ ही थे।

---

१. तु० "तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" (प्रश्नोप० १।२); तथा प्रश्नोप० १।१०, १५; ५।३ ; छा० उ० ८।५।१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे भी वचन उपनिषदों में उपलब्ध हैं जिनमें कहा गया है कि गृहस्थाश्रम रहता हुआ ही मनुष्य ब्रह्म-लोक या अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।[१]

वानप्रस्थ-आश्रम

तो भी यह मानना होगा कि इन्हीं उपनिषदों में यत्र-तत्र ग्राम के गृहस्थ जीवन की अपेक्षा अरण्य में रहकर तपस्या के जीवन को अमृतत्व-प्राप्ति के लिए विशे महत्त्व दिया गया है।

उदाहरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद् (५।१०) में कहा गया है कि जो अरण्य रहकर श्रद्धा और तप का जीवन व्यतीत करते हैं वे क्रमशः देवमार्ग की उत्कृष्ट को पाते हुए ब्रह्म को, अमृतत्व को, प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जो ग्राम में रह गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए यज्ञ, परोपकार और दान धर्मों का सेवन करते क्रमशः पितृमार्ग की उत्कृष्ट गति को पाते हुए अन्त में पुनः इसी लोक में जन्म लेते अमृतत्व को नहीं पाते।[२]

ऐसे प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि उपनिषदों के आचार्य, प्रायः सब स्वयं गृहस्थाश्रमी थे, तो भी औपनिषद धारा का झुकाव वानप्रस्थ जीवन की अधिक था। कम से कम यह प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गयी होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रामों और नगरों की अपेक्षा अरण्यों का शान्त एकान्त वातावरण औपनिषद-चिन्तन में अधिक सहायक होता होगा।[३]

ब्राह्मण-ग्रन्थों से, और उपनिषदों से भी, संबद्ध आरण्यक साहित्य स अरण्यों में रहनेवालों की कृति है। वेद में भी कुछ संकेत विद्वानों के आरण्यक ले का मिलता है।[४]

---

१. तु० "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य'''कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् वि आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् याव ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते। न च पुनरावर्तते।" (छा० उ० ८।१५।१)।

२. दे० "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहर्'''स ब्रह्म गमयति। एष देवयानः पन्था इति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते मभिसंभवन्ति धूमाद्'''तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" (छा० ५।१०।१–५)। तथा बृ० उ० (६।२।१५-१६), छा० उ० (२।२३।१), प्रश्न (१।९-१०), मु० उ० (१।२।११)।

३. रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में ऋषियों के 'आश्रमों' का उल्लेख प्रायः आता है ग्राम-नगरों से दूर होते थे, ऐसी भी उनके विषय में धारणा है। पर उनमें रहनेवाले लोग वानप्रस्थी न होकर गृहस्थाश्रमी ही होते थे; क्योंकि सपरिवार ही वे वहाँ रहते थे। सकता है ऐसे 'आश्रम' उपनिषत्काल में भी रहे हों, यद्यपि इस अर्थ में, अथवा किसी और में भी, "आश्रम' शब्द प्राचीन दस उपनिषदों में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

४. दे० "उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥" (ऋग्० ८।६।२८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त कारणों से उपनिषदों में एक प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि गृहस्थाश्रम में प्रवेशार्थ विवाह-संस्कार के समान वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेशार्थ भी कोई विशेष संस्कार उन दिनों नियत था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि **बृहदारण्यकोपनिषद्** (२।४।१ तथा ४।५।२) में जहाँ याज्ञवल्क्य की परिव्रज्या का उल्लेख आया है वहाँ उनके वानप्रस्थ का उल्लेख बिलकुल नहीं है।

संन्यास-आश्रम

परिच्छेद १० (औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास') में हम दिखला चुके हैं कि यद्यपि संन्यास की शब्दतः या अर्थतः चर्चा दसों प्राचीन उपनिषदों में केवल दो-चार बार आयी है, तो भी उस प्रवृत्ति का उदय औपनिषद धारा में प्रारम्भ से ही न होकर मुनि-संप्रदाय के प्रभाव से पीछे से ही हुआ था।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था में अन्तिम चतुर्थ आश्रम के लिए प्रयुक्त परिभाषिक शब्द 'संन्यास' उक्त उपनिषदों में केवल एक बार **मुण्डकोपनिषद्** (३।२।६) में आया है। स्पष्टतया यह शब्द उत्तरकालीन है। इसको छोड़कर लगभग इसी अर्थ को प्रकट करनेवाले जो शब्द प्राचीन दस उपनिषदों में आये हैं, वे हैं : यति, श्रमण, तापस और मुनि। 'भिक्षु' शब्द, जो संन्यासी के अर्थ में प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है[1], उक्त उपनिषदों में एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, यद्यपि भिक्षा, भिक्षाचर्य अथवा भैक्ष्यचर्या का उल्लेख वहाँ आता है।[2]

यति आदि उक्त चार शब्दों में से 'तापस' शब्द सामान्यार्थक है। उससे संन्यासी और वानप्रस्थी दोनों का बोध हो सकता है।

'श्रमण' शब्द का प्रयोग केवल एक बार **बृहदारण्यकोपनिषद्** (४।३।२२) में हुआ है।[3] पाणिनीय अष्टाध्यायी ("कुमारः श्रमणादिभिः" २।१।७०) में इस शब्द को स्त्रीलिङ्ग में ('श्रमणा') दिया गया है और उसका उदाहरण है "कुमारी श्रमणा = कुमारश्रमणा"। इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों सामान्यरूप से प्रव्रजित के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता था। उसका 'चातुराश्रम्य-व्यवस्था' से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि जहाँ 'श्रमण' शब्द का प्रयोग बौद्ध और जैन साधुओं के लिए बराबर प्रचलित रहा है, वहाँ वैदिक परम्परा में वह बिलकुल नहीं पाया जाता। यही नहीं, **पातञ्जलमहाभाष्य** (२।४।९) में तो 'श्रमण-ब्राह्मणम्' इस उदाहरण द्वारा श्रमणों और वैदिक-परम्परा के अनुगामी ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध भी दिखलाया गया है।

---

1. तु० "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" (अष्टाध्यायी ४।३।११०)।
2. दे० छा० उ० ४।३।७, बृ० उ० ३।५।१ तथा ४।४।२२, मु० उ० १।२।११।
3. दे० "अत्र पिताऽपिता भवति···श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः···" (बृ० उ० ४।३।२२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'मुनि' शब्द का प्रयोग भी केवल **बृहदारण्यकोपनिषद्** (३।५।१ तथा ४।४।२२) में दो बार हुआ है। इस शब्द का भी कोई विशेष सम्बन्ध संन्यासाश्रम से नहीं था। उत्तरकाल में इस शब्द का सम्बन्ध जैनधारा के साथ घनिष्ठ रहा है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको **वातरशनाः** = दिगम्बर, पिशङ्गा वसते मला = मृत्तिका को धारण करते हुए पिङ्गलवर्ण और केशी = प्रकीर्णकेश, इत्यादि कहा गया है[1]। यह वर्णन **श्रीमद्भागवत** (पञ्चम स्कन्ध) में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है।[2] वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "ऋषभदेव ने वातरशन श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के उपर्युक्त मुनियों के वर्णन का सम्बन्ध, ऋषियों की वैदिक परम्परा से न होकर, तपस्वी साधु-सन्तों की ऐसी परम्परा से है जो प्राग्वैदिक थी। इसी परम्परा को हमने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में **मुनि-संप्रदाय** कहा है।

वैराग्य-प्रधान और तपः-परायण इसी परम्परा के प्रभाव से औपनिषद धारा में पीछे से संन्यास की प्रवृत्ति का उदय हुआ होगा।

'यति' शब्द का इतिहास भी बड़ा विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल के प्रारम्भ में 'यतियों' को (जो एक प्रकार के प्राग्वैदिककालीन साधु होंगे) अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। तभी तो "इन्द्र ने यतियों को शाला-वृकों (= लकड़बग्घों) को (वधार्थ) दिया।"[4] ऐसा कथन प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में वैदिक आर्य उन परम्परागत अनार्य यतियों को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु धीरे-धीरे वे स्वयं उनकी वैराग्य-भावना और तपस्या की प्रवृत्ति से प्रभावित हो गये और अन्त में उसी प्रभाव से वैदिक परम्परा में भी संन्यासियों और यतियों को सम्मानास्पद स्थान मिल गया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि औपनिषद धारा में संन्यास की प्रवृत्ति का प्रारम्भ, उसके प्रारम्भिक काल से न होकर, पीछे से ही हुआ था।

---

१. तु० "मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।···केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत् सह" (ऋग्० १०।१३६।२, ७)।

२. तु० "एवम्···भगवान् ऋषभापदेशः···गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः···अवधूतवेषो···गृहीतव्रतः···परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।" (भागवत ५।५।२८-३१)।

३. दे० "···भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।" (भागवत ५।३।२०)।

४. दे० "इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्" (तैत्तिरीयसंहिता ६।२।७।५)। तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण ८।१।४ (उस पर सायणभाष्य—"पूर्वमिन्द्रो यतीन् वेदविरुद्धनियमोपेतान् यतीन् तान् शालावृकेभ्योऽरण्यश्वभ्यः प्रायच्छद् वधार्थम्···")। तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण १३।४।१७ और उस पर सायण-भाष्य।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्त्री-समाज की स्थिति

भारतीय इतिहास के मध्यकाल से लेकर इधर भारतवर्ष में स्त्री-समाज की जो हीन दशा रही है वह किसीसे छिपी नहीं है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है :

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्। (१।४।२५)

अर्थात्, स्त्रियों, शूद्रों और केवल नामधारी द्विजों की गति त्रयी अर्थात् वेद में नहीं है, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा करके महाभारत का निर्माण किया था, जिससे वैदिक कर्म-मार्ग में जो मूढ हैं उनका भला हो सके।

स्त्रियों की गणना शूद्रों के साथ की जाती थी और यह समझा जाता रहा कि उनको अध्ययन का अधिकार नहीं है।

यही नहीं, उपनिषदों और वेदान्त के पारंगत विद्वान् तो स्त्री को नरक का मूल ही बतलाते थे।

श्री शंकराचार्य अपनी प्रश्नोत्तरी में स्पष्ट ही कहते हैं :

द्वारं किमेकं नरकस्य नारी (३)

अर्थात्, यदि यह पूछा जाय कि नरक का एकमात्र द्वार कौन-सा है? तो 'नारी' यही उत्तर है।[1]

वैदिककाल में स्थिति बिलकुल इसके विपरीत थी, यह हम वैदिकधारा पर अपनी पुस्तक में दिखला चुके हैं। उस समय वह अपने पति के साथ आवश्यक रूप से यज्ञानुष्ठानों में भाग लेती थी और वेदादि के अध्ययनाध्यापन में भी उसको पूर्ण अधिकार था।[2]

उपनिषदों का प्रारम्भ वैदिक परम्परा में ही हुआ था, यह हम ऊपर बतला चुके हैं। इसलिए स्वभावतः उपनिषदों में भी स्त्री-समाज की स्थिति वैदिकधारा जैसी ही होनी चाहिए। स्त्रियों की स्थिति ब्रह्म-विद्या जैसे अत्यन्त गूढ विषय में भी उस समय के आचार्यों से किसी प्रकार कम नहीं थी। सौभाग्य से इसके दो स्पष्ट उदाहरण बृहदारण्यक जैसी प्रधान उपनिषद् में मिलते हैं। जैसेः—

---

१. इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध यह पद्य भी द्रष्टव्य हैः—
संसारोदधिनिस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि नार्यो महापगाः ॥

२. इसीलिए भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में आत्रेयी के मुख से ठीक ही कहलवाया है :
अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥ (२।३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य की आख्यायिका का उल्लेख हम ऊपर अन्यत्र कर चुके हैं। याज्ञवल्क्य संन्यासाश्रम में जाने को उद्यत हैं। वे अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं :

"मैत्रेयि ! इस अवसर पर मैं चाहता हूँ कि मेरे पास जो कुछ संपत्ति है उसका अपनी दूसरी पत्नी कात्यायनी और तुम्हारे बीच में बटवारा कर दूँ।"

इस पर मैत्रेयी कहती हैं :

यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन
पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति ।

(बृ० उ० २।४।२)

अर्थात्, भगवन् ! यह तो बतलाइये कि यदि यह धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या उससे किसी प्रकार मैं अमर हो सकती हूँ ?

याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं :

नेति···यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं
स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ।

(बृ० उ० २।४।२)

अर्थात्, नहीं, ऐसा नहीं है। उस दशा में भोग-सामग्रियों से संपन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए।

इस पर मैत्रेयी ने कहा :

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।

(बृ० उ० २।४।३)

अर्थात्, जिस वस्तु से मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? आप जो कुछ अमृतत्व का साधन समझते हैं, उसीको मुझे बतलाइये।

इसके उपरान्त याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आश्वासन देकर ब्रह्मज्ञान का अपना व्याख्यान आरम्भ किया जो समस्त उपनिषदों में अत्यन्त हृदयङ्गम स्थल समझा जाता है और जिसकी 'मैत्रेयी-ब्राह्मण' इस नाम से प्रसिद्धि है।

दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक प्रभावक, बृहदारण्यकोपनिषद् में ही, याज्ञवल्क्य और गार्गी के संवाद का है।

महाराजा जनक वैदेह एक बृहत् यज्ञ के प्रसङ्ग पर एक विद्वत्सम्मेलन कराते हैं जिसमें कुरु और पञ्चाल देशों के विद्वान् एकत्रित होकर याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में अध्यात्म विषयों पर विचार-विमर्श करते हैं।

इन्हीं एकत्रित विद्वानों में एक प्रमुख विदुषी गार्गी वाचक्नवी (=वचक्नु की दुहिता) थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद दो बार होता है। प्रथम संवाद में गार्गी याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या-विषयक एक गूढ़ प्रश्न करती है। याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, पर गार्गी को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। अन्त में उसको बलात् चुप कर देते हैं (बृ० उ० ३।६)।

गार्गी समस्त सम्मेलन से अनुज्ञा लेकर पुनः दो गूढ़ प्रश्न याज्ञवल्क्य से करती है। याज्ञवल्क्य के उत्तरों से वह सन्तुष्ट होकर समस्त सभा को संबोधित करके याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की प्रशंसा करती है।

इस द्वितीय संवाद के प्रारम्भ में उपनिषद् में जो गार्गी का वर्णन दिया गया है वह अत्यन्त प्रभावक है और उससे गार्गी की तीक्ष्ण बुद्धि और गम्भीर विद्वत्ता के साथ-साथ उसका तद्विषयक आत्मविश्वास भी द्योतित हो जाता है। वह वर्णन इस प्रकार है :

गार्गी याज्ञवल्क्य से कहती है :

अहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा
वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा
द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते
कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां
प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति।

(बृ० उ० ३।८।२)

अर्थात्, हे याज्ञवल्क्य ! जैसे काशी या विदेह का रहनेवाला कोई वीर-वंशज प्रत्यञ्चा-रहित धनुष् पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को विशेष पीड़ा देनेवाले दो तीक्ष्ण शरों को हाथ में लेकर सामने खड़ा होता है, वैसे ही मैं दो प्रश्नों को लेकर तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हूँ। तुम मेरे उन दो प्रश्नों का उत्तर दो।

मैत्रेयी और गार्गी के उक्त दो उदाहरणों से औपनिषद धारा में स्त्री-समाज की अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है। वे ब्रह्मवादिनी भी होती थीं और विद्वत्सभाओं में उन्हें सम्मानपूर्ण और समान स्थान मिलता था।

ऐसा होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ **बृहदारण्यकोपनिषद्** के ही अन्त में सन्तानोत्पत्ति-विषयक प्रसङ्ग में जो 'मेरी दुहिता पण्डिता हो' ऐसा चाहता है उसके लिए विधि बतलायी गयी है[1], वहाँ शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं :

"दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्"

(बृ० उ० ६।४।१७ पर शांकरभाष्य)

अर्थात्, उपनिषद् में—मेरी दुहिता 'पण्डिता' हो—ऐसा जो कहा गया है, वह दुहिता का पाण्डित्य गृह-शास्त्र में निपुण होना ही है, क्योंकि वेद के अध्ययन में तो स्त्री को अधिकार ही नहीं है।

१. दे० "अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।" (बृ० उ० ६।४।१७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्टतया यहाँ शङ्कराचार्य अपने संकुचित वातावरण से प्रभावित हैं और इ… उपनिषद् में आये हुए मैत्रेयी और गार्गी के प्रसङ्गों को उन्होंने भुला दिया है।

ऊपर के प्रसङ्ग में छान्दोग्योपनिषद् के निम्न उपदेश को भी स्मरण रखना… चाहिए :

न कांचन परिहरेत् । तद् व्रतम् ।[1]

(छा० उ० २।१३।२)

अर्थात्, प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य अथवा व्रत होना चाहिए कि वह किसी … का अपमान न करे।

इस सामान्य कथन से भी औपनिषद धारा में स्त्री-समाज की सम्मानित स्थि… ही प्रकट होती है।

अतिथि-सत्कार

वैदिक धारा में अतिथि-सत्कार को सदैव एक आवश्यक कर्तव्य माना … है। अथर्ववेद में स्पष्टतया कहा गया है :

अशितवत्यतिथावश्नीयात्…तद् व्रतम् ।

(अथर्व० ९।८।…)

अर्थात्, अतिथि के भोजन कर लेने के अनन्तर भोजन करना चाहिए।…यह … व्रत है।

उपनिषदों में भी अतिथि-सत्कार एक कर्तव्य-कर्म समझा जाता था। स्थान-… स्थान पर इसकी कर्तव्यता पर बल दिया गया है। उदाहरणार्थ, निम्नस्थ व… को देखिए :

अतिथिदेवो भव ।

(तै० उ० १।११।…)

आचार्य का स्नातक के प्रति उपदेश है कि तुझे अतिथियों को देव… समझना चाहिए।

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् ।

(तै० उ० ३।१०।…)

अर्थात्, मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने यहाँ ठहरने के लिए आये हुए किसी… भी निषेध न करे। इसको एक व्रत समझना चाहिए।

अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।

(तै० उ० १।९।…)

---

१. शाङ्करभाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : "न कांचन कांचिदपि स्त्रियं स्वात्म… प्राप्तां न परिहरेत् समागमार्थिनीम् । वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन विधानात् । एतस्माद… प्रतिषेधस्मृतयः ।…" यह व्याख्या लज्जास्पद है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद्योपार्जन में संलग्न व्यक्ति को चाहिए कि वह अतिथि-सत्कार के अपने कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए ही स्वाध्याय और प्रवचन करे।

कठोपनिषद् में नचिकेतस् यमाचार्य की अनुपस्थिति में उनके स्थान पर पहुँचकर उनकी प्रतीक्षा में तीन रात्रि तक बिना भोजन किये रहते हैं। यम को लौटने पर जब इसका पता लगता है तो वे अत्यन्त दुःखी होते हैं। वे नचिकेतस् का अतिथि-रूप में हर प्रकार से सत्कार करते हैं और कहते हैं कि जिसके घर में विद्वान् अतिथि बिना भोजन किये रहता है उस मन्द-बुद्धि मनुष्य की समस्त आशाओं, कामनाओं और विभिन्न सत्कर्मों के फलों को, तथा पुत्र और पशु आदि को वह उपेक्षित अतिथि नष्ट कर देता है।[1]

विविध अन्य विषय

असुरजाति का प्रेत-संस्कार

छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ८) में एक आख्यायिका आती है जिसमें इन्द्र और विरोचन का आत्मतत्त्व के अनुसन्धानार्थ प्रजापति के पास जाने का और अन्त में प्रजापति द्वारा इन्द्र को आत्मतत्त्व के उपदेश का वर्णन किया गया है। उसी प्रसङ्ग में यह रोचक सन्दर्भ आता है :

> **असुराणां ह्येषोपनिषत्। प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्ति। एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।**
>
> (छा० उ० ८।८।५)

अर्थात्, यही उपनिषद् (= सिद्धान्त) असुरों की है। वे मृतक मनुष्य के शरीर को (गन्ध-माल्यादि रूप) भिक्षा से तथा वस्त्र और अलङ्कार से सजाते हैं। वे समझते हैं कि इसके द्वारा परलोक की विजय की जा सकती है।

इस सन्दर्भ से उपनिषत्कालीन असुरों की वास्तविक स्थिति का और उनके रीति-रिवाज का कुछ संकेत अवश्य मिलता है।

गन्धर्वावेश का उल्लेख

बृहदारण्यकोपनिषद् में दो स्थानों पर स्त्रियों पर गन्धर्वावेश का विचित्र उल्लेख आया है। जैसे :

> **अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम।**

---

१. देखिए : "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥" (कठोप० १।१।७-८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम । तस्यासीद् दुहिता
गन्धर्व-गृहीता । तमपृच्छाम कोऽसीति ।
सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति ।···

(बृ० उ० ३।३।१)

अर्थात्, तदनन्तर भुज्यु लाह्यायनि ने याज्ञवल्क्य से पूछा । उसने कहा : हे याज्ञवल्क्य ! एक बार देशाटन करते हुए हम लोग मद्र देश में घूम रहे थे। हम काप्य पतञ्चल के घर पहुँच गये । उसकी पुत्री गन्धर्व से गृहीत थी (अर्थात् उस पर गन्धर्व का आवेश था)। हमने उससे पूछा : तुम कौन हो ? वह बोला : अङ्गिरस्-गोत्र में उत्पन्न सुधन्वा हूँ···।

इसी प्रकार के गन्धर्वावेश का एक वर्णन बृ० उ० (३।७।१) में आया है। उद्दालक आरुणि उसी काप्य पतञ्चल के घर पहुँचते हैं और देखते हैं कि उसकी भार्या गन्धर्व से गृहीत है। वे उस गन्धर्व से पूछते हैं कि तुम कौन हो ? वह उत्तर देता कि मैं अथर्वन् का पुत्र कबन्ध हूँ।

दोनों प्रसङ्गों में आगे चलकर प्रश्नकर्ता का क्रमशः गन्धर्व-रूप सुधन्वा और कबन्ध के साथ वार्तालाप होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तेरहवाँ परिच्छेद

उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा से उद्भूत दार्शनिक चिन्तन का धारा-रूप में प्रथम दर्शन हमें प्राचीन उपनिषदों में ही होता है। इसलिए उपनिषद् स्वयं दर्शन-रूप हैं, यह कहा जा सकता है। परन्तु उनकी शैली एक व्यवस्थित दर्शन के प्रतिपादक ग्रन्थ की जैसी नहीं है। वे प्रायेण उपाख्यान-शैली, संवादात्मक अथवा उपदेश-प्रद शैली में निर्मित हैं। वे सब (प्राचीन उपनिषदें भी) बिलकुल एक ही काल अथवा एक ही आचार्य की कृति भी नहीं हैं। अतः यत्र-तत्र उनके दार्शनिक विचार भी बिलकुल एक-से नहीं हैं।[१] उनके दार्शनिक विचारों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र' को ही है। उसका विचार हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

इस परिच्छेद में हम समष्टि-दृष्टि से उपनिषदों के जो दार्शनिक विचार हैं उनको दिखलाना चाहते हैं।

ब्रह्म और आत्मा

परिच्छेद ९ ('औपनिषद धारा का स्वरूप') में हम संक्षेप में दिखला चुके हैं कि अन्तःसमीक्षण की प्रवृत्ति में क्रमशः अग्रसर होता हुआ मनुष्य किस प्रकार एक ओर ब्रह्म-चिन्तन में और दूसरी ओर आत्म-चिन्तन में उन्मुख होकर उनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को समझना चाहता है। इस सम्बन्ध में समाधान हो जाने पर उसको जीवन के परम लक्ष्य के स्वरूप को और उसकी प्राप्ति के साधन को समझने की जिज्ञासा होती है।

वास्तव में उक्त जिज्ञासाओं के समाधान के लिए ही उपनिषदों की प्रवृत्ति हुई है।

ब्रह्म और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में, जैसा हम पहले कह चुके हैं, उपनिषदों का अन्तिम निर्णय यही है :

"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"

(बृ० उ० २।५।१९)

अर्थात्, यही आत्मा ब्रह्म है जो सबका अनुभव करता है।

---

[१] तु० बाल गंगाधर तिलक का 'गीतारहस्य' (हिन्दी अनुवाद, १९१९), पृष्ठ ३५१, ७८३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"स वा अयमात्मा ब्रह्म"

(बृ० उ० ४।४।५)

अर्थात्, वह यह आत्मा ही ब्रह्म है।

ऐसा होने पर भी ब्रह्म तथा आत्मा के विषय में पृथक्-पृथक् जो विचार उपनिषदों में आते हैं उनको यहाँ दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक प्राचीन उपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा दोनों को लेकर विचार नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, ईशोपनिषद् में जहाँ आत्मा का ही उल्लेख है, वहाँ केनोपनिषद् ब्रह्म को लेकर ही विचार करती है। तो भी उपनिषदों की अधिकतर प्रवृत्ति यही है कि वे आत्मा अथवा प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) से विचार उठाकर उसको ब्रह्म तक ले जाती हैं।

ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है[1]। इसलिए उपनिषदों का एक प्राचीनतम नाम ब्रह्म-विद्या है।[2] इसीलिए स्थान-स्थान पर उपनिषदों में ब्रह्म-जिज्ञासा में अथवा उसकी व्याख्या में प्रवृत्त व्यक्तियों के लिए ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मिष्ठ, ब्रह्मविद् जैसे शब्दों का प्रयोग प्रायः आता है।[3]

परन्तु उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्म मानव-बुद्धि का चरम आदर्श होने से देश-काल आदि की सीमाओं से, परिधियों से, बाहर की वस्तु है। वह सर्व-गुणातीत अनन्त शाश्वत परमतत्त्व (Infinite Eternal Absolute) है। ऐसी स्थिति में उसका वर्णन कैसे किया जाय, यह बड़ी कठिन समस्या है।[4] फिर भी उपनिषदों ने जिस हृदयङ्गम शैली से उसका प्रतिपादन किया है वह वास्तव में अद्भुत और अनोखी है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

उपनिषदों में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार से ब्रह्म का वर्णन किया गया है, यद्यपि सगुण वर्णन स्वभावतः बहुत परिमित है।

'ब्रह्मन्' शब्द का मौलिक अर्थ बड़ा है। 'बृहत्त्वाद् ब्रह्म' (बड़ा होने से परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं), ऐसा ही परम्परा से माना जाता रहा है। ब्रह्म 'महतो महीयान्' बड़ों से बड़ा है। वह बृहत्तम है, उससे बड़ा कोई नहीं है। इसी से छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है :

---

१. दे० "तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्" (श्वे० उ० ५।६)। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१)।

२, दे० "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्" (मु० उ० १।१।१)। "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत" (मु० उ० ३।२।११)।

३. दे० "ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः" (प्रश्नोप० १।१)।

४. तु० "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केनोप० १।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।...यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा"

(छा० उ० ७।२३-२४)

अर्थात्, जो वास्तव में भूमा अर्थात् महान् है उसी ब्रह्म को जानना चाहिए। (शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'भूमा' का अर्थ महान्, निरतिशय अथवा बहु [=बड़ा] किया है।) भूमा वही है जहाँ अन्य सब प्रकार का ज्ञान, देखना, सुनना अथवा जानना, समाप्त हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

(तै० उ० २।१)

अर्थात्, ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।

"रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"

(तै० उ० २।७)

अर्थात्, वह (ब्रह्म) रस है। रस-रूप ब्रह्म ही को पाकर यह जीवात्मा आनन्दयुक्त हो जाता है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।...तद् ब्रह्मेति"

(तै० उ० ३।१)

अर्थात्, जिस (मूलतत्त्व) से ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, (और अन्त में) जिसको चले जाते हैं, जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।[1]

मुण्डकोपनिषद् का वर्णन इस प्रकार है:

"तदेतदक्षरं ब्रह्म"

(मु० उ० २।२।२)

"आनन्दरूपममृतं यद्विभाति"

(मु० उ० २।२।७)

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः।"

(मु० उ० २।२।९)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मु० उ० २।२।११)

अर्थात्, वही (मूलतत्त्व) यह अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म है।

[1] तु० "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः।" (ब्र० सू० १।१।१-२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जो (ब्रह्म) आनन्द-रूप और अजर होता हुआ प्रकाशमान हो रहा है।

निर्मल और निष्कल (अवयव-रहित) ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोश में स्थित है। वह शुद्ध और समस्त ज्योतिर्मय पदार्थों का भी प्रकाशक है।

यह अमृत-स्वरूप ब्रह्म ही इस विश्व-प्रपञ्च के रूप में हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बायें, नीचे-ऊपर सर्वत्र फैला हुआ है। यह विश्व ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वरणीय पदार्थ है।

माण्डूक्योपनिषद् ने ब्रह्म का वर्णन विश्वप्रपञ्च से परे, शान्त, शिव, अद्वैत इन शब्दों में किया है ("प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्", मा० उ० ७)। साथ ही यह भी कहा है कि यह सब कुछ ब्रह्म है और यह आत्मा ब्रह्म है ("सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म" मा० उ० २)।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म का विचार प्रायः साथ-साथ चलता है। सर्वत्र प्रायः आत्मा के रूप में ही ब्रह्म की व्याख्या अथवा कथन किया गया है, जैसे :

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति।"

(बृ० उ० १।४।१०)

अर्थात्, प्रारम्भ में यह ब्रह्म ही था। उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ।

"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्"

(बृ० उ० २।५।१९)

अर्थात्, यह आत्मा ही ब्रह्म है जो सबका अनुभव करता है। यही (उपनिषदों का) उपदेश है।

"स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्मा-भयं वै ब्रह्माभयँ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।"

(बृ० उ० ४।४।२५)

अर्थात्, वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म है। ब्रह्म अभय ही है। जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार है :

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति शान्त उपासीत।"

(छा० उ० ३।१४।१)

अर्थात्, यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। यह उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है और उसीमें चेष्टा करता है—इसी भावना से शान्त होकर उपासना करे।

"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म"

(छा० उ० ४।१०।५)

अर्थात्, ब्रह्म सबका जीवन है, सुख-रूप है और आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा
तद् ब्रह्म तदमृत ँ स आत्मा"

(छा० उ० ८।१४।१)

अर्थात्, नाम और रूप (अर्थात् समस्त दृश्य जगत्) का निर्वाह करनेवाला आकाश है। वे नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है। वह अमृत है, वही आत्मा है।

भावात्मक या सगुणरूप में ब्रह्म के उक्त प्रकार के वर्णन उपनिषदों में प्रायः मिलते हैं। पर अनन्त सर्वगुणातीत ब्रह्म का गुणों द्वारा वर्णन कभी पर्याप्त अथवा पूर्ण हो ही नहीं सकता—यह बात स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से सर्वत्र उपनिषदों में कही गयी है; उदाहरणार्थ देखिए :

ऊपर हमने कहा है कि केनोपनिषद् में केवल ब्रह्म की ही चर्चा है। इस उपनिषद् का तो यही कहना है कि वह ब्रह्म विदित और अविदित दोनों प्रकार के पदार्थों से भिन्न अथवा परे है ("अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" १।३)। आगे यही विस्तार से बतलाया गया है कि ब्रह्म वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्रादि की गति या क्षेत्र से बाहर है।

यही बात माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार कही गयी है :

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमम्"

(मा० उ० ७)

अर्थात्, (स्वप्न आदि तीन अवस्थाओं के अनन्तर अन्तिम चतुर्थ अवस्था में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह) न तो अन्दर से चेतनावान् है, न बाहर चेतनावान् है, न बाहर और भीतर चेतनावाला है, न ज्ञानमय है, न प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञा से रहित है। न वह देखने में आता है, न व्यवहार में आने योग्य है, न ग्रहण किया जा सकता है। उसका कोई लक्षण नहीं है। वह अचिन्त्य, अकथनीय है और एकात्मप्रतीति ही उसका सार है। सब प्रपञ्च उसमें समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् का कहना है :

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं···।"

(मु० उ० १।१।६)

अर्थात्, उस (ब्रह्म को) जो अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, रंग-रूप से रहित और चक्षु और श्रोत्र से रहित है···

बृहदारण्यकोपनिषद् में अक्षर ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहित-मस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्क-मप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥ वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुत ँ श्रोत्रममतं मन्तृविज्ञातं विज्ञातृ। नान्यदतोऽस्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ तस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

(बृ० उ० ३।८।८,११)

अर्थात्, (याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं) हे गार्गि ! उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर—कभी क्षीण न होनेवाला—कहते हैं । वह न मोटा है, न ... है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छायावाला है, न अन्धकार ... न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न ... है, न वाणी है, न मन है, न तेजवाला है, न प्राण है, न मुख है, न मापवाला है, ... अन्तर नहीं है, न बाहर है, न वह कुछ खाता है, न उसको कोई खाता है ॥ ८ ॥ हे गार्गि ! वह अक्षर स्वयं देखने में नहीं आता, पर द्रष्टा है; सुनने में नहीं आता, ... श्रोता है; मनन का विषय नहीं है, पर मन्ता है; स्वयं अविज्ञात है, पर विज्ञाता ... इससे भिन्न कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई ... नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गि ! निश्चय करके इस अक्षर में ... आकाश ओत-प्रोत है ॥ ११ ॥

इस प्रकार ब्रह्म को सर्वथा अवाङ्मनस-गोचर बतलाते हुए अन्त में यही ... गया है कि :

"तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।"

(बृ० उ० २।५।१९)

"स एष नेति नेत्यात्मा, अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न शीर्यते ।
असङ्गो न हि सज्यते ।"

(बृ० उ० ४।२।४)

अर्थात्, वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अन... (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है । यह आत्मा ही ब्रह्म है जो सबका ...भव करनेवाला है ।

'नेति-नेति' इस प्रकार से वर्णन किया हुआ वह यह आत्मा अगृह्य है, ... ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है, नष्ट नहीं होता; असंग है, उसका ... नहीं होता ।

ऊपर दिखलाये हुए ब्रह्म के वर्णनों से दो परिणाम स्पष्टतया निकलते हैं ।

प्रथम तो यह कि उपनिषदों में ब्रह्म-विषयक प्रतिपादन का पर्यवसान '... नेति' (यह नहीं, यह नहीं) इस कथन में ही होता है । अर्थात् पहले सगुण (=गुण... से युक्त) रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करके फिर निषेधरूप में उसको वास्तव में नि... निर्विशेष, अवाङ्-मनस-गोचर ही बतलाया जाता है ।[२]

---

१. इसी कथन के लिए दे० बृ० उ० ३।९।२६; ४।४।२२; ४।५।१५ ।

२. उपनिषदों की ब्रह्म-प्रतिपादन की इसी पद्धति को वेदान्त के ग्रन्थों में 'अध्यारोप' और उसे 'अपवाद' कहा जाता है । तु० "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरे यह कि अन्ततोगत्वा ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न ही कहा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में बारबार "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३।४।१) (अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् स्वानुभवगम्य ब्रह्म है वही सर्वान्तर्यामी आत्मा है) ऐसा कहा गया है।

आत्मा का वर्णन

ऊपर हमने देखा है कि ब्रह्म का वर्णन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" से प्रारम्भ होकर "अयमात्मा ब्रह्म" में समाप्त होता है। आत्मा की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न है। आत्मा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः अपने में होता है और फिर उसकी आत्म-भावना का क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते विश्व को व्याप्त कर लेता है। उपनिषदों में आत्मा का वर्णन बहुत कुछ ऐसा ही है; इसीको सप्रमाण हम नीचे दिखाना चाहते हैं।

सबसे पहले हम कठोपनिषद् को लेते हैं। इस उपनिषद् का प्रारम्भ ही, जैसा हम अन्यत्र (परिच्छेद ५ में) दिखला चुके हैं, यमराज के प्रति नचिकेतस् की इस जिज्ञासा से होता है कि मरने के अनन्तर मनुष्य की क्या स्थिति होती है, इस विषय को मैं आपके उपदेश द्वारा समझना चाहता हूँ।

यम अपने उपदेश में कहते हैं :

मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावतः बहिर्मुख है। वह सामान्य रूप से बाह्य विषयों को ही देखता है, अपनी अन्तरात्मा को नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् व्यक्ति शाश्वत शान्ति की इच्छा से इन्द्रियों को रोक कर अपनी प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) को देखता है।[१]

नचिकेतस् की उक्त जिज्ञासा के सम्बन्ध में उपनिषद् का कहना है :

> न जायते म्रियते वा विपश्चि-
> न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
>
> (कठोप० १।२।१८)

अर्थात्, यह चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है। न तो यह किसीका कार्य है और न स्वतः ही अभाव से भावरूप में आया है। यह जन्म-रहित, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता है।

'शरीर के मारे जाने पर भी यह आत्मा नहीं मरता है' इस कथन से स्पष्ट है कि उक्त वर्णन जीवात्मा का ही है, परमात्मा का नहीं।

---

१ दे० कठोप० २।१।१।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी सम्बन्ध में इसी उपनिषद् के नीचे के पद्य को देखिए :

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत् ॥
(कठोप० २।१।

अर्थात्, जो कर्म-फल-भोक्ता इस आत्मा (= जीवात्मा) को समीप से वास्त भूत और भविष्य जगत् के शासक रूप में जानता है, अर्थात् विश्व के संचा परमेश्वर से अभिन्न समझता है, वह उस परमात्मा से दुराव नहीं करता। यही वे आत्मतत्त्व है (जिसको अयि नचिकेतस्! तुम जानना चाहते हो)।

इसी प्रकार के अन्य अनेक वचन कठोपनिषद् में हैं जिनमें आपाततः जीवात्मा का वर्णन होते हुए भी अन्त में ऐसी शब्दावली आ जाती है जो जीवात्म स्थान में वास्तव में परमात्मा (या अक्षर ब्रह्म) का ही वर्णन करती है।[१] उसका अन्तरभिप्राय यही दीखता है कि उपनिषद् के मत में जीवात्मा का वास्त स्वरूप परमात्मा या ब्रह्म से अभिन्न ही है। और इसीलिए उसके लिए अमृतत्व का मार्ग यही है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने। इस सम्बन्ध में नी वचन भी ध्यान से देखने योग्य हैं :

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
(कठोप० २।१।

अर्थात्, मन से ही, विचार-पुरस्सर ही, यह समझ लेना चाहिए कि इस वि (अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में) नानात्व, अनेकपना, द्वैतभाव बिलकुल नहीं जो इस सम्बन्ध में नानात्व जैसी स्थिति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठोप० २।२

अर्थात्, जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (पदार्थ) में तद्रूप हो उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक अन्तरात्मा प्रत्येक रूप (प्राणी) में तद्रूप हो है, और उससे बाहर भी है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठोप० २।२।

१. दे० कठोप० १।२।१८–२३; १।३।१-२,१५; २।१।५–९; २।२।८ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जो एक वशी (सबको अपने अधीन रखनेवाला) सब भूतों का अन्तरात्मा अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है, उस सर्वभूतों के अन्तरात्मा को जो बुद्धिमान् लोग अपने में स्थित देखते हैं, उन्हींको शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
(कठोप० १।३।१५)

अर्थात्, जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और गन्धरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) से परे और ध्रुव है, उस (आत्मतत्त्व) को जानकर (मनुष्य) मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

उक्त श्रुतियों को ध्यान से पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि यद्यपि आपाततः आत्मा और परमात्मा में भेद है तो भी वास्तविक दृष्टि में दोनों अभिन्न हैं।

प्राचीन उपनिषदों में ऐसी ही स्थिति मुण्डकोपनिषद् की प्रतीत होती है। उसमें जहाँ एक ओर जीवात्मा और परमात्मा के भेद की प्रतिपादक श्रुतियाँ दी हुई हैं वहाँ अन्त में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ, नीचे की श्रुतियों को देखिए :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[1]
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
(मु० उ० ३।१।१-२)

अर्थात्, साथ-साथ रहनेवाले दो पक्षी मित्ररूप से एक ही वृक्ष को परिष्वक्त किये हुए हैं। उनमें से एक (= जीवात्मा) पीपल (फल) को स्वाद के साथ खाता है, दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता है।

एक ही वृक्ष पर आसक्ति के साथ रहता हुआ जीव शक्तिहीनता से मोह को प्राप्त होकर शोक करता है। (पर) जब वह अपने से भिन्न आनन्दस्वरूप ईश (= परमेश्वर) को (और) उसकी महिमा को देख लेता है, (तब वह) शोकरहित हो जाता है।

उक्त श्रुतियों में जीवात्मा और परमात्मा में भेद बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः इन्हीं दो प्रमाणों को मुख्यरूप से द्वैत-सिद्धान्त को माननेवाले उद्धृत करते हैं।

परन्तु उपर्युक्त श्रुतियों के साथ इसी उपनिषद् के निम्न-निर्दिष्ट वचनों को देखिए :

[1] यह श्रुति ऋग्वेद १।१६४।२० से ली गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

(मु० उ० २।२।११)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

(मु० उ० २।१।१)

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

(मु० उ० ३।२।९)

अर्थात्, वह अविनाशी ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं और बायीं ओर है। (ब्रह्म ही) उपर और नीचे फैला हुआ है। यह विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

सो यह सत्य है जैसे सुदीप्त अग्नि से समान रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही, हे सोम्य !, अविनाशी (ब्रह्म) से अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और वे (पुनः) उसीमें लीन हो जाते हैं।

जो कोई उस परब्रह्म को वस्तुतः जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

इन श्रुतियों से यही प्रतीत होता है कि कठोपनिषद् की तरह मुण्डकोपनिषद् भी वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा के अद्वैत सिद्धान्त को ही मानती है।

उक्त मान्यता में दूसरी उपनिषदों के प्रकृत विषय के प्रतिपादनों से और पुष्टि मिलती है। उदाहरणार्थ नीचे की श्रुतियों को देखिए :

"तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।
अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।"

(बृ० उ० २।५।१९)

अर्थात्, सो यह ब्रह्म कारण-कार्य भाव से पृथक् है। उसकी सर्वत्र अबाध सत्ता है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। इतना ही (सब उपनिषदों का) उपदेश है।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेद्
अहं ब्रह्मास्मीति"

(बृ० उ० १।४।१०)

अर्थात्, यह (विश्व) प्रारम्भ में ब्रह्म ही था। उसने (आत्मा) अपने को "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जाना।

"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः"

(बृ० उ० ३।४।१)

अर्थात्, जो प्रत्यक्षरूप में अनुभव में आनेवाला साक्षात् ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म"

(मा० उ० २)

अर्थात्, यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म है।

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

(छा० उ० ६।८।७)

अर्थात्, वह जो यह अणिमा (सबका मूल कारण) है, तद्रूप ही यह सब कुछ है। वही सत्य है। वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! तू वही है।

"आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति"

(छा० उ० ७।२५।२)

अर्थात्, आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है, आत्मा ही यह सब कुछ है।

इस श्रुति के साथ मुण्डकोपनिषद् (२।२।११) से ऊपर दी हुई श्रुति की तुलना कीजिए। उसमें ब्रह्म का वर्णन आत्मा के इस वर्णन के बिलकुल समान है।

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति"

(छा० उ० ४।१५।१)

अर्थात्, उस (आचार्य सत्यकाम) ने (उपकोसल से) कहा—आँख में जो यह पुरुष (=व्यक्तित्व) दिखाई देता है, यह आत्मा है। यह अमृत (=अविनाशी) और अभय है। यही ब्रह्म है।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।"

(छा० उ० ८।१४।१)

अर्थात्, आकाश ही नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है। वे (नाम और रूप) जिसके अन्दर हैं वह ब्रह्म है। वह अमृत (=अविनाशी) है। वही आत्मा है।

"एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म"

(छा० उ० ३।१४।४)

अर्थात्, मेरे हृदय में जो यह आत्मा है यही ब्रह्म है।

ऊपर दी हुई श्रुतियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों की परमार्थ दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अद्वैत सिद्धान्त ही मान्य है।[१]

---

[१] वेदान्त के ग्रन्थों में अद्वैत के प्रतिपादक जो चार महावाक्य माने जाते हैं, वे ये हैं :—"अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० उ० १।४।१०); "अयमात्मा ब्रह्म" (मा० उ० २; बृ० उ० २।५।१९); "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८-१६); "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह भी ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के ऊपर दिये हुए उद्धरण प्रा लम्बे-लम्बे प्रतिपादनों के अन्त में दिये गये हैं। उन प्रतिपादनों में उपनिषदों अपनी पद्धति में प्रायः अनेक युक्तियों द्वारा अद्वैत सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है।

यह ठीक है कि कठोपनिषद् आदि में, जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, प्रतिपादन मिलते हैं जिनमें जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर भेद अथवा द्वैत तया दिखलायी देता है। पर उपनिषदों की समष्ट्यात्मक साक्ष्य को देखते हुए प्रतिपादनों को केवल व्यावहारिक दृष्टि-मूलक ही मानना चाहिए। व्यावहारिक द्वै वस्था अद्वैतावस्था की विरोधिनी न होकर उसकी सहायक ही है। उपनिषदों उपासनाएँ प्रायः द्वैतवाद को ही लेकर चलती हैं। पर उनका परम लक्ष्य बहुत क परमार्थ अद्वैतावस्था की प्राप्ति ही होता है। इसी बात को ईशावास्योपनिषद् में प्रकार कहा गया है :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोप० ६,

अर्थात्, जो समस्त भूतों को आत्मा (अपने) में ही देखता है और सब भूतों (एक ही) आत्मा को देखता है, वह इस (आत्मज्ञान) के कारण किसीसे नहीं करता। जिस अवस्था में ज्ञानी के लिए सब भूत आत्म-स्वरूप ही हो गये, अवस्था में सर्वत्र एकत्व देखनेवाले के लिए मोह और शोक कहाँ रह जाते अर्थात् कहीं नहीं।

यह एकात्म- (अद्वैत-) दृष्टि ही वास्तव में उपनिषदों का परम लक्ष्य है।

---

१. आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में द्वैत-अद्वैत का विचार हमें तो विचित्र-सा लगता है। यावद् प्रपञ्च आत्मा का 'विषय' है; आत्मा 'विषयी' है। विषयातीत ब्रह्मन् आत्मा का 'विष यह बात ही नहीं बनती। ब्रह्म का 'अनुभव' आत्मा अपने में ही कर सकता है, अपने से नहीं। इसलिए 'ज्ञानी अत्यन्त शान्ति को या अमृतत्व को पा लेता है' या 'वह ब्रह्म को प्रा लेता है या ब्रह्म ही बन जाता है' इन कथनों का एक ही अर्थ है। इसीलिए गीता में प्राप्ति के अर्थ में ही 'ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति' का प्रयोग किया गया है। ऐसी अवस्था में भव की दृष्टि से यदि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया जाय तो हम अपने शब्दों में यहाँ तक सकते हैं कि "भूमा ब्रह्म परा शान्तिः साम्यावस्थैकतानता। सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थ इमे॥" (जीवनज्योतिः १६।१३)। इस विचार में द्वैत-अद्वैत का प्रश्न ही नहीं रह जाता अथवा यों भी कह सकते हैं कि जैसे सिद्धान्त-स्वरूप सत्य के साथ आत्मा का अद्वैत हो सकता है, ऐसे ही "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१) इस श्रुति के अनुसार, सत्य-स्व अथवा ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म के साथ आत्मा का अद्वैत ही हो सकता है, द्वैत नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त

भारतीय संस्कृति का सारा प्रासाद पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त का ही विकसित रूप है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रारम्भ या विकास कब और कैसे हुआ? सहसा इसका उत्तर देना कठिन है। जैन और बौद्ध धर्मों में इस सिद्धान्त का प्रारम्भ से ही अस्तित्व सर्व-विदित है। वैदिक धारा में, उसके प्रारम्भ में, उक्त सिद्धान्त, उस रूप में, जिसमें उसे अब समझा जाता है, था या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।[1] हमें तो ऐसा लगता है कि कम-से-कम कुछ वेद-मन्त्रों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का संकेत बहुत कुछ स्पष्ट दिखायी देता है।[2]

वैदिक धारा के अनन्तर जब हम उपनिषदों में आते हैं, वहाँ पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रायः अपने पूर्ण रूप में स्पष्ट दिखायी देता है।

औपनिषद धारा में मृत्यु की विभीषिका का उल्लेख हम परिच्छेद २ में कर चुके हैं। उसके साथ ही जब हम 'जो ब्रह्म में नानात्व देखता है वह मृत्यु के अनन्तर फिर मृत्यु को प्राप्त होता है'[3], 'वह जन्म और मृत्यु दोनों को पार कर जाता है'[4], 'वे जरा और मृत्यु को पुनः प्राप्त होते हैं'[5] जैसे वचनों को देखते हैं, उससे इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि उपनिषदों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है। वास्तव में उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य ही, उन्हीं के शब्दों में, यह है कि मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाकर अमृतत्व का मार्ग दिखलाया जाय।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रमाण उपनिषदों से उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे मृत्यु के पश्चात् अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म के सिद्धान्त की मान्यता सिद्ध हो जाती है।[6] परन्तु मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का गर्भ रूप में पुनर्जन्म तत्काल हो जाता है, अथवा लोक-लोकान्तरों में घूमने के बाद होता है, इस सम्बन्ध में एक

---

१. दे० *The Philosophy of the Upanishads*, by paul Deussen, पृ० ३१३-३३८; *Religion and Philosophy of the veda*, by A. B. Keith, पृ० ५७०-५८१; स्वामी दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पुनर्जन्म-विषय।

२. दे० "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (ऋग्० ४।२४।१)। तथा "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि" (ऋग्० ४।२७।१)। "असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्" (ऋग्० १०।५९।६)। "को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च" (ऋग्० १।२४।१)।

३. "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० उ० ४।४।१९ तथा कठोप० २।१।१०)।

४. "तरति जन्ममृत्यू" (कठोप० १।१।१७)।

५. "जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति" (मु० उ० १।२।७)।

६. दे० "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः" (कठोप० १।१।६)। "अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" (कठोप० १।२।६)। "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृ० उ० ४।४।२)। "यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (बृ० उ० ४।४।५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निश्चित मत उपनिषदों में नहीं मिलता।[1] साथ ही इस सम्बन्ध में उपनिषदों में दे देवयान और पितृयाण की चर्चा भी प्रायः आ जाती है। इस चर्चा से भी पुनर्जन्म के प्रश्न में कुछ और उलझन उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इन दोनों यानों (= मार्गों) के विषय में यहाँ कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

देवयान और पितृयाण

कई उपनिषदों में देवयान और पितृयाण इन दो मार्गों का उल्लेख आता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।१-२ और ४।१५।६) में देवयान के सम्बन्ध में कहा है कि पूर्वोक्त प्रकार से (अर्थात् छा० उ० ५।४—९ में बतलायी हुई) पञ्चाग्नि-विद्या को जो जानते हैं और अरण्य में जाकर श्रद्धा तप में रत रहते हैं वे मृत्यु के अनन्तर ज्योति को, ज्योति से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छह मासों को, उनसे संवत्सर को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते हुए चन्द्र को प्राप्त होकर, अन्त में ब्रह्मलोक को पहुँच जाते हैं। इसी को देवयान मार्ग कहा जाता है। इसी देवयान मार्ग को 'ब्रह्मपथ' भी कहते हैं। इस मार्ग से जानेवाले पुनः इस जन्म-मरण के संसार में लौटकर नहीं आते।[2]

पितृयाण के विषय में भी छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।३-८) का कहना है कि अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तथा अन्य सकाम पुण्य कर्म करते हुए जो ग्राम में रह कर ही उपासना करते हैं वे मृत्यु के अनन्तर धुएँ को, धुएँ से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छह मासों को प्राप्त होते हैं। इत्यादि क्रम से अन्त में चन्द्रमा को प्राप्त होकर वे वहाँ एक नियत काल तक रहते हैं। यही पितृयाण मार्ग है। फिर चन्द्रमा से उसी पूर्वोक्त मार्ग द्वारा वे इस लोक में लौटते हैं। लौटने वालों में जो इस लोक में पहले शुभाचरण वाले थे वे पुनः इस लोक में ब्राह्मण-, क्षत्रिय- या वैश्य-कुल में जन्म लेते हैं। जो अशुभाचरणवाले थे वे कुत्ता, सूकर या चाण्डाल की जैसी निन्दित योनि में जन्म लेते हैं। जो जीव उपर्युक्त दोनों मार्गों से नहीं जाते वे कीट-पतङ्ग आदि की क्षुद्र योनियों में ही जन्मते और मरते रहते हैं।[3]

---

१. दे० "तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसँहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसँहरति" (बृ० उ० ४।४।३) तथा छा० उ० ५।१०।३—८, जो नीचे तीसरे पाद-टिप्पण में उद्धृत है।

२. दे० "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य-माणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥ १ ॥ मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्स-रादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देव-यानः पन्था इति ॥ २ ॥" (छा० उ० ५।१०।१-२)। तथा "एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रति-पद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते" (छा० उ० ४।१५।६)।

३. दे० "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षम-परपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासाँस्तान् ···॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम्···॥ ४ ॥ तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते··· ॥ ५ ॥ ···तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लगभग इसी तरह का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।१५-१६) में आता है। प्रश्नोपनिषद् (१।९–१०) में देवयान और पितृयाण को ही क्रमशः उत्तरमार्ग और दक्षिणमार्ग अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग कहा गया है। भगवद्गीता में इनको क्रमशः शुक्लगति और कृष्णगति कहा गया है।[1]

उक्त दोनों मार्गों के सम्बन्ध में ऋग्वेद का निम्नस्थ मन्त्र प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है :

> द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥
>
> (ऋग्० १०।८८।१५)

अर्थात्, मैंने मरणशील मनुष्यों के लिए दो मार्गों को सुन रखा है। उनमें से एक का सम्बन्ध पितरों से और दूसरे का देवों से है। द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो भी गतिशील संसार है वह इन्हीं दो मार्गों से आता-जाता है।

प्रश्न यह है कि वास्तव में इन मार्गों से क्या अभिप्राय है और इन मार्गों के अर्चिः और धूम आदि जो विभाजक पद हैं उनका क्या अर्थ है। यह भी विचारणीय बात है कि इन मार्गों के मानने पर मृत्यु के अनन्तर ही जन्मान्तर लेने की मान्यता का (जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं) तथा 'सद्योमुक्ति' के सिद्धान्त का (जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे) विरोध स्पष्ट दिखायी देता है।

इत्यादि प्रश्नों के कारण उक्त दोनों यानों के स्वरूप को समझना एक गहन समस्या का रूप धारण कर लेता है। विद्वानों ने इन पर अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं।[2] फिर भी समस्या प्रायः जैसी की तैसी बनी हुई है।

हमारे मत में दोनों मार्गों को क्रमशः यदि मनुष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष और अपकर्ष की दृष्टि से प्रकाश और अप्रकाश (=अन्धकार) का मार्ग मान लें, और अर्चिः और धूम आदि पदों को उनके रूढ अर्थों में न लेकर यदि उक्त उत्कर्ष या

वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥ अथैतयोः पथोर्न कतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति···॥ ८ ॥" (छा० उ० ५।१०।३-८)।

१. दे० "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥" (गीता ८।२३-२६)। इस सम्बन्ध में भागवत २।२।३२ भी देखिए।

२. देखिए बाल गंगाधर तिलक, 'गीतारहस्य', हिन्दी अनुवाद (१९१९), पृ० २९५–२९८, ७३६-७३७।; 'कल्याण' का वेदान्ताङ्क, पृ० ३९६–४०६।; ब्रह्मसूत्र (४।२।१८-२१ तथा ४।३।१–६) पर शांकरभाष्य।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपकर्ष की अवस्थाओं का केवल पारिभाषिक प्रतीक मान लें, तो कदाचित् उनकी बुद्धिगम्य व्याख्या की जा सकती है।[1]

तो भी, उक्त ऋग्वेद के मन्त्र में 'अशृणवम्' (= मैंने सुन रखा है) शब्द ध्यान देने योग्य है। उक्त शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गों की मान्यता का आधार वास्तव में परम्पराप्राप्त प्राचीन विश्वास पर ही है। उसी परम्पराप्राप्त विश्वास के कारण भीष्मपितामह के सम्बन्ध में महाभारत (भीष्मपर्व १२०।५१-५३) में कहा गया है कि बाणों की शय्या पर सोते हुए भी उन्होंने तब तक अपने प्राणों को नहीं छोड़ा जब तक कि उत्तरायण का प्रारम्भ नहीं हो गया।

उक्त दोनों यानों के सम्बन्ध में और विशेष विचार को यहाँ अनावश्यक समझते हुए हम केवल दो बातों को कहना चाहते हैं।

प्रथम तो यह कि ऋग्वेद, उपनिषद्, महाभारत में भीष्मपितामह का इतिहास, गीता और ब्रह्मसूत्र में उक्त यानों के सम्बन्ध में जो कथन हैं उनकी एकवाक्यता की कठिनाइयों को देखते हुए हम बाल गंगाधर तिलक के इस मत से[2] अपने को प्रायः सहमत पाते हैं कि उक्त यानों में विश्वास की परम्परा का मूल उत्तरीय ध्रुव के समीप अथवा शीत-प्रधान प्रदेश में रहनेवाले प्राचीन आर्यों की कल्पना में होना चाहिए। शीत-प्रधान प्रदेश में स्वभावतः उत्तरायण काल की ही अधिक मान्यता रही होगी। इसीलिए वैदिक कर्मों का विधान भी अधिकतर उत्तरायण काल में ही परम्परया रखा गया है।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि आगे चलकर, धर्मशास्त्र के ग्रन्थों और वेदान्त-दर्शन से अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थों में[3] भी, जहाँ कर्मानुसार पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर बराबर बल दिया गया है, उक्त यानों की चर्चा प्रायः लुप्त हो जाती है। इसका कारण यही दीखता है कि उक्त दोनों यानों की मान्यता का मौलिक आधार इतना युक्ति और उपपत्ति पर नहीं था जितना एक परम्परागत विश्वास पर। तनिक विचार से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी भी व्यक्ति की मृत्यु का उत्तरायणकाल या दक्षिणायनकाल से आकस्मिक सम्बन्ध उसकी परलोक-गति का निर्णायक नहीं हो सकता।

---

१. एक महात्मा का कथन है कि देवयान और पितृयाण क्रमशः अन्तर्मुख दृष्टि (निष्काम कर्म, ज्ञानमार्ग, मोक्षप्राप्ति से संबद्ध) और बहिर्मुख दृष्टि (सकामकर्म, बन्ध, पुनः-पुनः जन्ममरण से सम्बद्ध) का संकेत करते हैं। एक में अखण्ड प्रकाश है, दूसरे में धुआँ जैसा धूमिल प्रकाश।

२. दे० गीतारहस्य (हिन्दी संस्करण, १९१९) पृ० २९६-२९७.

३. उदाहरणार्थ, दे० गौतमकृत न्यायसूत्र में प्रेत्यभाव-प्रकरण तथा न्यायसूत्र १।१।२ पर वात्स्यायन-भाष्य।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य : अमृतत्व की प्राप्ति[1]

मनुष्य का जीवन सर्वथा अपूर्ण है। वह मर्त्य अर्थात् मरणशील है। सारी भोग-सामग्री जो उसको प्राप्त है वह अस्थायी और नष्ट हो जानेवाली है। उसकी इन्द्रियाँ और शरीर जिनसे वह विषयों का उपभोग करता है क्रमशः क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं।[2] कामनाओं में उसे सुख मिलता है, पर उनका लक्ष्य प्रायः विनश्वर-शील विषयोपभोग के पदार्थ ही होते हैं। फिर उनकी सिद्धि भी सदा निश्चित नहीं होती। उसके इष्ट-मित्रों में भी, सौहार्द और स्नेह के रहने पर भी, यदा-कदा वियोग आदि का दुःख उठाना ही पड़ता है। जीवन की इस विषम परिस्थिति में वह विचारता हुआ इसी परिणाम पर पहुँचता है —

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" (कठोप० १।१।२७)

"न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।" (कठोप० १।२।१०)

अर्थात्, मनुष्य की वास्तविक तृप्ति धनादि लौकिक पदार्थों से नहीं हो सकती। जीवन का जो ध्रुव अथवा नित्य लक्ष्य है उसकी प्राप्ति नष्ट हो जानेवाले लौकिक पदार्थों से होना असंभव है।

इसी पृष्ठ-भूमि में मनुष्य ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जो अमृत हो, शाश्वत हो। इसी स्थिति को उपनिषदों में अमृतत्व कहा गया है।

उपनिषदों के शब्दों में ही अमृतत्व के स्वरूप का प्रतिपादन हम इस प्रकार कर सकते हैं :

"(देवं मत्वा धीरो) हर्षशोकौ जहाति" (कठोप० १।२।१२)।

"यस्माद् भूयो न जायते" (कठोप० १।३।८)।

"तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठोप० १।३।९)।

"(पुरुषान्न परं किंचित्) सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठोप० १।३।११)।

"(निचाय्य तन्) मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" (कठोप० १।३।१५)।

"तदानन्त्याय कल्पते" (कठोप० १।३।१७)।

"शाश्वतं सुखम्" (कठोप० २।२।१२)।

"शान्तिः शाश्वती" (कठोप० २।२।१३)।

"अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठोप० ३।३।१४)।

"यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति" (कठोप० ३।३।१५)।

---

१. अमृतत्व के सम्बन्ध में परिच्छेद १० भी देखिए।

२. तु० "श्वोभावा मर्त्यस्य···सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" (कठोप० १।१।२६)। "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः" (कठोप० १।१।६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति"

(प्रश्नोप० ५।७)।

"...ब्रह्मैव भवति...तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति"

(मु० उ० ३।२।९)।

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० उ० २।२३।१)।

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति...
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्...
एतावदरे खल्वमृतत्वम्"

(बृ० उ० ४।५।१५)।

"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति"

(बृ० उ० ४।५।३)।

अर्थात्, अमृतत्व प्राप्त कर लेने पर हर्ष और शोक नहीं रहते। तदनन्तर जन्म नहीं होता। उसको परमात्मा का परमपद कहना चाहिए। वह उत्कर्ष की सीमा और अन्तिम अवस्था है। उसको पाकर मृत्यु के मुख से छूट जाता है। अमृतत्व की अवस्था सदा रहती है। उसको शाश्वत सुख और शाश्वत शान्ति समझना चाहिए। अमृतत्व की प्राप्ति और ब्रह्म-प्राप्ति एक ही बात है। अमृतत्व की प्राप्ति से हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं; नष्ट हो जाती हैं। अमृतत्व की अवस्था को शान्त, अजर, अमृत, अभय और परमोत्कृष्ट समझना चाहिए। जो अमृतत्व को प्राप्त होता है वह ब्रह्म ही हो जाता है, शोक और पाप को पार कर जाता है, हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है। ब्रह्म में संस्थित ही अमृतत्व को प्राप्त करता है। द्वैतावस्था में एक दूसरे को देखता है, जब किसीके प्रति सब कुछ आत्मा ही हो गया तब किसके द्वारा किसे देखे, इसी अवस्था का नाम अमृतत्व है। धनादि बाह्य पदार्थों से अमृतत्व-प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

अमृतत्व के सम्बन्ध में ऐसे ही विचारों से उपनिषदें परिपूर्ण हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि उपनिषदों के अनुसार अमृतत्व का स्वरूप भावात्मक है। वह शान्त अजर, अमर, शाश्वत और अनन्त है; सब प्रकार के क्लेशों से परे है और आनन्द रूप ब्रह्म के साथ अद्वैत की अवस्था है। हृदय की सब ग्रन्थियों से, उलझनों से, विषमताओं से ऊपर उठकर नितरां सौषम्य और साम्य या सामञ्जस्य की अवस्था है।[1]

अतः वह आनन्त्य से युक्त अर्थात् अनन्त है। उसका अन्त नहीं होता। ब्रह्म से अद्वैत हो जाने का यही अर्थ है। इसीलिए उस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य फिर जन्म-मरण के संसार को नहीं प्राप्त होता है, ऐसा उपनिषदों में स्पष्टतः कहा गया है।[2]

---

१. देखिए—"भूमा ब्रह्म परा शान्तिः सौषम्यमेकतानता। सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तरा इमे।" (जीवनज्योतिः १६।१३)।

२. दे० "न च पुनरावर्त्तते" (छा० उ० ८।१५।१)। "तेषां न पुनरावृत्तिः" (बृ० उ० ६।२।१५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अमृतत्व-प्राप्ति के प्रकार : क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति और जीवन्मुक्ति

ऊपर अमृतत्व-प्राप्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, उसके लिए वेदान्त के ग्रन्थों में मोक्ष या मुक्ति शब्द ही अधिक प्रचलित हैं। उक्त ग्रन्थों की ऐसी मान्यता है कि मुक्ति के प्रकार तीन हैं—क्रम-मुक्ति (अथवा विदेह-मुक्ति), सद्यो-मुक्ति और जीवन्मुक्ति। ऊपर देवयान-मार्ग का वर्णन हम कर चुके हैं। देवयान-मार्ग से जाने में अर्चिरादि के क्रम से जाते-जाते अन्त में मोक्ष-प्राप्ति होती है, इसलिए इस मार्ग को "क्रम-मुक्ति' कहते हैं। इस मान्यता में देह-पात के अनन्तर उपर्युक्त क्रम से ही ब्रह्म-लोक की प्राप्ति से मुक्ति होती है, इसलिए इसे 'विदेह-मुक्ति' भी कहते हैं।

परन्तु उपनिषदों में उपर्युक्त प्रकार के अतिरिक्त ऐसा भी कथन मिलता है कि ठीक-ठीक ब्रह्म-ज्ञान के हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति के लिए पुरुष को किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं होती। उसको यहीं ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है। यही 'सद्यो मुक्ति' है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित श्रुतियों को देखिए :

"योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"

(बृ० उ० ४।४।६)

अर्थात्, जो पुरुष अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। स्वयं ब्रह्मरूप होता हुआ वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९)

अर्थात्, जिसने ब्रह्म को पहचान लिया, वह तो यहीं का यहीं ब्रह्म हो जाता है।

वास्तव में देखा जाय तो उपनिषदों के जो अधिक प्रतिपादन हैं उनके अनुसार, सद्योमुक्ति का सिद्धान्त ही अधिक युक्तियुक्त है। क्रममुक्ति के आधारभूत देवयान-मार्ग की मान्यता में जो त्रुटि है उसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं।

परन्तु मृत्यु के बाद ही मुक्ति होती है इस मान्यता के अतिरिक्त भी, पूर्ण ब्रह्मज्ञानी को तो देह-पात से प्रथम इसी जीवन में यथार्थ में ब्रह्म-संस्थ होने की अवस्था प्राप्त हो जानी चाहिए। उसकी मुक्ति तो जीते जी हो जाती है, यही मानना चाहिए। इसीलिए पीछे से स्पष्ट शब्दों में 'जीवन्मुक्ति' के प्रकार को भी वेदान्त में मानना पड़ा है।[1] गीता में इसीको 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है, इसका प्रतिपादन हम परिच्छेद १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') में करेंगे। इसका संकेत उपनिषदों में भी कई स्थानों पर किया गया है; जैसे :

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः"

(केनोप० २।५)

१. दे० पञ्चदशी २।१०२–१०३। विवेकचूडामणि ४२६–४४५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, यदि वास्तविक तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार इसी जीवन में हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बड़ी आपत्ति है।

परिच्छेद ९ ('औपनिषद धारा का स्वरूप') के अन्त में तथा परिच्छेद १० ('औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास') में 'संन्यास की प्रवृत्ति' इस शीर्षक में हमने दिखलाया है कि जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार इसी जीवन में होना चाहिए। ब्रह्म और अमृतत्व की प्राप्ति वास्तव में यही है। उपनिषत्काल में तत्त्वज्ञानियों की यही धारणा थी। 'मरने के अनन्तर अमृतत्व या ब्रह्म की प्राप्ति होती है' इस भावना का, जो प्रायः पीछे से चल पड़ी, कोई अर्थ नहीं है।

अमृतत्व-प्राप्ति के आदर्श को अपने जीवन में उतारना और उस प्रसाद का लोककल्याण के लिए संसार में वितरण, हमारी समझ में, औपनिषद धारा की दृष्टि से, यही जीवन का परम लक्ष्य है। हमारे मत में उपनिषदों का इसी दृष्टि से पठन और अनुशीलन करना चाहिए।

अमृतत्व-प्राप्ति के साधन : श्रद्धा, तप और ब्रह्मचर्य

परिच्छेद ९ के अन्त में और परिच्छेद ११ ('औपनिषद धारा की नैतिक दृष्टि') के प्रारम्भ में हम विशद रूप में दिखला चुके हैं कि उपर्युक्त अर्थों में जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, उपनिषदों के अनुसार, अनिवार्य आवश्यकता है— श्रद्धा, तपस् और ब्रह्मचर्य[1] की, अथवा सत्य, तपस् और ब्रह्मचर्य की[2]। दोनों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु० १९।३०) = सत्य की प्राप्ति श्रद्धा से ही होती है।

श्रद्धा का अर्थ है—लक्ष्य में एकान्त निष्ठा अथवा आस्था। इस आस्था की पुष्टि के लिए ही उपनिषदों में आध्यात्मिक तत्त्वों के विषय में बराबर श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता बतलायी गयी है।[3] परिच्छेद ९ में हम इनकी भी व्याख्या कर चुके हैं।

शान्तचित्तता, एकाग्रचित्तता तथा छल-कपट का अभाव

इस प्रसङ्ग में कठोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् में यह भी बलपूर्वक कहा है कि 'जो दुश्चरित से विरत नहीं है, जो शान्त और एकाग्र-चित्त नहीं है, जिसका मन असंयत है, वह केवल ज्ञान-मात्र से, बुद्धिवाद से, अपने विशुद्ध स्वरूप को अथवा

---

१. दे० "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ"; "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्य…" (प्रश्नोप० १।२, १०)। "स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति" (प्रश्नोप० ५।३)।

२. देखिए—प्रश्नोप० १।१५-१६।

३. दे० बृ० उ० २।४।५; ४।५।६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता"[1]। अथवा 'यह निर्मल ब्रह्म-लोक उन्हीं के लिए प्राप्य होता है जो कुटिलता, अनृत और छल-कपट से दूर हैं'।[2]

वैराग्य की भावना

आध्यात्मिक मार्ग में वैराग्य की एकान्त आवश्यकता है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या हम परिच्छेद ९ में कर चुके हैं। वहाँ हमने वैराग्य के दो भेद बतलाये हैं—मूढ वैराग्य और सात्त्विक वैराग्य। यहाँ स्मरण रखने की बात है कि जहाँ सात्त्विक वैराग्य के बिना आध्यात्मिक जीवन की यात्रा शुरू ही नहीं हो सकती, वहाँ मूढ वैराग्य न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु राष्ट्रीय जीवन के लिए भी, सर्वनाश करने-वाला सिद्ध होता है। औपनिषद धारा के ह्रास अथवा शैथिल्य में मूढ वैराग्य की भावना ने बड़ा भाग लिया है, यह हम अपने अन्तिम परिच्छेद में दिखलायेंगे।

जगन्मिथ्यात्व-भावना से अनर्थ

उत्तरकालीन वेदान्त के ग्रन्थों में, विशेषतः शंकराचार्य के मायावाद के सिद्धान्त से प्रभावित वेदान्त में, जगन्मिथ्यात्व-भावना पर बड़ा बल दिया गया है और वैराग्य-भावना के दृढीकरण के लिए इसे आवश्यक समझा गया है।[3]

इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पहले मनुष्य को तत्संबन्धी पदार्थों के महत्त्वामहत्त्व का ज्ञान अथवा उनका अपेक्षाकृत मूल्यांकन आवश्यक होता है। इसीलिए आध्यात्मिक ग्रन्थों में नित्यानित्य-वस्तुविवेक को आवश्यक समझा जाता है। कठोपनिषद् में प्रेय और श्रेय मार्गों का जो विवेचन किया गया है, वह भी इसी दृष्टि से है।

परन्तु इस विचार में 'मिथ्या' और 'माया' शब्दों का प्रयोग बड़ा अनर्थकर सिद्ध हुआ है। हमारा निश्चित मत है कि इन शब्दों के व्यवहार ने और इनके पीछे जो विचारधारा रही है उसने व्यक्तियों के तथा राष्ट्र के भी जीवन में इधर शताब्दियों से प्रमाद, अकर्मण्यता, सत्त्वहीनता, निठल्लापन आदि आदि अक्षम्य तथा अत्यन्त निन्दनीय दोषों को जन्म दिया है और उनको बढ़ाया है।

यह उल्लेखनीय बात है कि 'जीवन या यह संसार मायामय या मिथ्या है' इस सिद्धान्त का नाममात्र का उल्लेख भी प्राचीन उपनिषदों में कहीं नहीं मिलता है;

---

1. दे० "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।" (कठोप० १।२।२४)।
2. दे० "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति" (प्रश्नोप० १।१६)।
3. देखिए—"माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम्। असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकातुल्यम् ॥", "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" (विवेकचूडामणि १२५, ४०६)। "अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन्। असद्रूपो यथा स्वप्नः" (अपरोक्षानुभूति ५६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ तक कि 'माया' और 'मिथ्या' इन शब्दों का प्रयोग भी उक्त अभिप्राय से कहीं नहीं हुआ है।

यही नहीं, बृहदारण्यकोपनिषद्[1] (२।१।२०) में तो स्पष्ट शब्दों में सब लोकों, सब भूतों को, सत्य और परमसत्य कहा है।[2]

यह स्पष्ट है कि जिस जगत् में रहकर हम अपने जीवन की यात्रा करते हैं, वह जगत् हमारे व्यक्तित्व के समान ही सत्य है। दोनों की सत्यता एक जैसी है।

ब्रह्म से जगत् की सृष्टि

तैत्तिरीयोपनिषद् (३।१) की श्रुति है :

> "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
> यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।"

अर्थात्, जिससे ये सब भूत पैदा होते हैं। पैदा होने पर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं और फिर जिसमें चले जाते हैं, प्रविष्ट हो जाते हैं, उसीको जानने की तुम इच्छा करो। वही ब्रह्म है।

अभिप्राय यही है कि विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को आकस्मिक मानने के स्थान में, यही ठीक प्रतीत होता है कि इनके मूल में एक परमतत्त्व को माना जाय। उसीको उपनिषदें ब्रह्म यह नाम देती हैं।

प्रश्न होता है कि उससे जगत् की सृष्टि आदि कैसे होती है? इसका उत्तर उपनिषदें यही देती हैं :

> यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
> यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
> यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
> तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥
> (मु० उ० १।१।७)

> यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
> ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
> (तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
> परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥)
> (मु० उ० ३।२।८)

---

१. दे० "अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्—सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यम्। तेषामेष सत्यम्।" (बृ० उ० २।१।२०)।

२. छा० उ० (६।१।१) में "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि प्रकरण में तथा ऐसे ही अन्य स्थलों में, यद्यपि प्रतिपादन के ढंग से जगन्मिथ्यात्व की ध्वनि निकल सकती है, तो भी वहाँ मौलिक तत्त्व ब्रह्म के प्रतिपादन का ही अभिप्राय है, जगन्मिथ्यात्व का नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, जैसे मकड़ी जाले को बनाती और फिर निगल जाती है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अक्षर ब्रह्म से यह विश्व उत्पन्न होता है।

जैसे बराबर बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, (वैसे ही विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है)।

अभिप्राय यह है कि जैसे लौकिक घटादि पदार्थों की उत्पत्ति में उपादान-कारण (मिट्टी आदि) और निमित्त-कारण (कुम्हार आदि) भिन्न-भिन्न होते हैं (इसीको 'भिन्ननिमित्तोपादान-कारणवाद' कहते हैं), उस तरह की बात ब्रह्म के साथ विश्व की नहीं है। ब्रह्म इस जगत् का निमित्त-कारण भी है और उपादान-कारण भी (इसीको 'अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणवाद' कहते हैं)।

ऐसा क्यों है? इसका उत्तर ब्रह्म के स्वरूप में ही निहित है। जैसा ऊपर बतलाया है, ब्रह्म सर्व-गुणातीत अनन्त शाश्वत परमतत्त्व है। सब सम्बन्धों से वह अतीत है और वह उनके मूल में भी है। अतः यावद्विश्व का सम्बन्ध उसके साथ ऐसा ही हो सकता है, जैसा ऊपर की श्रुतियों में वर्णित है।

इसी विचार को हम अपने शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं :

यदेतदमृतं किञ्चिद् विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम्।
सर्वेषामपि भावानामन्ततः सारमुत्तमम्॥
यदाश्रित्यैव वर्तन्ते सम्बन्धा विश्वविस्तृताः।
जडचेतनयोर्वापि चेतनानां परस्परम्॥
प्रेमरूपेण बध्नाति सत्यरूपेण वा पुनः।
अथवाकर्षणेनैव तत्तद् वस्तु परस्परम्॥
आनन्दघनमद्वैतं जगतः प्रभवाप्ययम्।
जीवनस्य परं स्रोतस्तदहं नित्यमाश्रये॥

(जीवनज्योतिः १६।१०१,१०३-१०४, १०६)

अर्थात्,

जो कोई अमृत तत्त्व
विश्व में व्याप्त होकर व्यवस्थित है;
जो अन्ततः
समस्त पदार्थों का उत्कृष्ट सार है;
जड और चेतन के
अथवा चेतनों के ही परस्पर
विश्व-विस्तृत यावत् सम्बन्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसके आश्रय से ही वर्तमान हैं;
जो प्रेम-रूप में अथवा सत्य के रूप में
अथवा भौतिक आकर्षण द्वारा
तत्तद् वस्तु को
परस्पर बाँध रहा है;
जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का मूल
जीवन का स्रोतःस्वरूप
उस आनन्दघन, अद्वैत, परमतत्त्व का
मैं सदैव आश्रय लेता हूँ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चौदहवाँ परिच्छेद

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र

'औपनिषद धारा की साहित्यिक भूमिका' (परिच्छेद १) के प्रसङ्ग में हमने कहा है कि औपनिषद धारा के प्रधान साहित्य को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं: **उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र** (या वेदान्त-सूत्र) और **भगवद्गीता**। वेदान्त की परम्परा में इन तीनों भागों को इकट्ठा करके **प्रस्थानत्रय** अथवा **प्रस्थानत्रयी** भी कहा जाता है; उपनिषदों को **श्रुति-प्रस्थान**, ब्रह्मसूत्र को **न्याय-प्रस्थान** और भगवद्गीता को **स्मृति-प्रस्थान** समझा जाता है।

उक्त प्रसङ्ग में ही प्रस्थान-त्रयी का और तदन्तर्गत ब्रह्मसूत्र के महत्त्व और प्रतिपाद्य विषय का भी सामान्य परिचय हम दे चुके हैं।

इस परिच्छेद में हम ब्रह्मसूत्र-विषयक विशेष परिचय देने के साथ-साथ उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र के पारस्परिक सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते हैं।

ब्रह्मसूत्र का विषय, प्रयोजन और महत्त्व

विषय और प्रयोजन

ब्रह्मसूत्र के विषय और प्रयोजन को स्वयं सूत्रकार ने प्रथम चार सूत्रों में स्पष्ट कर दिया है। वे चारों सूत्र, जो वेदान्त की अध्ययनाध्यापन-परम्परा में **'चतुःसूत्री'** इस नाम से प्रसिद्ध हैं, ये हैं:

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१)

अर्थात्, अब यहाँ से ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा का प्रारम्भ किया जाता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के और ब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञातव्य है उसके प्रतिपादन के लिए इस शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है।

ब्रह्म का लक्षण क्या है? इसका उत्तर दूसरे सूत्र में दिया गया है:

जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२)

अर्थात्, इस जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय जिससे होते हैं, वही ब्रह्म है।

इस जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय जिससे होते हैं वह ब्रह्म ही क्यों है अथवा उसको ब्रह्म ही क्यों कहा या माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है:

शास्त्रयोनित्वात् (ब्र० सू० १।१।३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, शास्त्र अर्थात् उपनिषदों के आधार पर या प्रमाण से उसको ब्रह्म ही मानना चाहिए।

यहाँ प्रश्न होता है कि उपनिषदों में तो जगत् के जन्म आदि का मूल कारण कहीं ब्रह्म, कहीं कुछ और, बतलाया गया है, तब उसको ब्रह्म ही कैसे माना जा सकता है?

इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है :

तत्तु समन्वयात् (ब्र० सू० १।१।४)

अर्थात्, उपनिषदों में जगत् के जन्म आदि के कारण के सम्बन्ध में जो आपाततः विभिन्न प्रतिपादन उपलब्ध होते हैं उनके समन्वय से ब्रह्म को ही कारण मानना चाहिए।

उक्त चारों सूत्रों से यह स्पष्ट है कि सूत्रकार के अनुसार ब्रह्म-विषयक सिद्धान्त का मूल स्रोत उपनिषद् हैं। पर उपनिषदों में जगत् के कारण के सम्बन्ध में आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन देखने में आते हैं। इसलिए उन प्रतिपादनों में परस्पर समन्वय या एकवाक्यता स्थापन करके यह दिखलाना, कि उन सबका तात्पर्य वास्तव में ब्रह्म में ही है, आवश्यक हो जाता है। यही ब्रह्मसूत्र का मुख्य विषय और प्रयोजन है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म-सूत्र की रचना, जैसा कि हम प्रथम परिच्छेद में बतला चुके हैं, उपनिषदों में विभिन्न रूपों में प्रतिपादित आध्यात्मिक विचारों की अन्ततोगत्वा केवल ब्रह्म में संगति दिखाने के अभिप्राय से की गयी है। इसी प्रसङ्ग में ब्रह्मचिन्तन या ब्रह्म-विद्या से सम्बद्ध, उपनिषदों में ही उल्लिखित, अन्य आवश्यक विषयों का विचार भी ब्रह्मसूत्र में किया गया है। साथ ही स्वाभिमत सिद्धान्त से विरुद्ध (सांख्य, न्याय, पाशुपत, बौद्ध आदि) मतों का खण्डन भी किया गया है।

प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों को क्रमशः 'समन्वय-अध्याय', 'विरोध-परिहार-अध्याय', 'साधन-अध्याय' और 'फल-अध्याय' ये जो नाम दिये जाते हैं उनका उल्लेख भी हम प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

ब्रह्मसूत्र की आधारभूत उपनिषदें

ऊपर ब्रह्मसूत्र के तृतीय सूत्र ("शास्त्रयोनित्वात्") की व्याख्या करते हुए हमने कहा है कि शास्त्र अर्थात् उपनिषदों के आधार पर जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का मूल कारण ब्रह्म ही मानना चाहिए। यहाँ 'शास्त्र' से उपनिषद् का अभिप्राय इसलिए लिया गया है, क्योंकि प्रारम्भ से ही ब्रह्मसूत्र के भाष्यों और व्याख्याओं की परम्परा में उपनिषद्-गत वचनों पर ही विचार किया जाता रहा है और उन्हीं में परस्पर समन्वय दिखलाया गया है।[1] दूसरे शब्दों में, यही माना जाता रहा है कि जैसे

१. इधर आधुनिक काल में ब्रह्मसूत्र की एक-दो व्याख्याएँ ऐसी भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें उपनिषद्-वाक्यों के स्थान में वैदिक मन्त्रों का ही विचार किया गया है। इसी परिच्छेद में आगे चलकर हमने उनका उल्लेख किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीमांसा का सम्बन्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों से है, उसी तरह ब्रह्मसूत्र का सम्बन्ध निषदों से है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त स्थिति में वे कौन-सी उपनिषदें हैं जिन पर सूत्र आधृत है। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि उपनिषद् नाम से प्रचलित ग्रन्थों संख्या २०० से अधिक है। उनमें से जो प्राचीनतम हैं या जिनको वास्तव में उपनिषद् कहना चाहिए उनकी संख्या, विभिन्न विद्वानों के अनुसार, लगभग ,१५ से अधिक नहीं है। ब्रह्मसूत्र के विभिन्न भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में जिन-उपनिषदों को उद्धृत किया है उनकी संख्या में अन्तर है।[1] ऐसी स्थिति में उक्त का एकान्ततः निश्चित उत्तर देना कठिन है। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है और धानापेक्ष है। तो भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि, माण्डूक्य को कर, 'ईशा' आदि प्राचीन उपनिषदों को तथा कौषीतकि जैसे केवल एक-दो अन्य निषदों को भी आधार मानकर ब्रह्मसूत्र की रचना की गयी है।[2]

महत्त्व

ब्रह्मसूत्र के महत्त्व के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। तीय दर्शन में वेदान्त-दर्शन के अप्रतिम महत्त्व को प्रायः सब ही स्वीकार करते । दार्शनिक चिन्तन की पराकाष्ठा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, दोनों ही बातें महत्त्व के मूल में हैं। दार्शनिक भूमिका में वेदान्त-दर्शन का आकर-ग्रन्थ रायण आचार्य का ब्रह्मसूत्र ही है। इसलिए उसका विशेष महत्त्व स्पष्ट है।

इसीलिए वेदान्त से सम्बद्ध विभिन्न अवान्तर दार्शनिक विचारों और सांप्रदायिक ों को लेकर जितने भाष्य-, व्याख्या-, टीका- और प्रटीका-रूप ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र भी साक्षात् अथवा परम्परया उस पर लिखे गये हैं उतने कदाचित् ही किसी ग्रन्थ पर लिखे गये होंगे।

वास्तव में उपनिषदों की खान में जो अमूल्य दार्शनिक रत्न उपलभ्य थे उनको निकालकर और सुगठित व्यवस्थित रूप देकर उनके द्वारा वेदान्त-दर्शन का प्रासाद खड़ा करने का श्रेय ब्रह्मसूत्र को ही है।

---

१. दे० *The Principal Upanisads, by Dr. Radhakrishnan*, भूमिका, पृ० २१. डा० राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य में (माण्डूक्य को छोड़कर) 'ईशा' आदि प्राचीन उपनिषदों के साथ-साथ श्वेताश्वतर-, कौषितकि-, जाबाल-, महानारायण- और पैङ्गल-उपनिषदों का भी उल्लेख किया गया है। उन्हीं के अनुसार ब्रह्मसूत्र-रामानुज-भाष्य में उक्त सब उपनिषदों के साथ-साथ मैत्रायणीय-, सुबाल-, चूलिक-, गर्भ- और महा-उपनिषदों का भी उल्लेख किया गया है।

२. दे० *The Philosophy of the Upanisads, by Dr. P. Deussen*, (इंग्लिश अनुवाद), पृ० २६–३०. इस सम्बन्ध में डा० रामकृष्ण आचार्य का 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' (पृ० १२७–१३६) भी विशेषतः द्रष्टव्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हुए आध्यात्मिक विचारों को सूक्ष्मेक्षिका से एकत्रित करके उनको एक व्यवस्थित रूप में रखना कोई साधारण कार्य नहीं था। फिर उन विचारों के सम्बन्ध में जो भी जिज्ञासा हो सकती है या उन पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं उनका हृदयंगम समाधान करना भी आवश्यक था। यह सारा अद्भुत कार्य चार अध्यायों में (अथवा प्रत्येक अध्याय के चार-चार पादों के क्रम से सोलह पादों में) विभक्त, केवल लगभग ५५०[1] संक्षिप्त सूत्रों के छोटे से ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र ने सम्पन्न किया है।

ब्रह्मसूत्र का दुर्बल पक्ष

ऊपर हमने ब्रह्मसूत्र का महत्त्व दिखलाया है; परन्तु उसके साथ-साथ ब्रह्मसूत्र का दुर्बल पक्ष भी है। उसको दिखलाये बिना न तो हम उसका ठीक-ठीक स्वरूप ही समझ सकते हैं, न उसकी देन तथा साक्ष्य का मूल्यांकन कर सकते हैं।

स्पष्टतया ब्रह्मसूत्र एक ऐसे समय की रचना है जब कि न केवल उपनिषदों में आपाततः प्रतीयमान विरोधों में एकवाक्यता या सामञ्जस्य की स्थापना आवश्यक हो गयी थी, प्रत्युत उपनिषदों के अन्तर्गत अनेकानेक कथनों की मौलिक सिद्धान्त दृष्टि का प्रतिपादन भी अपेक्षित हो गया था। साथ ही परम्परागत (जैसे सांख्य का सिद्धान्त) अथवा अन्तराल में उत्पन्न (बौद्ध आदि) अनेक विरुद्ध सिद्धान्तों का निराकरण और उनके साम्मुख्य में अपने सिद्धान्तों की स्थापना भी करनी थी। इन्हीं लक्ष्यों को सामने रखकर, जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, ब्रह्मसूत्र की रचना की गयी थी।

देखना चाहिए कि ब्रह्मसूत्र को इस ओर कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है।

दुरूह और संक्षिप्त शैली

संस्कृत-वाङ्मय में सूत्र-ग्रन्थों की दुरूह और संक्षिप्त शैली की जो असुविधाएँ हैं वे प्रसिद्ध हैं। उनसे ग्रन्थकार के अभिप्रेत अर्थ का समझना प्रायः अत्यन्त कठिन होता है। इस त्रुटि की पूर्ति उनकी प्रामाणिक व्याख्याओं अथवा वृत्तियों से होती रही है। हम तो ऐसा समझते हैं कि प्राचीनकाल से ही ऐसी परिपाटी रही है कि सूत्रकार या तो स्वयं अपने सूत्र-ग्रन्थ पर कोई वृत्ति या व्याख्या तैयार कर देते थे या अपने शिष्यों द्वारा तैयार करवा देते थे। नहीं तो किसी भी सूत्र-ग्रन्थ की परम्परा का चलना कठिन था।[2]

---

१. विभिन्न ब्रह्मसूत्र-भाष्यों में सूत्र-संख्या न्यूनाधिक है; उदाहरणार्थ, शांकर-भाष्य में ५५५; रामानुज-भाष्य में ५४५; निम्बार्क-भाष्य में ५४९; मध्व-भाष्य में ५६४; वल्लभ-भाष्य में ५५४। (दे० 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' पृ० ३५४)।

२. पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों को व्याकरण-महाभाष्य (२।१।१) में 'वृत्तिसूत्र' (तु० "न सूत्र वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति। किं तर्हि। वार्त्तिकवचनप्रामाण्यादिति") इसीलिए कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मसूत्र की शैली भी अत्यन्त दुरूह और संक्षिप्त है। आजकल जो भाष्य (शांकरभाष्य, रामानुज-भाष्य आदि) ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध हैं वे सूत्र-रचना-काल से बहुत पीछे के हैं। प्राचीनतर भाष्यों का उल्लेख मिलता है, पर वे चिरकाल से उपलब्ध नहीं है। शांकरभाष्य में[1] आचार्य उपवर्ष द्वारा रचित एक प्राचीन ब्रह्मसूत्र-वृत्ति का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार आचार्य रामानुज अपने ब्रह्म-सूत्र-भाष्य में स्पष्टतः कहते हैं कि उनके भाष्य का आधार पूर्वाचार्यों द्वारा संक्षिप्त की हुई भगवान् बोधायन की विस्तृत ब्रह्मसूत्र-वृत्ति ही है।[2]

बहुत संभव है कि ये दोनों वृत्तियाँ लगभग ब्रह्मसूत्र के काल की ही हों और इसीलिए उन वृत्तियों की प्रामाणिकता अत्यधिक रही हो। परन्तु दुर्भाग्य से दोनों चिरकाल से विलुप्त हैं।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि अब एकान्ततः निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों में से स्वयं भगवान् बादरायण को कौन-सा वेदान्त अभिमत था। किसी ग्रन्थकार का इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि उसीके ग्रन्थ से उसका अभिप्राय ज्ञात न हो सके।

स्पष्टतः इसका सारा उत्तरदायित्व ब्रह्मसूत्र की दुरूह संक्षिप्त शैली पर है।

इसीका यह खेदजनक परिणाम हुआ है कि आज चिरकाल से ब्रह्मसूत्र पर परस्पर विरुद्ध अर्थ करनेवाले अनेकानेक व्याख्या-ग्रन्थ पाये जाते हैं और अब भी बराबर लिखे जा रहे हैं।[3] उदाहरणार्थ, निम्नलिखित शंकरोत्तरकालीन प्राचीन भाष्य या व्याख्या-ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं :

भाष्यकार	भाष्य	सिद्धान्त
भास्कर (नवम शताब्दी ई०)	भास्करभाष्य	औपाधिकभेदाभेद
रामानुज (१०१७-११३७ ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
निम्बार्क (?)	वेदान्तपारिजातसौरभ	स्वाभाविकभेदाभेद
मध्व (११९७-१२७६ ई०)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
श्रीकण्ठ (१३वीं शताब्दी ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत

है कि प्रायः प्रारम्भ से ही उन सूत्रों के साथ कोई-न-कोई वृत्ति बराबर रही थी। इसी वृत्ति से 'वृत्तौ साधु वार्तिकम्' इस प्रकार 'वार्त्तिक' शब्द बना था। इसी प्रसंग में अष्टाध्यायी (१।१।७५) पर महाभाष्य और कैयट को देखिए।

1. दे० "अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः" (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य ३।३।५३)।

2. दे० "भगवद्-बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते" (ब्रह्मसूत्ररामानुजभाष्य की अवतरणिका)।

3. कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन परस्पर विरुद्ध अर्थ करनेवाली व्याख्याओं में सूत्रों और अधिकरणों की इयत्ता और संख्या दोनों में भी अन्तर पाया जाता है। साथ ही सूत्रों में क्रम-भेद और पाठ-भेद भी कभी-कभी देखा जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीपति (१४वीं शताब्दी ई०)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशेषाद्वैत
वल्लभ (जन्म १४७९ ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
विज्ञानभिक्षु (१७वीं शताब्दी ई०)	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
बलदेव (१८वीं शताब्दी ई०)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद[1]

इनके अतिरिक्त, आजकल भी विभिन्न दृष्टियों को लेकर अनेक नवीन भाष्य या व्याख्या-ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों पर लिखे जा रहे हैं। उदाहरणार्थ देखिए :

पञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य-कृत **ब्रह्मसूत्र-शक्तिभाष्य** (वनारस, शकाब्द १८५९)। इसमें शाक्तदर्शन की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की गयी है।

श्रीभगवदाचार्य-कृत **ब्रह्मसूत्र वैदिकभाष्य** (अलवर, १९४८)। इस भाष्य की विशेषता यह है कि इसमें औपनिषद वचनों के स्थान में वेद-मन्त्रों को उद्धृत करके उन पर विचार किया गया है।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का **ब्रह्ममुनिभाष्य** (होशियारपुर, १९५४)। इसमें जीव, ईश्वर तथा प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र पदार्थ मानकर सूत्रों की व्याख्या की गयी है।

पं० आर्यमुनि-कृत **वेदान्तार्यभाष्य** (लाहौर, द्वितीय संस्करण १९११)। ग्रन्थकर्ता के शब्दों में, वैदिक द्वैतवाद के मण्डनार्थ यह भाष्य लिखा गया है।

स्वामी हरिप्रसाद वैदिक मुनि की **वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्ति** (वम्बई, १९१४)। ग्रन्थकार के कथनानुसार वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर यह वृत्ति लिखी गयी है।

स्पष्टतया परस्पर-विरुद्ध अर्थ और दार्शनिक दृष्टि के प्रतिपादक ये सब भाष्य या व्याख्या-ग्रन्थ आचार्य बादरायण के अपने अभिमत अर्थ के अनुसार नहीं ही हो सकते। हम इस सारे व्यापार को ब्रह्मसूत्र के ग्रन्थकार के साथ घोर अन्याय ही कह सकते हैं, यद्यपि इसका अन्ततः उत्तरदायित्व, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, सूत्रों की अपनी दुरूह और संक्षिप्त शैली पर ही है।

हमारे विचार में अब भी ऐसे स्वतन्त्र भाष्य की आवश्यकता है जिसमें ब्रह्मसूत्र के आधार-भूत उपनिषदों के निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन के पश्चात्, किसी आग्रह और पक्षपात के बिना, सूत्रों की व्याख्या का मौलिक यत्न किया जाय।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव

ऊपर ब्रह्मसूत्र के विषय और प्रयोजन को दिखलाते हुए कहा गया है कि जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय जिससे होते हैं वह ब्रह्म है—इस मान्यता का आधार

१. उपर्युक्त भाष्यकारों के समय के सम्बन्ध में दे० डा० रामकृष्ण आचार्य : 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० २३-२४। साथ ही दे० म० म० गोपीनाथ कविराज : 'ब्रह्म-सूत्रशांकरभाष्य की भूमिका' (१९३६)।

२. उक्त दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयत्न के लिए दे० '*Critique of the Brahmasutra*,' by Dr. P. M. Modi.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

…त्व या उपनिषद् ही हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मसूत्र की दृष्टि में, ब्रह्म की मान्यता का …ख्य आधार श्रुति-रूप शब्द-प्रमाण पर है।

इसीलिए सांख्याभिमत प्रधान या प्रकृति को जगत् के जन्म आदि का कारण …मानने का बराबर एक हेतु यह बतलाया गया है कि प्रधान या प्रकृति 'अशब्द'[1] …है। अर्थात् प्रधान या प्रकृति की मान्यता के लिए कोई श्रुति या उपनिषदों का आधार …हीं है। इसीलिए प्रधान को सूत्रों में 'आनुमानिक' या 'अनुमान'[2] अर्थात् श्रुति-रूप …ब्द-प्रमाण से रहित, केवल अनुमान से सिद्ध, बतलाया गया है।

इस मान्यता में कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु साथ ही, ब्रह्म-सूत्र …का जो मुख्य लक्ष्य यह माना गया है कि उपनिषदों में जगत् के जन्म आदि के ब्रह्म के …तिरिक्त जो भी कारण बतलाये गये हैं उन सबका समन्वय ब्रह्मवादिनी श्रुतियों के …थ दिखलाया जाय, वह आपत्ति का विषय हो सकता है।

उपर्युक्त समन्वय की उपयुक्तता या आवश्यकता तभी यथार्थ हो सकती है जब …के ब्रह्मसूत्र की आधारभूत सब उपनिषदों को अपौरुषेय, नित्य या केवल एक-ईश्वर-…र्तृक मान लिया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ऐसा ही मानते हैं।[3]

परन्तु कोई भी विद्वान् जो उन उपनिषदों को ध्यान से पढ़ेगा, उनको अपौरुषेय, …त्य अथवा एककर्तृक मानना तो दूर रहा, उनको एक काल की रचना भी नहीं …न सकता। पिछले परिच्छेदों से यह अच्छी तरह स्पष्ट है।

ऐसी स्थिति में विभिन्न-कर्तृक और विभिन्नकालिक उपनिषदों के कथनों में …मन्वय या एकवाक्यता की युक्तियुक्तता कहाँ तक हो सकती है ?[4]

इसलिए विभिन्न-कर्तृक और विभिन्न-कालिक उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों में, …नो शपथ-पूर्वक, ऐकान्तिक एकवाक्यता के स्थापन का प्रयत्न ऐतिहासिक दृष्टि के …भाव का ही द्योतक है।

इस सम्बन्ध में, अनेक उदाहरणों में से, एक विशेष उदाहरण देखिए :

ब्रह्मसूत्र से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रकार के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि …ख्याभिमत प्रधान या प्रकृति के सिद्धान्त को श्रुति-विरुद्ध सिद्ध करके ब्रह्म के सिद्धान्त

---

1. तु० "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५)। "नानुमानमतच्छब्दात्" (ब्र० सू० १।३।३)।
2. दे० "कामाच्च नानुमानापेक्षा" (ब्र० सू० १।१।१८)। "आनुमानिकमप्येकेषाम्" (ब्र० सू० १।४।१)।
3. तु० "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य……सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म", "शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते" (ब्र० सू० शांकरभाष्य १।१।३)। "इदं वेदान्तवाक्यानाम् ऐदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तम्" (ब्र० सू० शांकरभाष्य २।२।१)। "श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थ-विज्ञानोत्पत्तौ" (ब्र० सू० शांकरभाष्य २।३।१)।
4. तु० बाल गंगाधर तिलक का 'गीतारहस्य' (हिन्दी अनुवाद १९१९), पृ० ३४४-३४५, ३५१ (पृ० ३५१ : "उनके—उपनिषदों के—कहनेवाले ऋषि अनेक हैं। इस कारण उनके विचार संकीर्ण और कुछ स्थानों में परस्पर विरुद्ध भी देख पड़ते हैं")। इसी प्रकार पृ० ७८३ भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को ही श्रुतिसंमत सिद्ध किया जाय। परन्तु कठोपनिषद् (१।३।११)[1] में सांख्याभिमत 'महत्' और 'अव्यक्त' (=प्रकृति) का उल्लेख आता है। इससे ये सांख्यीय पदार्थ भी श्रुतिसंमत हो जाते हैं। इस आपत्ति के निवारणार्थ ब्रह्मसूत्रकार ने एक पूरे अधिकरण (ब्र० सू० १।४।१-७)[2] में प्रयत्न किया है। इस अधिकरण में मुख्यतया बलात् यह सिद्ध किया गया है कि उक्त श्रुति में 'महत्' और 'अव्यक्त' शब्दों का प्रयोग सांख्यीय अर्थों में न होकर दूसरे ही अर्थों में किया गया है।

स्पष्टतया यह सारा प्रयत्न उपहासास्पद है। वस्तु-स्थिति तो यही है कि कठोप- निषद् में सांख्य और योग का पुट स्पष्टतया दीखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कोई असंभावित बात भी नहीं है। उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतरोपनिषद् में यही बात और भी अधिक स्पष्टतया दिखायी देती है।

इसी प्रकार के और भी अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; पर ब्रह्मसूत्र की रचना में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है,[3] इस बात को दिखाने के लिए यह एक उदाहरण पर्याप्त है।

वास्तव में ब्रह्मसूत्र का प्रायः समस्त वातावरण शब्द-प्रमाण-मूलक है। उपनिषदों में उनकी ऐतिहासिकता के अनेकानेक प्रमाणों[4] के स्पष्ट होने पर भी, ब्र

---

१. "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" (कठोप० १।३।११)।

२. दे० "आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च" (ब्र० सू० १।४।१) इत्यादि।

३. प्राचीन ग्रन्थकारों में ऐतिहासिक दृष्टि के न होने के उपहासास्पद उदाहरण प्रायः देखे जा हैं। उदाहरणार्थ देखिए :

"ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम्। सत्य मेवमेतत्। अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम्" (ब्र० सू० शांकरभाष्य ३।४।१८)। वास्तव में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान यह देना चाहिए था कि ब्रह्मसूत्र की रचना के समय तक जाबालों की श्रुति उपलब्ध ही नहीं थी। इसीलिए ब्र० सू० १।२।३२ आदि के भाष्य में जाबालो- निषद् का उद्धरण भी ठीक नहीं है।

तथा "यदुक्तम्—ऋषिं प्रसूतं कपिलम् (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।२)—इति कपिलस्या तया संकीर्तनात्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यवस्थापनं न्याय्यम्—इति। तदसत्, बृहस्पते श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतिशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन संकीर्तनात् तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्य व्यवस्थापनप्रसक्तेः। (ब्रह्मसूत्ररामानुजभाष्य २।१।१)। इस समाधान में भी देवगुरु बृहस्पति के साथ लोकायत-शास्त्र के प्रवर्तक बृहस्पति की अभिन्नता की भावना में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव स्पष्ट है।

माधवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध "शङ्करदिग्विजय" में बाण, मयूर, दण्डी, अभिनवगुप्त तथा श्रीहर्ष शंकराचार्य के समकालीन माने गये हैं।

४. तु० "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३)। इसीलिए ब्रह्मसूत्र में तर्क को अप्रतिष्ठित कहते हुए उसमें स्पष्टतः अनास्था प्रकट की गयी है; देखिए—"तर्काप्रतिष्ठानात्" (ब्र० सू० २।१।११)।

५. उपनिषदों के प्रतिपादनों में दृष्टियों का भेद प्रसिद्ध है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकार को उनके समन्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूत्रकार उन प्रमाणों पर दृष्टि डालने को भी तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र के प्रतिपादनों में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव बिलकुल स्वाभाविक ही है।

ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की पृष्ठभूमियों में अन्तर

परिच्छेद १ में हम कह चुके हैं कि इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र से हमारा वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक उससे हमें सांस्कृतिक दृष्टि से औपनिषद धारा के स्वरूप और विकास के समझने में सहायता मिल सकती है।

प्रथम इसके कि उपर्युक्त दृष्टि से हम ब्रह्मसूत्र पर विचार करें, यह आवश्यक है कि ब्रह्म-सूत्र और प्राचीन उपनिषदों की पृष्ठभूमियों पर विचार कर लिया जाय।

उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र पर तुलनात्मक दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के कालों में और अतएव पृष्ठभूमियों में महान् अन्तर है।

श्रुति और स्मृति

ब्रह्मसूत्र के शब्दों में ही उपनिषद् 'श्रुति' हैं।[1] ब्रह्मसूत्र उनके लिए 'प्रत्यक्ष' इस पारिभाषिक शब्द का भी प्रयोग करता है; जब कि उपनिषदों के साम्मुख्य में ब्रह्मसूत्र स्वयं 'स्मृति' अथवा 'अनुमान' कोटि की रचना है।[2] प्रत्यक्ष के पीछे जैसे अनुमान चलता है, इसी तरह स्मृति श्रुति की अनुगामिनी होती है।[3]

हमारे मत में श्रुति को 'प्रत्यक्ष' कहने के मूल में यही भावना थी कि श्रुति-प्रतिपादित अर्थ वास्तव में 'साक्षात्कृत'[4] होना चाहिए, जब कि स्मृति को अनुमान (जैसा कि ब्रह्मसूत्र में प्रायः देखा जाता है) इसलिए कहा गया है कि वह श्रुति-प्रतिपादित अर्थ पर (अथवा केवल तर्क पर) निर्भर मानी जाती है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि यद्यपि प्राचीन उपनिषदों में श्रुति और स्मृति ये दोनों शब्द नहीं आये हैं, स्वयं ब्रह्मसूत्र श्रुति और स्मृति दोनों का प्रामाण्य

का भार उठाना पड़ा है। इसके अतिरिक्त, वैदेह जनक, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेतकेतु, काशिराज अजातशत्रु, केकयदेशाधिपति अश्वपति, पञ्चालदेशाधिपति प्रवाहण जैवलि आदि अनेकानेक ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख भी उपनिषदों में भरा पड़ा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२) 'पूर्वे विद्वांसः' का उल्लेख करती है।

१. दे० ब्रह्मसूत्र (३।२।४) : "सूचकश्च 'हि' श्रुतेः"; (३।४।४६) : "श्रुतेश्च"।

२. दे० ब्र० सू० (३।२।२४) : "......प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (जिसकी व्याख्या शांकरभाष्य ने की है : "श्रुतिस्मृतिभ्याम्")।

३. तु० "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" (रघुवंश २।२)।

४. तु० "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।" (निरुक्त १।२०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्धृत करता है।[१] अतः ब्रह्मसूत्र श्रुतिकाल के अनन्तर की रचना तो है ही; उसे स्मृतिकाल के प्रारम्भ की रचना भी नहीं माना जा सकता।[२]

ऊपर के विचार से स्पष्ट है कि प्राचीन उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र के कालों में और अतएव उनकी पृष्ठभूमियों में पर्याप्त अन्तर होना चाहिए।

ब्रह्मसूत्र की रचना का काल

ब्रह्मसूत्र की रचना का क्या काल है? इस विषय में विद्वानों ने विचार किया है। उस विचार को यहाँ प्रस्तुत करने की आवश्यकता हम नहीं समझते। इस सम्बन्ध में हमारी जो निश्चित धारणा है, उसका उल्लेख कर देना यहाँ पर्याप्त होगा।

व्याकरण-महाभाष्य (समय-लगभग १५० ई० पू०) में तीन स्थानों (४।१।१४; ४।१।९३; ४।३।१५५) पर यह कथन आया है: "काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।"

ब्रह्मसूत्र में एक बार (१।४।२२ में) काशकृत्स्न आचार्य का उल्लेख आया है।

ब्रह्मसूत्र की गणना उत्तरमीमांसा में और जैमिनिकृत **मीमांसासूत्र** की पूर्व-मीमांसा में की जाती है, यह प्रसिद्ध है। दोनों को पूर्व-तन्त्र और उत्तर-तन्त्र भी कहा जाता है। मीमांसा-शास्त्र में दोनों सम्मिलित समझे जाते हैं।

---

१. "श्रुतेश्च" (ब्र० सू० ३।४।४६) इत्यादि, तथा "स्मृतेश्च" (ब्र० सू० १।२।६; ४।३।११), "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्" (ब्र० सू० २।१।१) इत्यादि।

२. संस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रारम्भ में श्रुतिकाल और तदनन्तर स्मृतिकाल मानना आवश्यक है। मन्त्र, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों को, जिनको परम्परा 'अपौरुषेय' समझती है, सामान्य रूप से श्रुतिकालमें रखना चाहिए। श्रुतियों के आधार पर जिस वेदाङ्गादि साहित्य की रचना हुई, उसको प्राचीन काल में 'स्मृति' नाम दिया गया था। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण के हरिस्वामि-कृत भाष्य में निरुक्त और पाणिनीय अष्टाध्यायी को भी स्मृति-रूप से उद्धृत किया गया है (देखिए—छठी All India Oriental Conference की Report and Proccedings में डा० मङ्गलदेव शास्त्री का लेख: 'Harisvami—the Commentator of The Satapatha-Brahmana'। प्रायः इसी अभिप्राय से ब्रह्मसूत्र में भी, २।१।१ इत्यादि सूत्रों में, कपिलतन्त्र को स्मृति शब्द से कहा गया है (तु० "एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता···" ब्र० सू० शांकरभाष्य २।१।२)।

पीछे से शनैः-शनैः 'स्मृति' शब्द का व्यवहार केवल धर्मशास्त्र के लिए होने लगा। तु० मनुस्मृति २।१०: "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"।

ऐसा मानना होगा कि स्मृतिकाल वास्तव में 'समन्वय-काल' था। परम्परागत विचारों और मान्यताओं का समन्वय इस काल में किया गया और उनको व्यवस्थित रूप दिया गया। चातुराश्रम्य अथवा चतुःपुरुषार्थ जैसे विचार तथा अनेक पारिभाषिक शब्द प्रायेण इसी काल की देन हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि महाभाष्य के समय में काशकृत्स्नि आचार्य की मीमांसा ही पठन-पाठन में प्रचलित थी और तब तक जैमिनि का पूर्वमीमांसा-सूत्र तथा बादरायण का ब्रह्मसूत्र (=उत्तरमीमांसा-सूत्र) नहीं बने थे। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बादरि, बादरायण तथा जैमिनि के नामों का उल्लेख महाभाष्य तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी, गणपाठ आदि में कहीं भी नहीं मिलता। महाभाष्य का काशकृत्स्नि ब्रह्मसूत्र के काशकृत्स्न से ही अपत्यार्थ में बना है। 'काशकृत्स्न' यह नाम भी पाणिनीय अष्टाध्यायी के २।४।६९ के उपकादिगण में तथा ४।२।८० के अरीहणादिगण में पठित है। यह भी संभव है कि 'काशकृत्स्न' और 'काशकृत्स्नि' दोनों एक शब्द के ही दो रूप हों।

उक्त अवस्था में बादरायण आचार्य का ब्रह्मसूत्र निश्चित रूप से महाभाष्य-काल के पश्चात् बना है, यह कहा जा सकता है।[1] कुछ ऐसी धारणा प्रचलित है कि बादरायण और पराशर के पुत्र व्यास दोनों एक ही थे। इसीलिए भागवत (३।५।१९) में विदुर को 'बादरायणवीर्यज' बादरायण के वीर्य से उत्पन्न कहा गया है। पर उक्त धारणा अनैतिहासिक ही दीखती है।[2]

यह भी ध्यान देने की बात है कि श्रुति और स्मृति ये दोनों शब्द, जो ब्रह्मसूत्र में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं, प्रकृत अर्थ में व्याकरण-अष्टाध्यायी और महाभाष्य में नहीं आये हैं।

---

१. ब्रह्मसूत्र और वेदान्तदर्शन के इतिहास के सम्बन्ध में एक और बात विचारणीय है। यह निश्चित है कि सांख्य-दर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ सांख्य और योग का उल्लेख आता है, वहाँ वेदान्त का प्रायः नहीं आता। उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देशप्रकरण (१।२) में चार विद्याओं में एक आन्वीक्षिकी को मानकर उसके सम्बन्ध में कहा है: "सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी"। यहाँ सांख्य तथा योग का तो उल्लेख है, वेदान्तदर्शन का बिलकुल नहीं। महाभारत, पुराण, आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में भी सांख्य को प्रारम्भ से ही विशेष स्थान प्राप्त है। वास्तव में सांख्य की इसी परम्परा-प्राप्त मान्यता के कारण ब्रह्मसूत्र में उसको अमान्य सिद्ध करके वेदान्त-दर्शन की मान्यता की स्थापना के लिए घोर प्रयत्न करना पड़ा है। (तु० ब्र० सू० शांकरभाष्य १।४।२८ : "अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति") सांख्य का पुट यत्र-तत्र वैदिक वाङ्मय में भी मिलता है। कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो स्पष्ट ही है; विशेषतः देखिए: "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत्" (श्वे० उ० ५।२), "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्" (श्वे० उ० ६।१३)।

ब्रह्मसूत्र (२।२) में वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध सिद्धान्तों के खण्डन से भी उसके पर्याप्त उत्तरवर्ती होने पर प्रकाश पड़ता है।

२. इस सम्बन्ध में *Proccedings and Transactions of The Second Oriental Conference* (Calcutta), १९२३, के पृष्ठ ४६३–४७० पर श्री वी० वी० मिराशी का लेख देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुलनात्मक अध्ययन

ऊपर दिखलाये हुए विचारों की भूमिका के अनन्तर हम देखना चाहते हैं कि औपनिषद धारा के सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा है।

जहाँ तक दार्शनिक विचारों का सम्बन्ध है, सामान्यरूप से उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि का विचार हम परिच्छेद १३ में कर चुके हैं। इस क्षेत्र में, विशेषतः विचारणीय प्रश्नों के सम्बन्ध में, ब्रह्मसूत्र का कोई निश्चित मत प्रकट करना कठिन है, क्योंकि मौलिक दार्शनिक प्रश्नों के बारे में उसके विभिन्न व्याख्याकार स्वयं एकमत नहीं हैं।

इसलिए इस तुलनात्मक अध्ययन में हम उन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे जिनका सांस्कृतिक विकास से साक्षात् सम्बन्ध है और जिनके विषय में सामान्यतः सब व्याख्याकारों की एक-सी दृष्टि है।

सबसे प्रथम हम चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को ही लेते हैं :

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

इस प्रश्न पर हम परिच्छेद १२ में 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था' इस शीर्षक में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। वहाँ हमने उपनिषद्-गत कई उदाहरणों को देकर दिखलाया है कि औपनिषद धारा के काल में वर्ण-व्यवस्था में परम्परागत लचीलापन विद्यमान था। और उसमें उत्तरकालीन कठोर दृष्टि नहीं आ पायी थी।

उसी प्रसङ्ग में हमने जानश्रुति पौत्रायण और आचार्य रैक्व के उपाख्यान (छान्दोग्योपनिषद् ४।१-३) का उल्लेख करते हुए ब्रह्मसूत्र की वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में रूढिमूलक संकुचित दृष्टि का भी संकेत किया है।

ब्रह्मसूत्र की दृष्टि को यहाँ कुछ अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

आचार्य रैक्व ने जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र कहते हुए भी तात्त्विक ज्ञान का उपदेश दिया था। इससे सिद्ध होता है कि तात्त्विक ज्ञान में शूद्र को भी अधिकार है। इस पूर्वपक्ष को ध्यान में रखकर ब्रह्मसूत्र (१।३।३४-३८) में यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि जानश्रुति वास्तव में शूद्र न होकर क्षत्रिय ही था। और यह भी कि उपनिषद् में उसको शूद्र जाति के रूढ अर्थ में नहीं, किन्तु ('शूद्र' शब्द को शुच् धातु से र प्रत्यय लगाकर बना हुआ कह कर) 'शोक से खिन्न' इस यौगिक अर्थ में कहा गया है।

ब्रह्मसूत्रकार का यह समाधान अत्यन्त लचर है। क्योंकि 'शूद्र' जैसे रूढ शब्दों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का ऐसा यौगिक अर्थ करने की परिपाटी बिलकुल अनोखी बात-सी है। फिर 'शूद्र' शब्द का उक्त निर्वचन भी एक जबर्दस्ती ही है।[1]

दूसरा समाधान (ब्रह्मसूत्र १।३।३५) यह दिया गया है कि जानश्रुति को, उक्त श्रुति में ही अन्य क्षत्रिय (अभिप्रतारिन् चैत्ररथ) के साहचर्य के कारण, क्षत्रिय ही मानना चाहिए। यह समाधान भी दुर्बल है, क्योंकि उपनिषद् में जानश्रुति को स्पष्टतया शूद्र कहा गया है।

उक्त प्रकरण के अन्तिम सूत्र (**"श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च"** १।३।३८) में स्मृतिकालीन ग्रन्थों के साक्ष्य की दुहाई देते हुए यही सिद्ध किया गया है कि शूद्र को, तत्त्वज्ञानोपदेश तो दूर रहा, वेद के श्रवण और अध्ययन का भी अधिकार नहीं है।[2]

उक्त सारा प्रकरण स्पष्टतया प्रकट करता है कि ब्रह्मसूत्र और प्राचीन उपनिषदों की सामाजिक दृष्टियों में महान् अन्तर है और ब्रह्मसूत्र, प्राचीन उपनिषदों की उदार दृष्टि के स्थान में, स्मृतिकालीन संकुचित मनोवृत्ति से पूर्णतया प्रभावित है।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

परिच्छेद १२ ('औपनिषद धारा का सामाजिक पक्ष') में हम दिखला चुके हैं कि प्राचीन उपनिषदों के काल में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य के दो आश्रम तो अवश्य थे। वानप्रस्थ आश्रम का भी एक प्रकार से अस्तित्व था। पर संन्यास-आश्रम की प्रवृत्ति, औपनिषद धारा में प्रारम्भ से न होकर, पीछे से मुनि-संप्रदाय के प्रभाव से चल पड़ी थी।

यहाँ हम यह देखना चाहते हैं कि ब्रह्मसूत्र की दृष्टि संन्यासाश्रमके सम्बन्ध में क्या है।

---

1. ब्रह्मसूत्रकार 'शूद्र' शब्द को शुच् धातु से निकला हुआ कहते हैं। दे० ब्रह्मसूत्र-रामानुज-भाष्य (१.३।३३): "शोचतीति हि शूद्रः। शुचेर्दश्च (पञ्चपादी उणादिसूत्र, अजमेर संस्करण, २।१९) इति रप्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति।" परन्तु दशपादी उणादिसूत्र में "शदेरू च" (८।३४) के अनुसार शद् धातु से ऊ प्रत्यय करके 'शूद्र' शब्द बनाया गया है। पर हमें तो ऐसा लगता है कि ब्रह्मसूत्रकार के अनुसार 'शूद्र' शब्द शुच् धातु से र प्रत्यय लगाकर नहीं, किन्तु शुच् और द्रु धातुओं के योग से बना है (इस प्रसङ्ग में देखिए 'निरुक्त' १।१३ में शाकटायन का मत)।

2. ब्रह्मसूत्र के शांकर और रामानुज भाष्यों में जो स्मृतिकालीन प्रमाण यहाँ उद्धृत किये गये हैं, वे ये हैं: "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तसाच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"। "अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" (गौतम-धर्मसूत्र २।३।४), "न शूद्राय मतिं दद्याद्… न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" (मनु० ४।८०), इत्यादि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मसूत्र की विचारपद्धति में ऐतिहासिक दृष्टि को कोई स्थान नहीं है, यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र के सामने केवल यही मार्ग रह जाता है कि संन्यास-आश्रम के पक्ष और विपक्ष में जो प्रमाण या वचन प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं उनमें किसी प्रकार परस्पर समन्वय स्थापित किया जाय।

ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में और विशेषतः ३।४।१८–२० तथा ३।४।४७–४९ में इस प्रश्न पर विचार किया गया है।

यतः प्राचीन उपनिषदों के काल में ही पीछे से संन्यास की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो गया था और वह वृद्धयुन्मुख हो चली थी, स्वभावतः ब्रह्मसूत्र ने उसीको सिद्धान्त-रूप में दिखलाया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्मृतिकाल में पारिभाषिक 'आश्रम' शब्द के प्रवर्तन के साथ-साथ चातुराश्रम्य का सिद्धान्त भी मान लिया गया था।

ब्रह्मसूत्र के उक्त सारे विचार में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ पूर्व-मीमांसासूत्र के कर्ता आचार्य जैमिनि, जिनका आग्रह स्वभावतः वैदिक परम्परा की ओर था, (प्रायः उन्हीं प्रमाणों के आधार पर जिनको हम उद्धृत कर चुके हैं) संन्यासाश्रम की मान्यता का खण्डन करते हैं,[1] वहाँ आचार्य बादरायण का झुकाव संन्यासाश्रम के सिद्धान्त की पुष्टि की ओर है।

---

१. दे० ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य (३।४।२-७, १८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

उपनिषद् और भगवद्गीता

औपनिषद धारा से सम्बद्ध प्रस्थानत्रयी में भगवद्गीता को स्मृतिप्रस्थान कहा जाता है।

प्रथम इसके कि सांस्कृतिक दृष्टि से औपनिषद धारा के विकास में भगवद्गीता के स्थान और महत्त्व पर विचार किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि निम्न-निर्दिष्ट दो प्रश्नों पर विचार कर लिया जाय :

(१) प्राचीन उपनिषदों के साथ भगवद्गीता का सम्बन्ध;

(२) ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का पारस्परिक सम्बन्ध।

प्राचीन उपनिषदों के साथ गीता का सम्बन्ध

इस सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त प्रसिद्धि इस प्रकार है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात्, सब उपनिषद् मानो गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले हैं, अर्जुन वत्स (बछड़ा) है, बुद्धिमान् व्यक्ति भोक्ता (दूध का उपयोग करनेवाला) है और जो गीता का महान् अमृत-तुल्य उपदेश है वही उसका दुग्ध है।

यह पद्य गीताध्यान में पठित है। परन्तु वास्तव में इसका स्रोत क्या है और वह कितना प्राचीन है यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों बातों का पता लग जाने से गीता-विषयक ऐतिहासिक अनुसन्धान में कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है।

उक्त पद्य का आपाततः अभिप्राय यही समझा जाता है कि गीता की रचना मुख्यतः उपनिषदों के आधार पर की गयी है; दूसरे शब्दों में, गीता उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अर्थ या तत्त्व को ही कहती है। उसका अपना निजी या नवीन दृष्टि-कोण प्रायः नहीं के बराबर है। साधारण जनता की बात जाने दीजिए, पण्डितों में भी गीता के सम्बन्ध में प्रायः यही भावना व्याप्त है। प्रायः यही कहा जाता है कि उपनिषदों का भावार्थ सुगमता से समझाने के लिए ही गीता की रचना की गयी है।

आगे चलकर हम दिखलायेंगे कि वास्तव में ऐसी बात नहीं है और कई दृष्टियों से गीता का, उपनिषदों के अतिरिक्त, अपना भी दृष्टिकोण और महत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर प्रथम हम यही देखना चाहते हैं कि उक्त पद्य के अनुसार गीता कहाँ तक उपनिषदों पर आधृत है।

इसमें सन्देह नहीं कि गीता के अनेक वचन शब्दतः अथवा अर्थतः उपनिषदों पर आधृत हैं। साथ ही उसका अध्यात्म-ज्ञान भी बहुत अंशों में उपनिषदों के आधार पर स्थापित है।[1]

उदाहरणार्थ, गीता के निम्नस्थ वचन अक्षरशः अथवा कुछ शब्द-भेद से उपनिषदों पर आधृत हैं :

गीता के

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (२।१९)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (२।२०)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (२।२९)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (३।४२)

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ (८।११)

ये वचन स्पष्टतः कठोपनिषद् (१।२।१९; १।२।१८; १।२।७; १।३।१०; १।२।१५) पर आधृत हैं।[2]

इसी प्रकार गीता का

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ (१३।१४)

यह श्लोक तथा इसके आगे का श्लोकार्ध

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। (१३।१५)

---

१. गीतारहस्य (हिन्दी संस्करण १९१९) पृ० ५२५-५३१।

२. इसी प्रकार गीता की संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष की "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (१५।१-२) इत्यादि रूप में कल्पना का आधार कठोपनिषद् की "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः (२।३।१) इस श्रुति में उपलब्ध है। गीता के 'उत्तरायण' और 'दक्षिणायन' (८।२४-२५) मार्गों का विचार प्रश्नोपनिषद् (१।९-१०) आदि में उपलब्ध है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्यों के त्यों श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१६, १७) में (जो प्राचीन उपनिषदों में नहीं है) मिलते हैं और बहुत करके वहीं से लिये गये हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के साथ गीता का शब्दतः और अर्थतः सादृश्य और भी अनेक स्थलों में मिलता है[१]; जिसका विशेष महत्त्व हम गीता और ब्रह्मसूत्र के परस्पर सम्बन्ध के विषय में नीचे दिखलायेंगे।

ऊपर कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् के साथ, जो पद्यात्मक हैं, गीता के सम्बन्ध की बात कही गयी है। गद्यात्मक उपनिषदों के सम्बन्ध में गीतारहस्य का कहना यह है :

"गद्यात्मक उपनिषदों के वाक्यों को पद्यमय गीता में ज्यों का त्यों उद्धृत करना संभव नहीं; तथापि जिन्होंने छान्दोग्योपनिषद् आदि को पढ़ा है उनके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी कि "जो है सो है, और जो नहीं है सो नहीं" (गीता २।१६) तथा "यं यं वापि स्मरन् भावं" (गीता ८।६) इत्यादि विचार छान्दोग्योपनिषद् से लिये गये हैं; और "क्षीणे पुण्ये०" (गीता ९।२१), "ज्योतिषां ज्योतिः०" (गीता १३।१७) तथा "मात्रास्पर्शाः" (गीता २।१४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् से लिये गये हैं"। (गीतारहस्य पृ० ५२६)।

विशेषतः उल्लेखनीय बात यह है कि गीता के

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (२।४७)

इस सुप्रसिद्ध पद्य का तथा तद्द्वारा प्रतिपादित कर्म-विषयक सिद्धान्त का आधार ईशोपनिषद् के

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (२)

इस मन्त्र पर है।

ऊपर उपनिषदों के साथ गीता के शब्द-सादृश्य और अर्थ-सादृश्य को हमने दिखलाया है।

इसके साथ ही, गीता का अध्यात्म-ज्ञान भी बहुत-कुछ उपनिषदों के आधार पर स्थापित है।

---

१. तु० "श्वेताश्वतर-उपनिषद् की बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोक भी गीता में पाये जाते हैं। ....गीता के छठवें अध्याय में योगाभ्यास के लिए योग्य स्थल का जो यह वर्णन किया गया है—"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य०" (गीता ६।११) वह "समे शुचौ०" आदि (श्वे० उ० २।१०) मन्त्र से लिया गया है और "समं कायशिरोग्रीवं०" (गीता ३।१३) ये शब्द "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्" (श्वे० उ० २।८) इस मन्त्र से लिये गये हैं।" (गीतारहस्य पृ० ५२६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता के जो भी प्रधान प्रतिपादन हैं प्रायेण उन सबमें औपनिषद अध्यात्म-दृष्टि से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया गया दीखता है। उदाहरणार्थ, गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा का वर्णन, आठवें अध्याय में अक्षर-ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और तेरहवें अध्याय के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में ज्ञेय परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, ये सब वर्णन स्पष्टतः उपनिषदों के आधार पर ही दिये गये हैं।

गीता में यत्र-तत्र आनेवाली
"एषा ब्राह्मी स्थितिः" (२।७२), "ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" (२।७२), "सर्वगतं ब्रह्म" (३।१५), "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि" (५।१०), "स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति" (५।२४), "अक्षरं ब्रह्म परमम्" (८।३), "परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः" (८।२०), "अनादिमत्परं ब्रह्म" (१३।१२), "ब्रह्म संपद्यते," (१३।३१), "ब्रह्मभूयाय कल्पते" (१४।२६), "ब्रह्मभूयाय कल्पते" (१८।५३) जैसी शब्दावली और वाक्य उपनिषदों के अध्यात्म-ज्ञान के साथ गीता के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्टतया प्रकट करते हैं।

निःसन्देह उपनिषदों का अध्यात्म-ज्ञान भगवद्गीता को मान्य है और वह उसको एक प्रकार से आधार मानकर ही अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है।

गीता की स्वतंत्र स्थिति

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ कभी नहीं है कि गीता केवल उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व की ही व्याख्या करती है और उसका अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण कोई नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो यही प्रतीत होगा कि गीता का पारम्परिक आधार उपनिषदों की अपेक्षा सांख्यदर्शन पर अधिक है।

गीता में सांख्य का नाम्ना उल्लेख ही नहीं है, अपितु प्रकृति (अथवा अव्यक्त), सत्त्व-रजस्-तमस् रूप गुणत्रय, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार तथा क्षराक्षर-विचार जैसे सांख्यशास्त्रीय पदार्थों अथवा विषयों का उल्लेख अथवा प्रतिपादन भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दार्शनिक दृष्टि से गीता का मौलिक या पारम्परिक सम्बन्ध सांख्य से ही है और उसके साथ उपनिषदों के अध्यात्म-ज्ञान अथवा वेदान्त का मेल उतना घनिष्ठ नहीं है।

पिछले परिच्छेद में हम सांख्य-दर्शन की परम्परा की अत्यन्त प्राचीनता तथा व्यापकता का उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ इसी सम्बन्ध में महाभारत का निम्नस्थ उद्धरण हमारे उक्त विचार को और भी परिपुष्ट कर देता है :

महाभारत (शान्तिपर्व) में सांख्य की महिमा का, प्राचीनता और व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है :

'सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के समान दूसरा ज्ञान नहीं है।······ इसमें सन्देह नहीं कि सांख्यज्ञान का बड़ा महत्त्व है।······वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुराणों में, इतिहास में तथा अर्थशास्त्र आदि में (सृष्टि-रचना आदि के सम्बन्ध में) जो ज्ञान उपलब्ध है वह सब सांख्य से प्राप्त हुआ है।......यहाँ तक कि 'इस जगत् का सब ज्ञान सांख्यमूलक ही है।'[1] इत्यादि।

इसीलिए हम पिछले परिच्छेद में ही संकेत कर चुके हैं कि बहुत करके औपनिषद धारा से सांख्य-परम्परा प्राचीनतर है। इसीलिए औपनिषद विचारधारा की अपेक्षा सांख्य-दर्शन के साथ गीता का घनिष्ठतर सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि प्राचीन उपनिषदों में (कठोपनिषद् को छोड़कर) सांख्य-विचारधारा का कोई भी स्पष्ट संपर्क नहीं है। द्वितीय यह कि जहाँ ब्रह्मसूत्र मानो शपथ-पूर्वक सांख्य को उपनिषदों में कोई स्थान नहीं देता है, वहाँ गीता सांख्य की अपनी दृष्टि को बहुत कुछ रखते हुए ही उपनिषदों की अध्यात्म-दृष्टि को अपनाती है।

गीता की अन्य विशेषताएँ

उपनिषदों की अपेक्षा गीता के प्रतिपादन की जो महत्वपूर्ण अन्य विशेषताएँ हैं वे इस प्रकार हैं :

अनासक्त कर्मयोग

यद्यपि ईशावास्योपनिषद् (२ तथा ९-११) में, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, स्पष्टतः कर्तव्य-भावना से यावज्जीवन कर्म करने का विधान है और ज्ञान-कर्म-समुच्चय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, तो भी अधिकांश उपनिषदों का झुकाव क्रमशः कर्म-संन्यास और केवल ज्ञानमार्ग की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

उपनिषदों की क्रमशः बढ़ती हुई उक्त प्रवृत्ति के साम्मुख्य में गीता बलपूर्वक अनासक्त भाव से कर्मयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। साथ ही निष्क्रिय संन्यास का वह प्रबल विरोध करती है।[2] इस विषय में गीता का सिद्धान्त अधिकांश उपनिषदों के सिद्धान्तों से भिन्न है।

---

1. दे० "सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्। ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते॥ अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्।......ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे। यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥ यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृपशिष्टजुष्टे। ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन् महात्मन्॥" (महाभारत, शान्तिपर्व, ३०१।१००–१०१, १०८–१०९)।

2. दे० "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।", "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।" "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते" (गीता ३।१९–२०; १८।५, ७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भक्तियोग और कर्मफल का ईश्वरार्थ समर्पण

उपनिषदों की प्रवृत्ति ज्ञानमार्ग की ओर है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मभावना ही उसका लक्ष्य है। गीता में उपनिषदों का अक्षरब्रह्म प्रधानतया 'पुरुषोत्तम' के रूप में प्रतिपादित किया गया है, और उपनिषदों का चिन्तन यहाँ अनन्यगामिनी भक्ति का रूप धारण कर लेता है। यही नहीं, सात्त्विक भक्ति के परिपाक के रूप में गीता यह भी कहती है कि मनुष्य को कर्म, कर्तव्य-बुद्धि से ही नहीं, अपितु ईश्वरार्पण-बुद्धि से भी करना चाहिए।[1] इस प्रकार भक्तिवाद कर्तव्यबुद्धि की ही पराकाष्ठा बन जाता है।

अवतारवाद अथवा व्यक्तोपासना

उपनिषदों की अपेक्षा गीता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका अवतारवाद अथवा व्यक्तोपासना है। छान्दोग्य आदि उपनिषदों में निर्गुण परब्रह्म के साक्षात्कार या भावन के लिए उसके साधन-रूप में आकाश, आदित्य, अग्नि आदि सगुण प्रतीकों की उपासना का प्रतिपादन अवश्य किया गया है, परन्तु प्राचीन उपनिषदों में मनुष्य-देहधारी परमेश्वर के स्वरूप का प्रतीक कहीं भी नहीं बतलाया गया है। गीता स्पष्ट शब्दों में न केवल अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षरब्रह्म की उपासना को अत्यन्त क्लेशकर बतलाकर व्यक्तोपासना का प्रतिपादन करती है, अपितु अवतारवाद की स्थापना करती हुई एक प्रकार से उसके आधार पर ही भक्ति-मार्ग को खड़ा करती है।[2]

---

१. गीता के बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के "एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः (१)" इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् स्पष्टतः कहते हैं:

"...ये मां नित्ययुक्ता उपासते...ते मे युक्ततमा मताः॥" (२),
...ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।...
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।" (३, ५)।

साथ ही देखिए "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥", "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥" (गीता १५।१८-१९; ९।२७)।

२. दे० "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥" (गीता १२।३, ५-७)। तथा "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥" (गीता ४।७-८)। गीता का ग्यारहवाँ अध्याय विशेष रूप से भगवान् के व्यक्त रूप में भक्ति का समर्थन करता है; दे० "किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥" (गीता ११।४६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता का अपना वैशिष्ट्य

इस प्रकार उपनिषदों की अपेक्षा गीता का स्पष्टतः अपना वैशिष्ट्य है। वह अपनी दार्शनिक भूमिका में सांख्य-विचारधारा के साथ वेदान्त के अध्यात्मज्ञान को जोड़कर लक्ष्यप्राप्ति के साधन-पक्ष में ज्ञान-कर्म के समुच्चय के सिद्धान्त को मानती हुई निष्काम कर्ममार्ग का प्रतिपादन करती है। साथ ही वह वेदान्त के ब्रह्म को पुरुषोत्तम के रूप में सामने रखकर अनासक्त-बुद्धया किये गये कर्म का उस परम पुरुष के लिए समर्पण-बुद्धि अथवा अनन्य भक्तिभावना से किया जाना भी आवश्यक समझती है।

गीता और ब्रह्मसूत्र

औपनिषद धारा की प्रस्थानत्रयी का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उसमें गीता को **स्मृति-प्रस्थान** और ब्रह्मसूत्र को **न्याय-प्रस्थान** कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गीता और ब्रह्मसूत्र में परस्पर कैसा सम्बन्ध है।

साधारणतया यह माना जाता है कि उक्त दोनों प्रस्थानों में पहले गीता आती है और तदनन्तर ब्रह्मसूत्र का निर्माण हुआ। अतएव, यह कहा जाता है, ब्रह्मसूत्र में अनेकत्र जहाँ 'स्मृतेः', 'स्मर्यते' अथवा 'स्मरन्ति' जैसे पद आते हैं, वहाँ उनसे शंकर, रामानुज आदि प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार प्रायः गीता का ही अभिप्राय लिया जाता है। उदाहरणार्थ, नीचे दिये हुए सूत्रों में, उक्त भाष्यों के अनुसार, गीता का ही उल्लेख किया गया है :

ब्रह्मसूत्र		गीता
स्मृतेश्च (१।२।६)	(शांकरभाष्य)	ईश्वरः सर्वभूतानाम्०(१८।६१)
	(रामानुजभाष्य)	सर्वस्य चाहं हृदि० (१५।१५)
अपि च स्मर्यते (१।३।२३)	(शां० भा०)	न तद् भासयते सूर्यो०(१५।६)
	(रामा० भा०)	इदं ज्ञानमुपाश्रित्य० (१४।२)
अपि च स्मर्यते (२।३।४५)	(शां० तथा रामा० भाष्य)	ममैवांशो जीवलोके० (१५।७)
स्मरन्ति च (४।१।१०)	(शां० तथा रामा०भाष्य)	शुचौ देशे० (६।११)
योगिनः प्रति च स्मर्यते (४।२।२१)	(शां०तथा रामा०भाष्य)	यत्र काले त्वनावृत्तिम्० (८।२३)

परन्तु उपर्युक्त स्थापना के मान लेने पर एक बड़ी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। वह यह है कि गीता के तेरहवें अध्याय में गीता स्वयं **ब्रह्मसूत्र** का उल्लेख इस प्रकार करती है :

> ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
> ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ (१३।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार) का गान ऋषियों ने पृथक्-पृथक् अनेक प्रकार से विविध छन्दों द्वारा किया है; और हेतुओं से युक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक (अथवा निर्णयात्मक) ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी उसका विवेचन किया गया है।

इस पद्य में स्पष्टतः बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र का ही उल्लेख दिखायी देता है। इससे तो यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्मसूत्र गीता से पूर्ववर्ती है।

इस आपत्ति के वारण के लिए ही गीता के शांकर-भाष्य में उक्त श्लोक के "ब्रह्मसूत्रपद" की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

"ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि।
तैः पद्यते ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते।"

अर्थात्, श्रुतियों अथवा उपनिषदों के ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य।

स्पष्टतया यह शांकरभाष्य की क्लिष्ट कल्पना है। इस व्याख्या में 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' इन दो विशेषणों की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती; क्योंकि युक्तिपूर्वक निर्णय जैसे ब्रह्मसूत्र में किये गये हैं, वैसे उपनिषदों में नहीं।

इस व्याख्या की दुर्बलता के कारण ही रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि ने अपने-अपने गीता-भाष्य में "ब्रह्मसूत्रपदैः" इसका ऊपर दिया हुआ स्वाभाविक अर्थ ही किया है।

ऐसी अवस्था में गीता को ब्रह्मसूत्र से पूर्वकालीन मानने में उक्त आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने गीतारहस्य (पृ० ५३२-५३९) में इसका समाधान यह मानकर किया है कि महाभारत और गीता को उनका वर्तमान स्वरूप देनेवाले वही व्यक्ति (अर्थात् बादरायण आचार्य) थे जिन्होंने ब्रह्मसूत्र की रचना की है। उनका कहना है कि यह मानना चाहिए कि वर्तमान गीता से पहले उसका एक प्राचीन स्वरूप भी था। उस प्राचीन गीता का ही 'स्मृति' आदि शब्दों से ब्रह्मसूत्र में उल्लेख है। और वर्तमान गीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख भी ठीक है।

यद्यपि तिलक के उक्त समाधान से ऊपर दी हुई आपत्तियों का वारण हो जाता है, तो भी हमारे मत में केवल संभावना-मूलक उक्त समाधान की ऐकान्तिक आवश्यकता ही हो, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि :

प्रथम तो ब्रह्मसूत्र के ऊपर दिखलाये गये जैसे स्थलों में 'स्मृति' या 'स्मर्यते' जैसे पदों से गीता का ही उल्लेख है, यह मानना आवश्यक नहीं है। अन्यत्र कई जगह ऐसे ही पदों के प्रसङ्ग में शांकर-भाष्य आदि में दूसरे ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं; जैसे :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मसूत्र	उद्धृत वचन
स्मृतेश्च (४।३।११)	"ब्रह्मणा सह ते सर्वे" (शांकर - तथा रामानुज-भाष्य)। यह गीता से नहीं है।
स्मरन्ति च (२।३।४७)	उक्त दोनों भाष्यों में जो उद्धरण दिये हैं वे गीता से नहीं हैं।
स्मरन्ति च (३।१।१४) इत्यादि	यहाँ भी दोनों भाष्य गीता से उद्धरण नहीं देते हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्र के पूर्वोक्त स्थलों में भी गीता से ही उद्धरण दिये जायँ, यह आवश्यक नहीं है। पूर्वोक्त स्थलों में जो गीता से उद्धरण दिये गये हैं, वे भी सर्वत्र दोनों भाष्यों में समान नहीं हैं। स्पष्टतः उन उद्धरणों का दिया जाना किसी निश्चित परम्परा के आधार पर नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि 'स्मरन्ति' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१०) जैसे सूत्रों में किसी एक ही ग्रन्थ का उल्लेख अभिप्रेत हो, ऐसा नहीं है।

ऊपर दिखलाई हुई स्थिति में गीता को ब्रह्मसूत्र से पूर्वकाल की कृति मानने का कोई विशेष हेतु नहीं दीखता।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि सिद्धान्त-दृष्टि से ब्रह्मसूत्र किसी प्रकार भी गीता से प्रभावित नहीं दीखता। प्रत्युत जहाँ ब्रह्मसूत्र प्राचीन उपनिषदों में सांख्य-दृष्टि का नितरां अभाव मानता है और साथ ही सांख्य को 'अशब्द' अर्थात् अश्रुतिमूलक और अतएव अमान्य कहता है, वहाँ गीता औपनिषद अध्यात्मज्ञान के साथ, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, सांख्य-दृष्टि का समन्वय स्थापित करना चाहती है।[1]

किञ्च, जहाँ ब्रह्मसूत्र उपनिषदों में क्रमशः बढ़ती हुई कर्म-संन्यास तथा केवल ज्ञान-मार्ग की प्रवृत्तियों की ही पुष्टि करता है; वहाँ गीता न केवल कर्म-संन्यास का खण्डन ही करती है, अपितु ज्ञान-कर्म-समुच्चय के सिद्धान्त का समर्थन भी करती है।

अतः औपनिषद धारा के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी गीता की रचना ब्रह्मसूत्र के पश्चात् ही हुई, यही मानना चाहिए।[2]

हमें तो ऐसा लगता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद्, जिसमें कपिल और सांख्य के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख है, ब्रह्मसूत्र के बाद की रचना है; क्योंकि उक्त स्पष्ट उल्लेख के होने पर भी, उस पर ब्रह्मसूत्र ने कोई ध्यान नहीं दिया है। श्वेताश्वतरो-

---

१. गीता की एक मुख्य विशेषता उसकी समन्वयात्मक दृष्टि में है। उदाहरणार्थ, वह एक अद्भुत ढंग से औपनिषद अध्यात्म-ज्ञान के साथ सांख्य-दृष्टि का तथा ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के मार्गों का हृदयंगम समन्वय उपस्थित करती है।

२. ब्रह्मसूत्र और गीता में 'शास्त्र' जैसे शब्द के अर्थभेद में प्रयोग से तथा गीता के 'विभूतियोग' नामक दसवें अध्याय के पौराणिक वर्णनों से भी गीता स्पष्टतः ब्रह्मसूत्र के पश्चात् ही निर्मित हुई, ऐसा प्रतीत होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पनिषद् के विचारों और वचन का, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, गीता में उद्धरण है। अतः गीता का निर्माण श्वेताश्वतरोपनिषद् के पर्याप्त बाद का ही है।[1]

गीता की सांस्कृतिक दृष्टि

ऊपर हमने दिखलाया है कि यद्यपि गीता को परम्परया स्मृति-प्रस्थान के रूप में औपनिषद धारा या वेदान्त का ही एक अङ्ग माना जाता है, तो भी उसकी अपनी स्वतन्त्र स्थिति है। दूसरे शब्दों में, गीता औपनिषद धारा के अध्यात्म-ज्ञान को अपनाती हुई भी, कई बातों में, एक प्रकार से उपनिषदों से आगे बढ़कर, अपना स्वतन्त्र दृष्टि-कोण भी रखती है।

गीता की अपनी स्वतन्त्र स्थिति का प्रभाव सबसे अधिक उसकी सांस्कृतिक दृष्टि पर दिखाई देता है। इसीको हम यहाँ दिखलाना चाहते हैं।[2]

गीता की सांस्कृतिक दृष्टि को हम दो पक्षों में विभाजित कर सकते हैं : (१) प्रतिषेधात्मक और (२) विधेयात्मक।

प्रतिषेधात्मक पक्ष को हम मुख्यतया तीन बातों में दिखाना चाहते हैं—

(१) कामना-प्रधान तथा द्रव्यमयात्मक श्रौत (वैदिक) यज्ञों का विरोध;

(२) कर्म-संन्यास की प्रवृत्ति का विरोध; और

(३) घोर शारीरिक कष्ट के रूप में तप की प्रवृत्ति की भर्त्सना।

विधेयात्मक अथवा भावात्मक पक्ष के मुख्य उदाहरण ये हैं :

(१) अनासक्त बुद्धि से कर्तव्य कर्म करने का (ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक कर्म-योग का) विधान ;

(२) भक्ति-योग का समर्थन और अनासक्त- तथा कर्तव्य-बुद्धि से किये गये कर्म में यज्ञिय भावना द्वारा ईश्वरार्पण-बुद्धि की पुष्टि ;

---

१. गीता में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में कई बार (दे० गीता १३।२८; १५।१७; १८।६१) हुआ है। इससे भी गीता का समय स्पष्टतः श्वेताश्वतरोपनिषद् के पर्याप्त पीछे ही ठहरता है। इस सम्बन्ध में देखिए हमारा लेख—'History of the Word Isvara and its Idea' (Sarasvati Bhavana studies, Vol. X, 1938).

२. भगवद्गीता क्यों और कब लिखी गयी थी ? इस प्रश्न को हम यहाँ उठाना नहीं चाहते। परम्परया यही माना जाता है कि गीता का उपदेश महाभारत-युद्ध-क्षेत्र में हुआ था, जब कि युद्ध से उद्विग्न अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने अपने उपदेश द्वारा अध्यात्म-ज्ञान के आधार पर अपने कर्तव्य के रूप में युद्ध के लिए तैयार कर दिया था।

हम समझते हैं कि गीतोपदेश की यह कथा प्ररोचनार्थ आलंकारिक भी हो सकती है। जो कुछ हो, भगवद्गीता में जिन विशेष बातों पर बल दिया गया है उनसे तो भारतवर्ष के इतिहास के किसी विशेषकाल की परिस्थिति की झलक ही उसमें दीखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल-विशेष की कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं जिनको गीता हटाना चाहती थी। गीता के इसी प्रयत्न में हमें उसकी उत्कृष्ट सांस्कृतिक दृष्टि परिलक्षित होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) कर्म करने में अन्तरवेक्षण द्वारा भाव-संशुद्धि पर बल ;
(४) आत्मा की अमरत्व-भावना द्वारा मृत्यु-बिभीषिका का निरास ;
(५) आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता पर बल; और
(६) जीवन के लिए भावात्मक लक्ष्य रूप ब्राह्मी-स्थिति का प्रतिपादन।

(१) कामनाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध

'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा' के परिच्छेद ११ (वैदिक धारा का ह्रास') में विस्तार के साथ हम दिखला चुके हैं कि वैदिक धारा के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब कि अपनी नैतिक भावना के ह्रास के कारण श्रौत (वैदिक) यज्ञों ने प्रायेण आदर्श-हीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लिया था। इसी कारण क्रमशः उस कर्मकाण्ड का विलोप हो गया।

साथ ही हम यह भी ऊपर दिखला चुके हैं कि वास्तव में आदर्शहीन कृत्रिम वैदिक कर्मकाण्ड की अत्यधिकता और तज्जनित धार्मिक और नैतिक वातावरण की तात्कालिक रिक्तता और शून्यता ने ही प्रथमतः औपनिषद धारा को जन्म दिया था। इसीलिए उपनिषदों में यत्र-तत्र उस कर्मकाण्ड के प्रति विरक्ति और भर्त्सना की भावना पायी जाती है; जैसे "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (मु० उ० १।२।७) अर्थात्, ये वैदिक यज्ञ अदृढ नौका के समान हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता।

वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति भगवद्गीता की उक्त विरोधभावना उपनिषदों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट और साथ ही उग्र भी है।

उदाहरणार्थ, शुष्क आदर्शहीन वैदिक कर्मकाण्ड को ही लक्ष्य में रखकर, वेदों के और वैदिक यज्ञों को करने-करानेवालों के विषय में कहे गये गीता के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
(गीता २।४२-४३)

अर्थात्, ... 'वैदिक वादों में विश्वास रखने वाले मूढ लोग ही, विभिन्न कामनाओं से प्रेरित होकर, ... भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए जटिल क्रिया-कलाप से संवलित, सुनने में रमणीय वैदिक मंत्रों का, उनका अर्थ समझे बिना ही, (वैदिक यज्ञों में) पाठ करते हैं।[1]

[1] इसी बात को भागवत में इस प्रकार कहा गया है :
"त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः" (६।३।२५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

(गीता २।४६)

अर्थात्, चारों ओर जल की बाढ आ जाने पर छोटे-से जलाशय आदि का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन तात्त्विक दृष्टि रखनेवाले विद्वान् के लिए (कर्मकाण्डात्मक) सब वेदों का रहता है । (अर्थात् काम्यकर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्ड की कोई उपयोगिता तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं होती ।)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

(गीता १६।१७)

अर्थात्, अपने को बड़ा माननेवाले, विनय से रहित और धन-मान के मद से युक्त आसुरी प्रकृति के लोग, दम्भ के साथ, अविधिपूर्वक नाममात्र के वैदिक यज्ञों को किया करते हैं ।[१]

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९।२१)

अर्थात्, त्रयीधर्म अर्थात् वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्डका आश्रय लेनेवाले केवल लौकिक कामनाओं से प्रभावित होते हैं और अतएव बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि गीता की दृष्टि वैदिक यज्ञों के और वैदिक कर्मकाण्डियों के प्रति उपनिषदों की अपेक्षा कहीं अधिक उग्र है ।

गीता का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से भागवत-संप्रदाय से माना जाता है। भागवत-संप्रदाय की दृष्टि वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड और उसका अनुसरण करने-कराने-वाले लोगों के प्रति कितनी तीक्ष्ण रही है, इसका निदर्शन भागवत तथा जैमिनीयाश्वमेधपर्व आदि ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलता है ।

उदाहरणार्थ देखिए :

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥

(भा० ४।२।२२)

१. तु० "हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया । यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥ ...... इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि । तस्यान्त इह भूयास महाशाला महाकुलाः ॥ एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् । मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥ (भागवत ११।२१।३०,३३–३४) । तथा "हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् ।" (भागवत ७।१५।४८) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

...त्, वेदवादों से जिसकी बुद्धि ध्वस्त हो गयी है ऐसा व्यक्ति, कुत्सित आचरणों से ...यज्ञों में फँसा हुआ, ग्राम्य-सुख (स्त्री-सेवनादि विषय-भोग) की इच्छा से, वैदिक ...दि में प्रवृत्त होता है।

कथं धूमान्धया दृष्ट्या दृश्यते यज्ञनायकः।
क्षीरं पिबति वै साक्षाद् द्विजिह्वः कुरुते विषम्॥
(जैमिनीयाश्वमेधपर्व ११।११२)
सप्तजिह्वः कथं कृष्णं दर्शयेत्कृष्णवर्त्मना।
(जैमिनीयाश्वमेधपर्व ११,१०५)

...त्, वैदिक कर्मकाण्डियों की दृष्टि तो यज्ञ के धूम से अन्धी हो जाती है। ...लिए उसके द्वारा यज्ञ-नायक भगवान् कृष्ण के दर्शन कैसे हो सकते हैं ? दो जिह्वा-...सर्प दुग्ध को पीकर विष पैदा करता है। फिर भला सप्त जिह्वाओं से युक्त याज्ञिक ...यज्ञों के काले धूम के मार्ग से भगवान् कृष्ण को कैसे दिखला सकती है ?

कामना-प्रधान वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को गीता द्रव्यमय यज्ञ कहती ...द्रव्यमय यज्ञ का अभिप्राय यही है कि अनेकानेक ऋत्विजों से और बहुमूल्य ...सामग्रियों से साध्य वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड का समुचित रीति से संपादन ...ऐश्वर्यशाली व्यक्ति ही कर सकते थे।[१] किसी भी धार्मिक कृत्य का ऐसा ...त्मक रूप उसको मिथ्या ढोंग और दाम्भिक कृत्य के रूप में निश्चय ही परि-...त कर देता है। इसीलिए गीता का कहना है :

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप। (गीता ४।३३)

...त्, हे परन्तप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ (अर्थात् ईश्वर की ...पूजा या उपासना जिसके करने में लौकिक धनादि सामग्री की अपेक्षा नहीं ...और अतएव जिसको धनवान् और निर्धन सब कोई कर सकते हैं) अधिक ...का है।

'यज्ञ' शब्द के अर्थ का विस्तार

इसी प्रसङ्ग में गीता ने एक महत्त्व का मार्ग-प्रदर्शन यह किया है कि 'यज्ञ' ...के अर्थ के सम्बन्ध में परम्परागत रूढि को तोड़कर, उसके मौलिक अभिप्राय ...लेकर, उसके अर्थ को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। परम्परागत रूढि के अनुसार ...' शब्द का प्रयोग प्रधानतः इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के उद्देश्य से ...जानेवाले प्रचुर-द्रव्य-साध्य वैदिक यज्ञों के लिए होता रहा है। पर गीता 'यज्ञ' ...का प्रयोग उक्त संकुचित या रूढ अर्थ में ही न कर अत्यन्त विस्तृत अर्थ में ...ती है। गीता की दृष्टि में आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति के निमित्त अथवा सर्व-

१ दे० "इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत्॥" (मनु० ११।४०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूत-भावन भगवान् की प्रीति के लिए निष्काम भावना से किया हुआ कोई भी प्रयत्न या कृत्य यज्ञ-कोटि में आ जाता है।[१]

'यज्ञ' शब्द के इस विस्तृत और व्यापक अर्थ की दृष्टि जिस स्पष्टता के साथ गीता में दिखायी देती है वैसी कदाचित् दूसरे प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलेगी। इसलिए इसको भी हम गीता की एक विशेषता कह सकते हैं।

(२) कर्म-संन्यास की प्रवृत्ति का विरोध

अन्यत्र हम दिखला चुके हैं कि वैदिक धारा के समान ही उसीसे विकसित होनेवाली औपनिषद धारा में भी, उसकी प्रारम्भिक अवस्था में, संन्यास की प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, परन्तु शनैः शनैः उस प्रवृत्ति का उसमें उदय हुआ और पीछे से उत्तरोत्तर वह बढ़ती ही गयी।

ब्रह्मसूत्र ने भी इस विषय पर विचार किया है और सिद्धान्त रूप में ब्रह्मज्ञानी के लिए संन्यास की ही पुष्टि की है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय आध्यात्मिकता के इतिहास में एक समय ऐसा था जब कि आध्यात्मिक जीवन के साथ संन्यास की प्रवृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाने लगा था। मुण्डकोपनिषद् (३।२।६) के शब्दों में :

"संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः…
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।"

अर्थात्, शुद्ध-चित्त यति-जन संन्यास द्वारा परम अमरभाव को प्राप्त होकर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

गीता के समय में भी यह प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में फैली हुई प्रतीत होती है। इसीलिए कर्म-योग के मार्ग का बलपूर्वक समर्थन करते हुए उसे संन्यास के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि को स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है।

गीता स्पष्ट शब्दों में कर्म-संन्यास का विरोध करती हुई कहती है :

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।४-५)

---

१. तु० "दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥………सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः। यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (गीता ४।२५-३१)। तथा मनु० (४।२२-२४)। तथा महाभारत शान्तिपर्व (१२।२४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, कर्मों के न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य को नहीं पा लेता है और न संन्यास (कर्तव्यकर्मों का त्याग) से ही सिद्धि (जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति) मिल जाती है। क्योंकि कोई भी मनुष्य, क्षणभर के लिए भी, बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रत्येक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर किसी-न-किसी कर्म में स्वभावतः प्रवृत्त होता ही है।

इसीलिए गीता का कहना है :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(गीता ३।१९-२०)

अर्थात्, इसलिए (हे अर्जुन) तू भी (कर्म-फल की) आसक्ति को छोड़कर सदैव अपने कर्त्तव्य-कर्म को कर। क्योंकि आसक्ति को छोड़कर कर्म करनेवाला मनुष्य अपने परमलक्ष्य अथवा परमात्मा को पा लेता है। जनक आदि ने भी कर्म द्वारा ही सिद्धि पायी थी।

आगे फिर इसी अर्थ को स्पष्ट किया गया है :

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(गीता १८।५-६)

अर्थात्, यज्ञ, दान और तप रूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। इनको करना ही चाहिए। यज्ञ, दान और तप मनीषियों को पवित्र करनेवाले होते हैं। पर हे पार्थ! (अर्जुन!) मेरा यह निश्चित मत है और यही उत्तम मत है कि उक्त यज्ञ, दान और तप ये कर्म भी आसक्ति और फलप्राप्ति की भावना को छोड़कर करने चाहिए।

इसलिए गीता के मत में :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६।१)

अर्थात्, कर्म-फल का आश्रय न करके (अर्थात् फलाशा को छोड़कर) जो अपने कर्तव्य-कर्म को करता है, वही संन्यासी और कर्मयोगी है; वह नहीं जो निरग्नि है (अर्थात् जिसने अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ दिया है), अथवा जो अक्रिय है (अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों को छोड़कर जो निठल्ला बैठा रहता है)।

स्पष्ट ही संन्यास के विषय में गीता की उक्त दृष्टि का भारतवर्ष की आध्यात्मिकता के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें भी संदेह नहीं है कि उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र द्वारा स्वीकृत तथा समर्थित संन्यास-विषयक दृष्टि से गीता की दृष्टि नितरां भिन्न है।

(३) घोर शारीरिक यातनारूप तप की भर्त्सना

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। उसके स्वरूप और प्रवृत्तियों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक कि हम उनके प्रारम्भ और विकास में वैदिक और उत्तर-वैदिक योग-दान के साथ-साथ प्राग्वैदिक योग-दान का भी यथावत् अध्ययन नहीं करते। निश्चय ही यह बड़ी गवेषणा, अध्यवसाय और सत्यान्वेषण की तीव्र अभिलाषा पर निर्भर है।

भारतवर्ष में घोर शारीरिक यातना के रूप में तप की प्रवृत्ति चिरन्तन से चली आ रही प्रतीत होती है। रामायण, महाभारत जैसे प्राचीन साहित्य में इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरणों का उल्लेख मिलता है। इस घोर शारीरिक तप के कुछ ऐसे प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है जिनका किसी धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में भी विधान नहीं है।[1] यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से आ रही है; इसका एक प्रमाण यह भी है कि कुम्भ जैसे बड़े मेलों में अब भी कुछ तथाकथित साधु और भिक्षु ऐसी घोर शारीरिक यातनाओं का प्रदर्शन करते हुए देखने में आते हैं, और अपठित जनता अब भी उनसे प्रभावित होती है। सामान्यतः समाज के ऐसे धरातल में उपलब्ध प्रवृत्तियों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, यही माना जाता है।

भगवद्गीता के लिए यह बड़े महत्त्व की बात है कि धर्म के नाम पर फैली हुई अन्य भ्रान्त और मूढ धारणाओं के साथ में वह उपर्युक्त घोर शारीरिक यातनाओं का भी उल्लेख करती है और कड़े शब्दों में उनकी भर्त्सना भी करती है; जैसे :

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(गीता १७।५-६)

अर्थात्, जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर अतिशय काम और राग के प्रभाव से अशास्त्रीय घोर शारीरिक तप में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें आसुरी बुद्धि का जानो। वे मूढ लोग न केवल शरीर के पञ्चमहाभूतों के समूह को ही, वरन् शरीर के अन्दर संस्थित मुझको (अर्थात् अन्तरात्मा को) भी कष्ट देते हैं।

---

१. उदाहरणार्थ, दे० "अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः। दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे। गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः॥ मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे। आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः॥ तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः।" (वाल्मीकिरामायण ३।६।२-५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वयं भगवान् के शब्दों में घोर शारीरिक यातनारूप तप की ऐसी भर्त्सना ...त है।

अब हम गीता के विधेयात्मक या भाव-पक्ष को लेते हैं :

(१) अनासक्त कर्म-योग तथा भक्तियोग

गीता मुख्यतः कर्मशास्त्र है

गीता को औपनिषद धारा या वेदान्त के एक प्रस्थान (स्मृति-प्रस्थान) के ...में देखा जाय या भागवत-संप्रदाय का एक विशिष्ट स्वतन्त्र ग्रन्थ समझा जाय, इस ...षय में विवेचक विद्वानों में मतभेद हो सकता है। परन्तु प्रत्येक दशा में गीता को ...क प्रकार से एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र, कर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र मानने में ...सीको विवाद न होना चाहिए।

प्रथम तो गीता का उपक्रम ही शस्त्र-सज्जित युयुत्सु वीरों से भरे हुए युद्ध-क्षेत्र ...ं खड़े हुए, विचार-संघर्ष में लीन, विषाद के गर्त में पड़े हुए किंकर्तव्य-विमूढ, संशयात्मा ...र्जुन को युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए होता है।

इसीलिए स्वभावतः ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य यही दीखता है कि किसी प्रकार, सब ...क्तियों से अर्जुन को आश्वस्त करके और उसकी कर्तव्य-भावना को उद्बुद्ध करके, उसे ...द्ध में प्रवृत्त किया जाय।

समस्त उपदेश को सुनकर अर्जुन पूर्णतया उससे प्रभावित होता है और अन्त ...ं कह उठता है : "हे अच्युत ! आपके उपदेश से मेरा सारा मोह और भ्रम दूर हो ...या है। मैं अब आपका कहना करूँगा और युद्ध में भाग लूँगा।"[१]

इसलिए उक्त पृष्ठभूमि में यदि यह कहा जाय कि कर्तव्याकर्तव्य-रूप कर्म की ...मांसा ही प्रधानतः गीता का प्रतिपाद्य विषय है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

वास्तव में नीतिशास्त्रीय दृष्टि से कर्म का जैसा व्यापक और हृदय-ग्राही विवेचन ...ता में है, वैसा कदाचित् समस्त संस्कृत-वाङ्मय में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

इसीलिए इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ कर्ममीमांसा ...ादि में कर्म से अभिप्राय सामान्यतः यज्ञादि कर्मकाण्ड या पूजा-पाठ आदि का ही

---

[१] गीता के उपक्रम और उपसंहार के लिए देखिये :

"तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥" (गीता २।१-३)

तथा "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥" (गीता १८।७३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिया जाता है, वहाँ गीता की दृष्टि इस सम्बन्ध में कहीं अधिक व्यापक है। गीता जिस कर्म का विचार करती है, उसमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नागरिकता आदि के सांसारिक सम्बन्धों से प्रेरित होकर, मनुष्य जितने भी काम करता है, वे सब सम्मिलित हैं। यज्ञादि कर्मकाण्ड तो केवल उसी व्यापक जीवन की तैयारी है, प्रतीक है।

कर्म के विषय में परम्परागत संकुचित दृष्टि को ही ध्यान में रखकर गीता का कहना है :

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

(गीता ४।१६)

अर्थात्, कर्म तथा अकर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में कवियों या विद्वान् लोगों ने भी भूल की है।

गीता का ज्ञान-कर्म-समुच्चय का सिद्धान्त

जीवन के परम लक्ष्य अमृतत्व या निःश्रेयस (अथवा मोक्ष) की प्राप्ति में ज्ञान और कर्म दोनों की बराबर समान आवश्यकता रहती है (यही ज्ञान-कर्म-समुच्चय का सिद्धान्त कहलाता है), अथवा ज्ञानप्राप्ति में चित्तशुद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता होने पर भी अमृतत्व-प्राप्ति में केवल ज्ञान की ही उपयोगिता रह जाती है (जो श्रीशंकराचार्य जैसे आचार्यों का मत है[1]), परम्परागत इन दो मतों के विषय में उपनिषदों के साक्ष्य का तथा ब्रह्मसूत्र के अभिमत का विचार हम अन्यत्र कर चुके हैं। उन दोनों मतों में से गीता को ज्ञान-कर्म-समुचय का सिद्धान्त ही मान्य है, यह भी हम ऊपर दिखला चुके हैं।

अनासक्त कर्मयोग

इस सम्बन्ध में गीता सबसे प्रथम मनुष्य के लिए कर्मफल की अपेक्षा न करके विशुद्ध कर्तव्यबुद्धि से कर्म करने की आवश्यकता पर ही बल देती है। उसका कहना है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २।४७)

अर्थात्, (हे अर्जुन !) तेरा अधिकार केवल कर्म करने में ही है; कर्म-फलों में बिल्कुल नहीं। इसलिए कर्म-फल को अपना लक्ष्य मत बना। पर साथ ही कर्म न करने का भाव भी तेरे मन में नहीं आना चाहिए।

---

१. तु० "तस्माद् गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानाद् मोक्षप्राप्तिः न कर्मसमुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः।" (गीताशांकरभाष्य २।१०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त सिद्धान्त का आधार स्पष्टतया ईशावास्योपनिषद् के इस मन्त्र पर है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशोप० २)

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। हे मानव! केवल यही एक उपाय है जिससे किया जाने वाला कर्म तुझमें लिप्त नहीं होगा।

इसी मन्त्र के अभिप्राय को गीता इस प्रकार स्पष्ट करती है :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (गीता ३।१९)

अर्थात्, (हे अर्जुन!) तुझे सदा अपना कर्तव्य-कर्म उसके फल में अनासक्त होकर करना चाहिए। इसी प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ मनुष्य परम पुरुष (परमात्मा) को पा सकता है।

यही गीता का अनासक्त कर्मयोग है, जिसका अभिप्राय यही होता है कि मनुष्य को अपना कर्तव्य-कर्म सदा विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही करना चाहिए। आधुनिक नीतिशास्त्र अथवा कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

(२) ईश्वरार्पण-बुद्धि अथवा भक्तियोग

अनासक्त कर्म-योग की ऊपर दी हुई व्याख्या में यह प्रश्न किया जा सकता है कि अन्ततोगत्वा मनुष्य अपने कार्य को विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से करे—ऐसा क्यों है? गीता उक्त प्रश्न का समाधान भक्तिवाद को लेकर करती है।

भक्तिवाद का मूल सिद्धान्त गीता के ही शब्दों में इस प्रकार है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८।४६)

अर्थात्, जो भगवान् अथवा परमतत्त्व इस समस्त विश्व में ओत-प्रोत है, जो समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति का मूल-स्रोत है, उसीकी अपने कर्म द्वारा अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-जीवन की सफलता का रहस्य कर्म द्वारा ईश्वर की भक्ति में ही है।

अभिप्राय यह है कि तात्त्विक दृष्टि से विश्व में ओत-प्रोत औरउसके स्रोतः-स्वरूप परमतत्त्व के साथ हमारा जो सम्बन्ध है उसको व्यष्टि-समष्टि-भाव-स्वरूप ही कहा जा सकता है। व्यष्टि का सब कुछ समष्टि पर निर्भर होता है। अतएव यह मानना पड़ता है कि व्यक्ति के कर्तव्य की इतिश्री समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथवा व्यष्टि का कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही निहित है[1]। भक्तिवाद का तात्त्विक स्वरूप यही है।

उक्त अर्थ में भक्तिवाद कर्म में कर्त्तव्य-बुद्धि या आदर्शवाद की ही पराकाष्ठा है। कर्तव्य-बुद्धि की भावना में वह एक नवीन मधुर रस का संचार करता है।

भक्ति-भावना के मधुर रस से आप्लुत कर्तव्य-बुद्धि ही ईश्वरार्पण-बुद्धि का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए जहाँ एक ओर गीता का कहना है कि मनुष्य को अनासक्त बुद्धि से ही अपने कर्तव्य कर्म को करना चाहिए[2], वहाँ साथ ही वह बार-बार स्मरण दिलाती है कि मनुष्य अपने समस्त कर्तव्य कर्मों को ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही करे[3]।

इस प्रकार गीता के अनासक्त कर्म-योग और भक्तियोग अन्ततोगत्वा अभिन्न ही ठहरते हैं। अनासक्त कर्मयोग का अन्तिम परिपाक भक्तियोग में ही होता है।[4]

(३) अन्तरवेक्षण द्वारा भाव-संशुद्धि पर बल

प्राचीन उपनिषदों में ऐसे संदर्भ पाये जाते हैं जिनमें अन्तरवेक्षण की आवश्यकता[5] के साथ-साथ ऐसे भी विचार प्रकट किये गये हैं कि मनुष्य को प्रत्येक कर्म के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ कर ही उसमें प्रवृत्त होना चाहिए[6]

---

१. तु० "व्यष्टीनामन्ततो नूनं समष्टेरुद्भवो मतः। समष्टेर्जायते व्यष्टिस्तस्यामेव प्रलीयते॥ व्यष्टीनां जीवनं तस्माद् व्यापारः स्थितिरेव च। यथा सरसि मानानां समष्टावाश्रितं तथा॥ समष्ट्या तेन व्यष्टीनां किञ्च तासां परस्परम्। सामञ्जस्य समुत्कृष्ट परमं लक्ष्यमुच्यते॥ समष्ट्याः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता। धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान्मनीषिणः॥ तस्यामेव स्थितौ तिष्ठन्त्येते स्वपरार्थयोः। तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा॥ (जीवनज्योतिः १५।३३-३७)

२. दे० गीता ३।१९ "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥"

३. दे० गीता "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥" (९।२७); "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।" (१२।६-७); "मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।" (१२।१०)

४. कर्म के सम्बन्ध में भक्तियोगात्मक ईश्वरार्पण-बुद्धि के सिद्धान्त को ही गीता ने वैदिक धारा की याज्ञिक परिभाषा में भी समझाने का यत्न किया है (दे० गीता ३।१०-११ तथा ४।३१)। यज्ञिय भावना वास्तव में परार्थ भावना से ओत-प्रोत है। तु० "इदमग्नये इदं न मम" इत्यादि। वास्तविक यज्ञ तो विश्व-कल्याण के लिए विराट् पुरुष की अपनी आहुति में है जिसका वर्णन पुरुषसूक्त में किया गया है। हमारे यज्ञ उसी आदर्श यज्ञ के अनुकरण या अनुसरण मात्र हैं। उनका अभिप्राय समष्टि के साथ व्यष्टि के सामञ्जस्य में ही है। यही आदर्श कर्मयोग-गत ईश्वर में समर्पण-बुद्धि का है।

५. तु० "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"। (कठोप० २।१।१)

६. तु० "उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। (छा० उ० १।१।१०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथवा यह कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व वास्तव में उसके अभिप्रायों या भावों पर निर्भर रहता है।[1]

उक्त अभिप्राय को लेकर ही मनुस्मृति में कहा गया है :

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (मनु० २।९७)

अर्थात्, वेदों का अध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप, ये सब उस मनुष्य के, जिसके भाव (अभिप्राय) दुष्ट हैं कभी सिद्ध नहीं होते।

गीता प्रथमतः कर्मशास्त्र है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। इस सम्बन्ध में स्वभावतः उसकी एक मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक कर्तव्य कर्म के सम्बन्ध में वह उसकी भावात्मक पृष्ठभूमि के विचार पर अत्यन्त बल देती है। गीता के अनुसार प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावों पर निर्भर रहता है। भाव-संशुद्धि को गीता ने मानस-तपों में गिनाया है। भाव-संशुद्धि का परीक्षण अन्तरवेक्षण से ही हो सकता है। इसलिए गीता की शिक्षा में भाव-संशुद्धि और अन्तरवेक्षण दोनों की समान रूप से अनिवार्य आवश्यकता है।[2]

उक्त अन्तरवेक्षण, गीता के अनुसार, प्रकृतिसिद्ध सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों के आधार पर ही किया जा सकता है। गीता ने इन तीनों गुणों के स्वरूपों को पृथक्-पृथक् समझाने का यत्न किया है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि अविवेक, मोह, जडता, आलस्य तथा प्रमाद ये तमोगुण के लक्षण हैं; परम्परागत अन्ध रूढियों तथा चिर-प्ररूढ अपनी ही वासनाओं की दासता रजोगुण का लक्षण है; और अपने प्रत्येक कार्य के परीक्षण में सजग रहना, अमूढ रहना और प्रमाद तथा वासनाओं से असंपृक्त शुद्ध बौद्धिक दृष्टि को स्थिर रखना सत्त्वगुण की पहचान है।[3]

गीता इतने से ही संतुष्ट नहीं रहती। वह समझती है कि मनुष्य-समाज में प्रायः देखने में आता है कि यज्ञ, दान, तप तथा धर्म के नाम पर किये जानेवाले

---

1. तु० "अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।" (छा० उ० ३।१४।१)

2. तु० "अभिप्रायानुसारेण प्रत्येकं कर्मणः खलु। प्रभावः प्रत्यहं सर्वैर्दृश्यते लोक-जीवने॥ एकमेव कृतं कर्माभिप्रायस्य विभेदतः। जायते, केन न दृष्टं, दण्ड्यं वादण्ड्यमेव वा॥ महत्त्वं भाव-संशुद्धेस्तस्मादाहुर्मनीषिणः। कर्मणश्चित्रणं यस्माद् भावभित्तौ प्रजायते॥···परं सा भावसंशुद्धिरन्तर्दृष्टिमपेक्षते।" (जीवनज्योतिः, ८।५—७, १०)

3. तु० "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥······सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ (गीता १४।६-८, ११-१३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य कार्य भी, सात्त्विक रूप से गिरकर, रिवाज, मान, दम्भ तथा अविवेक की वस्तु बन जाते हैं। इसीलिए गीता ने स्वयं, उदाहरण के रूप में, श्रद्धा, यज्ञ, तप, दान आदि का सात्त्विक, राजस और तामस भेद से त्रैविध्य दिखलाया है।[१]

स्पष्ट ही गीता की उक्त विशेषता का सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व है। परम्परागत तथाकथित धार्मिक रूढियों और कृत्यों के सम्बन्ध में उनकी भावात्मक पृष्ठभूमि पर जैसा बल गीता में दिया गया है वैसा अन्यत्र कदाचित् ही मिलेगा।

इस सम्बन्ध में गीता की निम्ननिर्दिष्ट उक्ति स्वर्णाक्षरों में लेख्य है:

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। (गीता १५।५)

अर्थात्, जो अपने कर्त्तव्य कर्मों के विषय में सदा सजग और अमूढ रहते हैं वे ही अपने जीवन के शाश्वत लक्ष्य को पाने में सफल होते हैं।

(४) मृत्यु-विभीषिका का निरास

प्रत्येक प्राणी स्वभावतः मृत्यु से डरता है। योगसूत्र-व्यासभाष्य में कहा गया है "सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति 'मा न भूवम्, भूयासम्' इति" (२।९) अर्थात् प्रत्येक प्राणी के मन में यह चाह सदा रहती है कि ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, प्रत्युत मेरा जीवन या अस्तित्व बना ही रहे।

उपनिषदों में भी स्थान-स्थान पर ऐसे वचन आते हैं जिनमें मृत्यु-विभीषिका का तथा मुख्यतः उसीसे बचने के लिए अमृतत्व-प्राप्ति के आदर्श का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ देखिए:

मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना...।

(छा० उ० ८।१२।१)

अर्थात्, यह शरीर निश्चय ही मरणशील है, इसको मृत्यु ने पकड़ रखा है।

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य...।

(कठोप० १।१।१८)

अर्थात्, वह मृत्यु के पाशों को पहले से ही तोड़कर...।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

(ईशोप० ११)

अर्थात्, वह अविद्या (कर्म) द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या (ज्ञान) से अमृतत्व को प्राप्त करता है।

यह आश्चर्य की बात है कि आत्मा (जीवात्मा) को नित्य तथा अमरणशील कहने और माननेवाले ग्रन्थों में भी मृत्यु-विभीषिका की भावना ज्यों की त्यों देखी

---

१. देखिये गीता का अध्याय १७ तथा अध्याय १८।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाती है। कहीं भी हम यह भावना नहीं पाते कि जन्म-जन्मान्तर में होनेवाले आत्मा के उत्तरोत्तर विकास अथवा उत्कर्ष में मृत्यु की वैसी ही अत्यावश्यक उपयोगिता होती है जैसी दिन भर के काम से श्रान्त व्यक्ति के लिए निद्रा की होती है। निद्रा में श्रमापनयन और नूतन जीवनशक्ति-प्रदान की जैसी योग्यता रहती है; वस्तुतः आत्मा के उत्तरोत्तर विकास में मृत्यु की भी वैसी ही योग्यता और उपयोगिता है।

इस दृष्टि से मृत्यु, बिभीषिका की वस्तु न रहकर, एक आकांक्षणीय वस्तु बन जाती है। हमारी समझ में "योगेनान्ते तनुत्यजः" (दे० रघुवंश १।८) (अर्थात्, योग के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक अन्त में शरीर को छोड़नेवाले) जैसे आदर्शों के पीछे कुछ ऐसी ही भावना है।

ऐसा लगता है कि गीताकार का भी कुछ ऐसा ही मत था। इसी दृष्टि से मृत्यु के सम्बन्ध में गीता के निम्न-निर्दिष्ट वचन ध्यान देने योग्य हैं :

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २।१३, १९, २०,२२)

अर्थात्, जैसे देह धारण करनेवाले को इस देह में बालपन, यौवन और बुढ़ापा प्राप्त होता है, वैसे ही देहान्तर की प्राप्ति हुआ करती है। (अतः) ज्ञानी पुरुष को इस विषय में मोह नहीं होता।

जो इस (आत्मा) को मारनेवाला मानता है, और जो—वह (आत्मा) मारा जाता है—ऐसा समझता है, उन दोनों का ज्ञान सत्य नहीं है; (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न मारा ही जाता है।

यह (आत्मा) अज (कभी जन्म न लेनेवाला), शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है।

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार देह का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्त में गीता का कहना है कि यदि आत्मा को अनित्य और मरणशील भी मान लिया जाय, तो भी मृत्यु से किसी प्रकार घबड़ाने की बात नहीं है :

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

(गीता २।२६-२७)

अर्थात्, यदि तुम ऐसा मानते हो कि आत्मा (नित्य न होकर शरीर के साथ ही) सदा जन्मता या मरता है, तो भी हे महाबाहु (अर्जुन) ! तुम्हें उसके लिए शोक करना उचित नहीं है। (क्योंकि) जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है उसका (पुनः) जन्म निश्चित है। इसलिए (इस) अपरिहार्य बात के लिए शोक करना तुम्हें उचित नहीं है।

स्पष्ट ही गीताकार को यहाँ यही अभीष्ट है कि किसी प्रकार मृत्यु-विभीषिका से मनुष्य को त्राण मिलना चाहिए।

हमारे विचार में गीता का यह सारा प्रकरण अपना विशेष महत्त्व रखता है। कहीं अन्यत्र मृत्यु के सम्बन्ध में ऐसे हृदयस्पर्शी विचार एक ही स्थान में कदाचित् ही मिलेंगे।

(५) गीता का योगाभ्यास

प्राचीन उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन में योगाभ्यास की पद्धति की प्रायः उपेक्षा ही की गयी है। कठोपनिषद्[१] में उसकी ओर कुछ संकेत किया गया है, यह हम ऊपर कह चुके हैं।

ब्रह्मसूत्र में कोई विशेष चर्चा योग के सम्बन्ध में नहीं है। चतुर्थ अध्याय (४।१।७-११) में आसन, ध्यान और एकाग्रता का केवल नाममात्र का उल्लेख आया है। "एतेन योगः प्रत्युक्तः" (२।१।३) (अर्थात्, प्रकृति स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण है—इस दार्शनिक सिद्धान्त की मान्यता के सम्बन्ध में सांख्य के समान योग का भी प्रत्याख्यान हो जाता है।) इस सूत्र में तो एक प्रकार से योग का खण्डन भी किया गया है। अभिप्राय यह है कि प्राचीन उपनिषदों के समान ब्रह्मसूत्र में भी योग का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

यह बात उल्लेखनीय है कि गीता में उपर्युक्त विचारधारा के विरुद्ध आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में योगाभ्यास की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।

पाँचवें अध्याय में गीता योगाभ्यास के मौलिक सिद्धान्त का तथा उसकी सामान्य विधि का वर्णन इस प्रकार करती है :

---

१. दे० "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" (कठोप० २।३।११); "विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्" (कठोप० २।३।१८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

(गीता ५।२१,२७)

अर्थात्, बाह्य पदार्थों के संयोग में अर्थात् बाह्य विषयों में जिसका मन संसक्त नहीं, वही व्यक्ति आत्मा में जो सुख है उसे प्राप्त करता है। ब्रह्म में समाधि से युक्त मनुष्य अक्षय्य सुख का अनुभव करता है।

(योगमार्ग में निरत मुनि को चाहिए कि) वह बाह्य विषयों को बाहर ही रोककर, दोनों भौंहों के मध्य में दृष्टि को जमाकर, श्वास-प्रश्वास दोनों को नासिका के अभ्यन्तर ही चलनेवाला करते हुए समावस्था में स्थित करे (और इस प्रकार ध्यान में निरत हो जाय)।

छठे अध्याय में योगाभ्यास का विषय पुनः उठाकर योगाभ्यास की विधि को विशद रूप से बतलाया गया है; जैसे :

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

(गीता ६।१०—१५, १८-१९)

अर्थात्, योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अपने चित्त और आत्मा को संयत करके, कामनाओं और (सांसारिक वस्तुओं में) परिग्रह-बुद्धि से अपने को पृथक् रखते हुए सदा एकान्त में एकाकी रहकर योगाभ्यास में अपने को लगावे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(योगाभ्यासी व्यक्ति) शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगाकर (बैठे)। वह आसन न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा। आसन के लिए पहले तो दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछाये।

चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोककर तथा मन को एकाग्र करके आत्म-शुद्धि के लिए उस आसन पर बैठकर योग का अभ्यास करे।

काय अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवा को सीधा रखते हुए, अपनी नासिका की नोक पर दृष्टि जमाकर, इधर-उधर न देखते हुए, स्थिर होकर (बैठे)।

निडर, शान्त अन्तःकरण से युक्त और ब्रह्मचर्यव्रत के पालन में तत्पर होकर मन को संयत करे और मुझ (अर्थात् भगवान्) में चित्त को लगाकर मत्परायण होता हुआ (वह योगी) युक्त अर्थात् समाधिस्थ हो जाय।

इस प्रकार सदा योगाभ्यास करनेवाला योगी अपने मन को संयत करके मुझ (अर्थात् भगवान्) में रहनेवाली शान्ति को प्राप्त कर लेता है और अन्त में निर्वाणपद को प्राप्त हो जाता है।

जब (योगाभ्यास द्वारा) संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है उस दशा में सब कामनाओं के प्रति निःस्पृह व्यक्ति को 'युक्त' (अथवा समाधिनिष्ठ) कहा जाता है।

वायु-रहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति निश्चल होती है। यही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास में निरत योगी के सम्बन्ध में दी जाती है।

इसी सम्बन्ध में गीता योगाभ्यासी के लिए अत्युपयोगी शारीरिक स्वास्थ्यचर्या को भी बतलाती है :

> नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
> न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
> युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
> (गीता ६।१६-१७)

अर्थात्, हे अर्जुन ! अधिक खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और अधिक सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता।

जिसका आहार-विहार युक्त है, कर्मों में जो उचित चेष्टा करता है और जिसका सोना-जागना परिमित है, उसीके लिए योग दुःखों को हटानेवाला अथवा सुखावह होता है।

इसके अनन्तर गीता ६।२०-२९ में योगाभ्यास की प्रक्रिया का और उससे प्राप्त होनेवाले निरतिशय आनन्द का बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया गया है।

उक्त सारा प्रकरण ध्यान देने योग्य है। जहाँ एक ओर गीता अध्यात्म-ज्ञान-मूलक तथा ईश्वरार्पणबुद्धि (अथवा भक्तिभावना) से किये गये कर्मयोग-मार्ग का प्रतिपादन करती है, वहाँ साथ ही आत्म-विशुद्धि और चित्त-प्रशान्ति के लिए नियमतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त योगाभ्यास पर भी बल देती है। यह भी उल्लेखनीय बात है कि इस छोटे से ही प्रकरण में गीता ने योगाभ्यास जैसे गहन विषय को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट कर दिया है।

(६) गीता की ब्राह्मी स्थिति

प्राचीन उपनिषदों में अमृतत्व की प्राप्ति के आदर्श की चर्चा बार-बार आती है।[1] ब्रह्मज्ञानी को उस अमृतत्व की प्राप्ति मृत्यु के अनन्तर होती है—ऐसा ही प्रायः समझा जाता है और उपनिषदों की शब्दावली भी प्रायः ऐसा ही कहती है।[2] ब्रह्मज्ञानी के लिए इसी जीवन में या जीते जी भी कोई भावात्मक लक्ष्य हो सकता है, इसका उल्लेख कम देखने में आता है। उपनिषदें केवल ज्ञानमार्ग का ही प्रतिपादन करती हैं, इस भावना ने भी उक्त दृष्टि को परिपुष्ट किया है।

परन्तु ध्यानपूर्वक उपनिषदों के अध्ययन से प्रतीत होगा कि वे ब्रह्मज्ञानी के लिए भावात्मक पक्ष की ओर निश्चित रूप से संकेत करती हैं। उदाहरणार्थ देखिए :

तरति शोकमात्मवित् (छा० उ० ७।१।३)

अर्थात्, जिसने आत्मा को जान लिया है वह शोक को तर जाता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोप० ७)

अर्थात्, जो सब प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है वह शोक और मोह के जीवन से ऊपर उठ जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।१) में ब्रह्मज्ञानी के लिए एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) से ऊपर उठकर निर्दोष बाल्यभाव (अर्थात् राग-द्वेष से रहित विशुद्ध सात्त्विक जीवन) के आदर्श का उल्लेख किया गया है।[3]

भगवद्गीता की एक विशेषता यह है कि उसने ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी के लिए ब्राह्मी स्थिति अथवा स्थितप्रज्ञता का भावात्मक लक्ष्य रखा है। यह लक्ष्य भगवद्गीता

---

1. दे० "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (केनोप० २।४)। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (कठोप० २।१।१)। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० उ० २।२३।१)।
2. दे० "धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (केनोप० १।२; २।५)। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ईशोप० ११)।
3. इस सम्बन्ध में उपनिषदों के इन प्रमाणों को भी देखिए :

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (केनोप० २।५)। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति। सर्वमात्मानं पश्यति। नैनं पाप्मा तरति। सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति। सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। एष ब्रह्मलोकः। सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। (बृ० उ० ४।४।२३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वारा अध्यात्म-ज्ञान-मूलक कर्मयोग की मान्यता के सर्वथा अनुकूल ही है। ब्रह्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति के आदर्श को जीवन में उतारना ही ब्राह्मी स्थिति है।[1]

गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप की बड़ी सुन्दर और हृदयस्पर्शी व्याख्या की गयी है। इस सम्बन्ध में निम्नस्थ पद्य विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २।५५-५७)

अर्थात्, जब मनुष्य अपने मन के सब काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ देता है और अपने आप में ही अथवा अपने आत्मस्वरूप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जिसको आसक्ति नहीं है, और राग, भय, एवं क्रोध से जो रहित है, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।

जिसको किसी भी विषय में आसक्ति नहीं है, जो किसी प्रकार के शुभ या अशुभ को पाकर आनन्द या विषाद का अनुभव नहीं करता, उसीकी बुद्धि को स्थित समझना चाहिए।

इसी प्रकरण का उपसंहार गीता ने इस प्रकार किया है :

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

(गीता २।७२)

अर्थात्, हे अर्जुन ! स्थितप्रज्ञता की उपर्युक्त स्थिति ही ब्राह्मी स्थिति है। इसको पाकर कोई भी फिर मोह को नहीं प्राप्त होता है। अन्तकाल में भी इसमें स्थित हुआ व्यक्ति ब्रह्म में निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

तत्त्वज्ञानी जनक जैसे कर्मयोगियों के जीवन का आदर्श वास्तव में यही स्थितप्रज्ञता थी। महात्मा गांधी ने भी इसीको अपने जीवन का आदर्श बनाया हुआ था।[2]

---

१. उपनिषदों में ब्रह्मलोक का प्रायः उल्लेख आता है, जैसा कि बृ० उ० ४।४।२३ से ऊपर उद्धृत की गयी टिप्पणी में है। वह बहुत कुछ ब्राह्मी स्थिति से समानता रखता है।

२. उत्तरकालीन वेदान्त के ग्रंथों में जीवन्मुक्ति का जो आदर्श रखा गया है, वह बहुत कुछ गीता की ब्राह्मी-स्थिति से मिलता है। भेद केवल यह है कि उसके साथ कर्मयोग की भावना प्रायः बिलकुल नहीं है। इस सम्बन्ध में देखिए गीतारहस्य (पृ० २३३, २४९ और ६४६)। पञ्चदशी (पञ्चभूत-विवेक-प्रकरण १०२, १०३)। विवेकचूडामणि ४२६-४४५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपसंहार

इस परिच्छेद में जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि औपनिषद धारा के विकास में भगवद्गीता उपनिषदों की केवल अनुवादक या पुष्टि करनेवाली ही न होकर एक प्रकार से उनकी पूरक भी है। वह उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान को लेकर चलती है, पर साथ ही कई अंशों में अपना भी वैशिष्ट्य रखती है।

वह एक प्रकार से उपनिषदों की पीछे से अतिमात्रा में बढ़नेवाली कर्म-संन्यास की जैसी प्रवृत्तियों को रोकती भी है, उनका परिष्कार करती है।[1]

प्रश्न होता है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में (पुष्पिकाओं में) गीता को 'उपनिषद्' क्यों कहा गया है? हमारे मत में इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह केवल उपनिषदों के पीछे-पीछे ही चलती है। अभिप्राय यह है कि वास्तव में गीता उपनिषदों के समान ही सम्मान के योग्य है[2]।

---

1. दे० गीतारहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ० १२।
2. कुछ लोगों का तो कहना है कि साक्षात् भगवान् के मुख से निकलने के कारण गीता का प्रामाण्य उपनिषदों से भी अधिक है। महाभारत, भीष्मपर्व, आध्याय ४३ में कहा है: "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥ १॥ सर्वशास्त्रमयी गीता ... ... ॥ २॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सोलहवाँ परिच्छेद

औपनिषद धारा का व्यापक प्रभाव

'भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिक धारा' के परिच्छेद १० ('वैदिक धारा की देन') में हम दिखला चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की उत्तरोत्तर धाराओं में उनके नैतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक क्षेत्रों की व्यवस्थाओं और मर्यादाओं का मौलिक आधार सामान्य रूप से बराबर वैदिक धारा पर रहा है।

बहुत कुछ इसी तरह भारतीय संस्कृति की उत्तरोत्तर धाराओं के अध्यात्म-चिन्तन का आधार, साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से, प्रायेण औपनिषद धारा पर रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। जैन और बौद्ध धाराओं के सम्बन्ध में यह कथन कहाँ तक ठीक है, इसका विचार हम उन दोनों धाराओं के स्वतन्त्र प्रतिपादन में ही करेंगे।

औपनिषद धारा का मूलतः प्रारम्भ वैदिक धारा से ही हुआ था, यह हम ऊपर परिच्छेद १० में दिखला चुके हैं। ऐसी स्थिति में, वैदिकधारा के समान ही, औपनिषद धारा द्वारा भी उत्तरोत्तर धाराओं का प्रभावित होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन का महत्त्व

गीता में भगवान् की विभूतियों के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है: "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" (गीता १०।३२), अर्थात् सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या ही श्रेष्ठ है। गीता का इस अध्यात्म-विद्या से अभिप्राय स्पष्टतः औपनिषद अध्यात्म-विद्या से ही है। औपनिषद अध्यात्म-ज्ञान को एक प्रकार से आधार मानकर ही गीता अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है, यह हम ऊपर (परिच्छेद १५ में) दिखला चुके हैं।

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की पराकाष्ठा उपनिषदों में ही पायी जाती है। भारत ही क्यों, विश्व के अध्यात्म-चिन्तन में उपनिषदों का चिन्तन, ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम होते हुए भी, निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय है। यह मानी हुई बात है कि मानव-सभ्यता के इतिहास में सबसे प्रथम उपनिषदों ने ही विश्व में ओत-प्रोत, सर्वान्तर्यामी, सर्वगुणातीत परम-तत्त्व का ब्रह्म के रूप में अनुभव और साक्षात्कार किया था और विश्व के लिए उसका आघोष भी किया था।[१]

---

१. दे० *A History of Sanskrit Literature by A. A. Macdonell*, पृ० २२०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदें उस परमतत्त्व को वास्तव में 'अग्राह्य' (मु० उ० १।१।६) और 'अचिन्त्य' (मु० उ० ३।१।७) समझती हुई भी अपने अनूठे ढंग से उसका वर्णन करती हैं। उदाहरणार्थ, केनोपनिषद् के निम्नस्थ वर्णन को देखिए :

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् । अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।

(केनोप० १।३)

अर्थात्, उस (ब्रह्म) तक न आँख जाती है, न वाणी जाती है, न मन जाता है। हम न जानते हैं, न समझते हैं कि किस प्रकार उसका उपदेश किया जाय। विदित और अविदित, दोनों प्रकार के पदार्थों से वह पृथक् है। पूर्वजों से हमने ऐसा ही सुना है, जो हमारे लिए उसकी व्याख्या कर गये हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।

(केनोप० २।१)।

अर्थात्, (आचार्य शिष्य से कहते हैं) यदि तुम यह समझते हो कि तुम ब्रह्म के स्वरूप को ठीक तरह समझते हो, तो निश्चय ही तुम कम जानते हो। वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि जो कुछ ब्रह्म के विषय में तुम जानते हो अथवा ब्रह्म का जो आधिदैविक स्वरूप है वह (अभी तक) तुम्हारे लिए मीमांसा का ही विषय है।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केनोप० २।२-३)

अर्थात्, (गुरु अपनी दृष्टि शिष्य को बताते हैं) मैं यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ। यह भी नहीं कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ। हममें से जो उसको जानता है वह यही जानता है कि 'मैं नहीं जानता हूँ—यह बात नहीं है क्योंकि मैं उसे जानता हूँ।'

जिसको (ब्रह्म) अमत (= न जाना हुआ) है। उसको वह जाना हुआ है
जिसको (वह) जाना हुआ है, वह उसको नहीं जानता है।
ज्ञानियों को (वह) अविज्ञात है, और न जाननेवालों को वह ज्ञात है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के वर्णन को भी देखिए :

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ । नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ । एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।

(बृ० उ० ३।८।११)

अर्थात्, (याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं) हे गार्गि ! वही यह अक्षर (ब्रह्म) अदृष्ट—नेत्र से न देखा हुआ—सबका द्रष्टा है, कान से न सुना गया सबका सुननेवाला है, मन से मनन न किया गया सबका मनन करनेवाला है, अविज्ञात होते हुए भी सबका ज्ञाता है। इससे दूसरा विश्व का द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य सबका श्रोता नहीं है, इससे अन्य सबका मनन करनेवाला नहीं है, इससे अन्य सबका विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय ही इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है।

उपनिषत्कालीन मनीषियों ने उस अक्षर ब्रह्म का किस प्रकार अनुभव और साक्षात्कार किया था और अन्त में उसके विषय में उनका क्या मन्तव्य था, इसका हृदयग्राही वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् ने इस प्रकार किया है :

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

(श्वे० उ० १।३, १२,१६)

अर्थात्, उन्होंने (= परमात्मा के अनुसन्धान में प्रवृत्त मनीषियों ने) ध्यान-योग का अनुसरण करते हुए अपने ही गुणों से छिपी हुई परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया, जो (परमात्मा) अकेला ही काल से लेकर आत्मा-पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठाता है ॥ ३ ॥

इसे (परम-तत्त्व-रूप परमात्मा को) सर्वदा अपने अन्दर ही जानना, देखना चाहिए। उससे परे जानने योग्य कुछ और नहीं है।···॥ १२ ॥

वह (अक्षर ब्रह्म ही) उपनिषदों का प्रतिपाद्य है ॥ १६ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् का 'तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्'[1] (अर्थात्, वह अक्षर-ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है) यह कथन विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका अभिप्राय यही है कि परमतत्त्व का 'अक्षर ब्रह्म' के रूप में विश्वभर में प्राथमिक चिन्तन उपनिषदों ने ही किया था। इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"

(बृ० उ० ३।९।२६)

---

१. तु० "तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्" (श्वे० उ० ५।६) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अर्थात्, याज्ञवल्क्य शाकल्य से कहते हैं कि मैं तुमसे ब्रह्म-रूप उस विशुद्ध आत्मा के विषय में पूछ रहा हूँ जिसका प्रतिपादन उपनिषदों ने किया है) इस प्रकार विज्ञान-रूप आनन्दमय ब्रह्म को औपनिषद (उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित) पुरुष कहा गया है।

वास्तव में सर्वगुणातीत अक्षर ब्रह्म के रूप में परम-तत्त्व-विषयक उपनिषदों का चिन्तन इतना मौलिक और विशाल है कि उसके आगे मानव-चिन्तन पहुँच ही नहीं सकता। इसी कारण मानव-चिन्तन के इतिहास में उपनिषदों का अप्रतिम महत्व स्वीकार किया जाता है।

उत्तरकालीन भारतीय संप्रदायों और चिन्तन में औपनिषद धारा का आधार होने की बात हम ऊपर कह चुके हैं। किसी-न-किसी रूप में औपनिषद चिन्तन की छाप उन पर दिखायी देती है। इस परिच्छेद में हम यही संक्षेप में दिखलाना चाहते हैं।

वास्तव में किसी सांप्रदायिक पूर्वग्रह से असंपृक्त और विशुद्ध मानव-समस्या के रूप में उद्भावित औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन की उपमा हम सुवर्ण से दे सकते हैं। सुवर्ण का सुवर्ण-रूप में उपयोग बहुत सीमित होता है, परन्तु तत्तदलंकारों के रूप में उसका प्रचार विश्व-व्यापक है।[1] इसी प्रकार औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन के आधार पर ही प्रायः उत्तरकालीन संप्रदायों के प्रासाद खड़े किये गये हैं। यही कारण है कि जिससे मानो विवश होकर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि विभिन्न संप्रदायों के आचार्य और विद्वानों ने बादरायण आचार्य के ब्रह्मसूत्र पर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं; जिनका उल्लेख हम परिच्छेद १४ में कर चुके हैं।

शैव, वैष्णव आदि संप्रदायों से संबद्ध उत्तरकालीन तथाकथित उपनिषदों का निर्माण भी वास्तव में उपर्युक्त कारण से ही हुआ है।

उत्तरवर्ती सांप्रदायिक धाराओं में औपनिषद प्रभाव

उत्तरवर्ती सांप्रदायिक धाराओं में औपनिषद चिन्तन का कैसा प्रभाव है इसको दिखाने के लिए सबसे प्रथम हम भगवद्गीता को ही ले सकते हैं।

भगवद्गीता

भगवद्गीता वास्तव में भागवत-संप्रदाय का ग्रन्थ है। ऐसा होने पर भी उस पर औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन की गहरी छाप है, यह हम विस्तार से परिच्छेद १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') में दिखला चुके हैं। इसी कारण से गीता के प्रत्येक

[1] तु० "गुडखण्डशर्कराद्या भिन्नाः स्युर्विकृतयो यथैकेक्षोः। केयूरकङ्कणाद्या यथैकहेम्नो भिदाश्च पृथक्॥ एवं पृथक्स्वभावं पृथगाकारं पृथग्वृत्ति। जगदुच्चावचमुच्चैरेकेनैवात्मना चलति॥ (प्रबोधसुधाकर १२९-१३०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय के अन्त में जो अध्याय-समाप्ति-सूचक संकल्प है उसमें "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां ....." इस प्रकार गीता को, विषय की दृष्टि से, बराबर 'उपनिषद्' तथा 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है। इसी कारण औपनिषद धारा के तीन प्रस्थानों में गीता को भी एक प्रस्थान (स्मृति-प्रस्थान) मान लिया गया है।

विभिन्न पुराण

औपनिषद धारा के व्यापक प्रभाव का सबसे अच्छा निदर्शन हमें पौराणिक साहित्य से मिलता है।

प्रचलित या वर्तमान पुराणों की मुख्य प्रवृत्ति प्रायेण शैव, शाक्त अथवा वैष्णव संप्रदाय के समर्थन और पुष्टि की है, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। प्रारम्भ में उनका स्वरूप जो भी रहा हो; पर अपने वर्तमान रूप में उनका तत्तत्संप्रदायों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह बात अनिर्विवाद है।

पर इस प्रकार सांप्रदायिक होने पर भी, यह ध्यान देने की बात है कि पुराणों में स्पष्टतया औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन का सहारा लिया गया है। इस कथन की पुष्टि में हम तत्तत्संप्रदाय से सम्बद्ध कुछ पुराणों का उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत

वैष्णव पुराणों में **श्रीमद्भागवत** सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार और लोकोत्तर चरित का भक्ति-भावना से ओत-प्रोत वर्णन किया गया है। समस्त अवतारों में कृष्णावतार को परमश्रेष्ठ माना गया है; यहाँ तक कि जहाँ और अवतारों को भगवान् का केवल अंशावतार कहा गया है[1], वहाँ कृष्णावतार के सम्बन्ध में "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" (भागवत १।३।२८) अर्थात् कृष्ण तो साक्षात् भगवान् ही हैं, ऐसी मान्यता है। समस्त पुराण भगवान् कृष्ण, जिनको बराबर उत्तमश्लोक कहा गया है, के स्तुतिगान और महिमा के हृदयाकर्षक वर्णनों से पूर्ण है। स्थान-स्थान पर इन्द्र, ब्रह्मा, महेश्वर (शिव), ऋषिगण आदि के मुख से भगवान् कृष्ण की स्तुति करायी गयी है।

स्पष्टतः इस पुराण का प्रथम लक्ष्य कृष्ण-भक्ति का लोक में प्रचार करना है।

इस प्रकार सांप्रदायिक दृष्टि[2] से ओत-प्रोत होने पर भी, इस पुराण में औपनिषद अध्यात्म-ज्ञान की पृष्ठभूमि में ही सब कुछ कहा गया है।

भागवत में प्रत्येक नवीन कथन का उत्थापन प्रायः औपनिषद ब्रह्म के आधार पर किया गया है, प्रायः प्रत्येक प्रधान-स्तुति में उसका उल्लेख है। स्थान-स्थान

---

१. दे० "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भागवत १।३।२८)।

२. भागवत की संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि के लिए, उदाहरणार्थ, देखिए ४।२।२८-२९ : "भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः। पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः। विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र औपनिषद वचनों का उल्लेख, अथवा औपनिषद विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है।

उदाहरणार्थ नीचे के उद्धरणों को देखिए :

"योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने
परमात्मनि वासुदेवे..." (भागवत ५।१९।२०)

यहाँ भगवान् वासुदेव को परमात्मा, सर्वभूतात्मा, 'अनात्म्य' (शरीर-रहित), 'अनिरुक्त' (अवर्ण्य) और 'अनिलयन' (दूसरे का आश्रय न लेनेवाला) कहा गया है। यह वर्णन स्पष्टतः तैत्तिरीयोपनिषद् के

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽ-
भयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति"
(तै० उ० २।७)

इस उद्धरण में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'अनात्म्ये', 'अनिरुक्ते' और 'अनिलयने' इन विशेषणों पर आधारित है।

इस प्रकार के अनेकानेक प्रसङ्ग भागवत में दिखलाये जा सकते हैं।[1]

स्थान-स्थान पर भगवान् कृष्ण का ब्रह्म, परमात्मा, परमानन्दपूर्ण ब्रह्म, साक्षात् परम ब्रह्म जैसे औपनिषद धारा के विशिष्ट शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है।[2] जैसे :

"नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय" "ब्रह्मणे परमात्मने"
(भागवत १०।८५।३९)

अर्थात्, (राजा बलि भगवान् कृष्ण की स्तुति करता है) अनन्त, महान्, ब्रह्म तथा परमात्मारूप कृष्ण के लिए नमस्कार हो।

"त्वं ब्रह्म परमं साक्षात्" (भागवत ११।१६।१)

अर्थात्, (उद्धव भगवान् कृष्ण से कहते हैं) तुम साक्षात् परम ब्रह्म हो।

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(भागवत १०।१४।३२)

---

१. उदाहरणार्थ तुलना कीजिए : "तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिः" (भागवत ४।२४।६०) तथा "यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" (छा० उ० ३।१३।७) अथवा "एष संप्रसादः · परं ज्योतिरुपसंपद्य" (छा० ८।१२।३)। एवम् "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः" (भागवत १०।१३।५४) तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१), "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८) एवम् "सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः। इतरेऽपत्यवित्ता द्यास्तद्वल्लभतमैव हि॥" (भागवत १०।१४।५०) तथा "स होवाच न वा अरे पत्युः कामायपतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादि प्रकरण (बृ० उ० २।४।५)। एवम् "छायातपौ" (भागवत ८।५।२७) तथा "छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति" (कठोप० १।३।१)। एवम् "आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।" (भागवत ७।१५।४१) तथा "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।" इत्यादि प्रकरण (कठोप० १।३।३-४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust-Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, (ब्रह्मा भगवान् कृष्ण की स्तुति के प्रसंग में कहते हैं) अहो! नन्द आदि व्रजवासी गोपों का भाग्य धन्य है। उनका अहोभाग्य है कि परमानन्द-स्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म कृष्ण के रूप में उनका सुहृद् बनकर उनके मध्य में रह रहा है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत कृष्ण-भक्ति का अद्वितीय ग्रन्थ होते हुए भी प्रारम्भ से अन्त तक औपनिषद विचारधारा से आप्लावित है। ध्यानपूर्वक उसका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इस पुराण के निर्माण का प्रथम लक्ष्य यही है कि कृष्ण-भक्ति को दार्शनिक दृष्टि से उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म के सिद्धान्त पर आधृत दिखलाया जाय। इसी अभिप्राय से इस पुराण के प्रत्येक अध्याय के समाप्ति-सूचक संकल्प में श्रीमद्भागवत को पारमहंसी संहिता कहा गया है।

विष्णुपुराण

वैष्णव पुराणों में विष्णु-पुराण का विशेष महत्त्व कई दृष्टियों से है। प्रथम तो अठारहों पुराणों में इसे एक प्राचीनतम पुराण माना जाता है। दूसरे, अपने प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से इसका स्वरूप आदर्श पुराण के बहुत समीप है। यह सब होते हुए भी, यह वैष्णव संप्रदाय को लेकर ही चलता है। इसका सम्बन्ध कृष्णावतार से इतना नहीं, जितना साक्षात् विष्णु भगवान् से है। स्थान-स्थान पर विष्णु की महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन उदात्त और दार्शनिक दृष्टि से ओत-प्रोत स्तुतियाँ तथा योग और वेदान्त विषयों का यत्र-तत्र सुन्दर वर्णन इस पुराण के विशेष आकर्षण हैं।

पुराण के प्रारम्भ और अन्त में तथा अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर एकमात्र विष्णु को ही सब देवों में वरिष्ठ, सर्वदेवमय, सृष्टि का रचयिता, पालक, संहारक और अतएव एकमात्र उपास्य देव कहा गया है।[1]

यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार वैष्णव-संप्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने पर भी, विष्णु-पुराण का मौलिक आधार औपनिषद अध्यात्म-चिन्तन पर ही है। पुराण के प्रारम्भ में ही उपनिषदत्प्रतिपाद्य ब्रह्म को समस्त विश्व-प्रपञ्च का मूलतत्त्व मानकर प्रश्न उठाया गया है :

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः ।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपगम्यते ॥

(वि० पु० १।३।१)

अर्थात्, (श्री मैत्रेय श्री पराशर से पूछते हैं) जो ब्रह्म वास्तव में निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसीका सर्ग आदि का कर्ता होना कैसे स्वीकार किया जाता है?

---

१. दे० "स एव सृज्यः स च सर्वकर्ता, स एव पात्यत्ति च पाल्यते च। ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्ति-र्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः ॥" (विष्णुपुराण १।२।७०); "प्रोच्यते परमेशो हि यः शुद्धोऽप्युप-चारतः। प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेहिनाम् ॥" (विष्णुपुराण १।९।४६); "प्रदिशतु भगवानशेषपुंसां हरिरपजन्मजरादिकां स सिद्धिम्।" (विष्णुपुराण ६।८।६४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्टतः यह प्रश्न वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म को लेकर ही किया गया है। इसके उत्तर में ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति से ही विश्व की सृष्टि आदि की व्याख्या तथा मूलतः ब्रह्माभिन्न विष्णु के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। विष्णु के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में यही विचारधारा समस्त विष्णु-पुराण में ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ, निम्नस्थ कुछ उद्धरणों को ही देखिए :

शुद्धः सँल्लक्ष्यते भ्रान्त्या गुणवानिव योऽगुणः।
तमात्मरूपिणं देवं नताः स्म पुरुषोत्तमम्॥
अविकारमजं शुद्धं निर्गुणं यन्निरञ्जनम्।
नताः स्म तत्परं ब्रह्म विष्णोर्यत्परमं पदम्॥

(वि० पु० १।१४।३७-३८)

अर्थात्, हम उस पुरुषोत्तम को नमस्कार करते हैं, जो शुद्धस्वरूप है, जो गुणों से रहित होते हुए भी भ्रान्ति से गुणवान् जैसा प्रतीत होता है और जो आत्मरूपी देव है।

हम उस परब्रह्म को नमस्कार करते हैं, जो विकार से रहित, अज, शुद्ध, निर्गुण और निरञ्जन है। जो विष्णु का परम पद है।

यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्पन्नं मत्पुरःसरम्।
सर्वभूतश्च यो देवः पराणामपि यः परः॥
परः परस्मात्पुरुषात् परमात्मस्वरूपधृक्।

(वि० पु० १।९।४२-४३)

अर्थात्, (ब्रह्मा हरि की स्तुति करते हुए कहते हैं) मेरे सहित समस्त जगत् जिसमें स्थित है, जिससे उत्पन्न हुआ है, जो देव सर्वभूतमय है और जो परों से भी पर है, जो पर-पुरुष से भी पर है और परमात्म-स्वरूप है।

यत्रोतमेतत् प्रोतं च विश्वमक्षरमव्ययम्।
आधारभूतः सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः॥
ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः॥

(वि० पु० १।१९।८३-८४)

अर्थात्, जिनमें यह संपूर्ण विश्व ओत-प्रोत है, वे अक्षर, अव्यय और सबके आधारभूत भगवान् हरि मुझ पर प्रसन्न हों।

ॐ (उन भगवान् विष्णु को) नमस्कार है—उन्हें बार-बार नमस्कार है जिनमें सब कुछ स्थित है, जिनसे सब उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं सर्व-रूप हैं और सबके आश्रय हैं।

यन्नः शरीरेषु यदन्यदेहे-
ष्वशेषवस्तुष्वजमक्षयं यत्।
तस्माच्च नान्यद् व्यतिरिक्तमस्ति
ब्रह्मस्वरूपाय नताः स्म तस्मै॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकलमिदमजस्य यस्य रूपं
परमपदात्मवतः सनातनस्य ।
तमनिधनमशेषबीजभूतं
प्रभुममलं प्रणताः स्म वासुदेवम् ॥
(वि० पु० ३।१७।३३-३४)

अर्थात्, जो हमारे शरीर में, अन्य प्राणियों के शरीरों में तथा समस्त वस्तुओं में वर्तमान है, अजन्मा और अक्षय है और जिससे अतिरिक्त और कोई भी नहीं है, उस ब्रह्म-स्वरूप को हम नमस्कार करते हैं ।

परमपद ब्रह्म ही जिनकी आत्मा है ऐसे जिन सनातन अजन्मा भगवान् का यह सकल प्रपञ्च रूप है, उन प्रभु वासुदेव को, जो सबके बीजभूत, अविनाशी और निर्मल हैं, हम नमस्कार करते हैं ।

विष्णुपुराण (५।७।५९) में स्पष्ट शब्दों में कालियनाग के दमन के अनन्तर नागपत्नियों ने भगवान् कृष्ण की स्तुति में उनको 'हे वेदान्तवेद्य' (वेदान्त अथवा उपनिषदों द्वारा जिनका ज्ञान हो सकता है) इस प्रकार सम्बोधित किया है ।

इस प्रकार सांप्रदायिक दृष्टि से एक वैष्णव पुराण होते हुए भी विष्णुपुराण अन्ततोगत्वा औपनिषद दर्शन पर ही आधृत है ।

देवीभागवत

श्रीमद्भागवत का जैसे वैष्णव-संप्रदाय से सम्बन्ध है, इसी प्रकार देवीभागवत का सम्बन्ध शाक्त-संप्रदाय से है । इसमें परमात्मा की परा शक्ति का उत्कर्ष, उपासना की दृष्टि से, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दिखलाया गया है ।

देवीभागवतमाहात्म्य में देवी (जगदम्बिका) की स्तुति इस प्रकार की गयी है:

यस्याः प्रभावमखिलं नहि वेद धाता
नो वा हरिर्न गिरिशो नहि चाप्यनन्तः ।
अंशांशका अपि च ते किमुतान्यदेवास्
तस्यै नमोऽस्तु सततं जगदम्बिकायै ॥
यत्पादपङ्कजरजः समवाप्य विश्वं
ब्रह्मा सृजत्यनुदिनं च बिभर्त्ति विष्णुः ।
रुद्रश्च संहरति नेतरथा समर्थास्-
तस्यै नमोऽस्तु सततं जगदम्बिकायै ॥
(५।९८-९९)

अर्थात्, जिसके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्मा, न हरि, न शिव और न अनन्त (शेषनाग) ही जानते हैं । ये सब भी उसके अंश के अंश हैं । फिर अन्य देवों के विषय में क्या कहा जाय ? उस जगदम्बिका के लिए हमारा सदा नमस्कार हो ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसके पाद-पङ्कज की रज को पाकर ब्रह्मा विश्व का सर्जन करते हैं, विष्णु बराबर पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। अन्यथा जो (सर्जन, पालन और संहार में) समर्थ नहीं हैं। उस जगदम्बिका के लिए हमारा सदा नमस्कार हो।

जगदम्बिका की महिमा के इसी प्रकार के वर्णन से समस्त देवीभागवत ओत-प्रोत है। स्पष्टतः अन्य पुराणों के समान यह भी एक सांप्रदायिक पुराण है।

परन्तु जहाँ कहीं भी दार्शनिक दृष्टि से देवी के स्वरूप का वर्णन किया गया है वहाँ निश्चय रूप से, औपनिषद विचारधारा का आश्रय लेकर, देवी को वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म से अभिन्न अथवा तद्रूप ही बतलाया गया है। उदाहरणार्थ नीचे के स्थलों को देखिए :

ते वै शक्तिं परां देवीं ब्रह्माख्यां परमात्मिकाम्।
ध्यायन्ति मनसा नित्यं नित्यां मत्वा सनातनीम्॥

(देवी भागवत १।८।४७)

अर्थात्, वे (ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर) उस परा शक्ति देवी का, जिसको ब्रह्म कहते हैं, जो परमात्मा-रूप है, उसको नित्य और सनातन मानकर, सदा मन से ध्यान करते हैं।

या शक्तिः परमात्मासौ योऽसौ सा परमा मता।
अन्तरं नैतयोः कोऽपि सूक्ष्मं वेद च नारद!॥

(दे० भा० ३।७।१५)

अर्थात् (ब्रह्मा कहते हैं) हे नारद! जो देवी शक्ति है वही परमात्मा है, जो परमात्मा है, वही देवी है। इन दोनों में किंचिन्मात्र भी भेद को कोई नहीं जानता।

देवीभागवत (स्कन्ध ७, अध्याय ३६) में पर्याप्त विस्तार से ब्रह्मरूप में देवी के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण में

..................ध्यायेन्मां ब्रह्मरूपिणीम्।
भक्त्या निर्व्याजया राजन्नासने समुपस्थितः॥

(दे० भा० ७।३६।१)

[अर्थात्, (नगेश्वर हिमालय को उपदेश देते हुए देवी स्वयं कहती हैं) हे राजन्! आसन पर बैठकर निर्व्याज भक्ति से, जो मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ, उसका ध्यान करे।] इन शब्दों में देवी के मुख से ही देवी का ब्रह्म-रूप में ध्यान और उपासना का प्रतिपादन करके शब्दशः मुण्डकोपनिषद् (२।२।१-११) की श्रुतियों द्वारा भगवती का औपनिषद ब्रह्म के साथ अभेद सिद्ध किया गया है।

ऐसे ही और भी अनेक स्थल इस पुराण से उद्धृत किये जा सकते हैं।[1]

---

1. तु० देवीभागवत १२।८; जहाँ देवी के महत्त्व को दिखाने के लिए केनोपनिषद् की कथा दी गयी है। इसी कथा के प्रसंग में देवी ने कहा है—"अत ऊर्ध्वं परं ब्रह्म मद्रूपं रूपवर्जितम्" (१२।८।७४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इससे भी सांप्रदायिक पौराणिक साहित्य का, दार्शनिक दृष्टि से, औपनिषद आधार स्पष्ट हो जाता है।

स्कन्दपुराणान्तर्गत सूतसंहिता

स्कन्दपुराण एक विशिष्ट शैव-पुराण के रूप में प्रसिद्ध है। यह एक विशाल परिमाण का महापुराण है। इसके अनेक खण्ड अथवा भाग प्रसिद्ध हैं। उन्हीं में से एक सूतसंहिता है।

सूतसंहिता में चार खण्ड हैं। पहले खण्ड का नाम शिवमाहात्म्य खण्ड है। इसमें शिव के माहात्म्य का बड़ा प्रभावशाली वर्णन है। इसमें भगवान् रुद्र स्वयं कहते हैं :

सोऽब्रवीद् भगवान् रुद्रः पशूनां पतिरीश्वरः।
सर्वज्ञः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः॥
अहमेको जगद्धातुरासं प्रथममीश्वरः।
वर्तामि च भविष्यामि न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन॥

(१।२।७-८)

अर्थात्, पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब तत्त्वों के मूलतत्त्व तथा सनातन भगवान् रुद्र ने कहा कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से भी पहले मैं ही अकेला ईश्वर था, वर्तमान में भी मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं ही एकमात्र ईश्वर रहूँगा। मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।

इस प्रकार स्कन्दपुराण में और विशेषत: सूतसंहिता में सर्वत्र शिव को ही देवाधिदेव परमेश्वर माना गया है। सूतसंहिता में भगवान् शिव को लेकर सांप्रदायिक भावना यहाँ तक संकीर्ण हो जाती है कि शिव को जो परमदेव नहीं मानते हैं उनके प्रति अति कठोर वाक्यों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ देखिए :

शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम्।
शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवयात्रापरायणैः॥
शिवापराधनिष्ठानां छेदनं परया मुदा।
शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवाराधनतत्परैः॥
भस्मसाधननिष्ठानां दूषकस्य मुनीश्वराः।
छेदनं शिरसः साक्षाच्छिवभक्तिरुदीरिता॥

(४।२६।२६-२७,२९)

अर्थात्, शिव-यात्रा में जो तत्पर हैं उन्होंने कहा है कि शिव-यात्रा में तत्पर लोगों के जो बाधक हैं उनको बाधा पहुँचाना शिव-भक्ति ही है।

शिव की आराधना में जो तत्पर हैं उन्होंने कहा है कि शिव के प्रति अपराध करनेवालों को नष्ट कर देना शिव-भक्ति ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हे मुनीश्वर लोगो ! भस्म लगाने में निष्ठा रखनेवालों के प्रति जो क्रूर व्यवहार करता है उसका सिर काट डालना साक्षात् शिव-भक्ति कही गयी है।

इस प्रकार शैवसंप्रदाय की संकीर्ण भावना से ओत-प्रोत होते हुए भी, यह ध्यान देने की बात है कि सूतसंहिता की दार्शनिक पृष्ठभूमि पूर्णरूपेण औपनिषद धारा की ही है। उदाहरणार्थ देखिए :—

ब्रह्मणोऽन्यत्सदा नास्ति वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च।
तथा सति शिवादन्यत्कथं पश्यति तत्त्ववित्॥
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च।
तथा सति शिवज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम्॥
तस्मादस्ति महादेव एव साक्षात्स्वयं प्रभुः।
आनन्दरूपः संपूर्णो न ततोऽन्यत्तु किंचन॥

(४। ब्रह्मगीता ४।५५,६२,६६)

अर्थात्, वास्तव में और अवास्तव में भी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञानी शिव (= परमशिव) से अतिरिक्त वस्तु को कैसे देख सकता है?

वास्तव में और अवास्तव में भी केवल ब्रह्म की ही साक्षात् सत्ता है। ऐसी स्थिति में शिवतत्त्व के ज्ञाता के लिए कोई वस्तु हेय या उपादेय नहीं है।

इसलिए केवल महादेव ही साक्षात् स्वयं प्रभु और संपूर्ण आनन्दरूप हैं। उनके अतिरिक्त और कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

यही नहीं, सूतसंहिता के अन्तिम भाग में तो कई अध्यायों में शब्दतः अथवा अर्थतः कई उपनिषदों के पदार्थ का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे, चतुर्थ खण्ड (यज्ञवैभवखण्ड) के उपरिभाग ब्रह्मगीता के दसवें अध्याय का नाम ही 'बृहदारण्यकव्याख्याकथन' रख दिया गया है। एवं अध्याय ११ में पद्य १ से ५६ तक कठोपनिषद् का तात्पर्य और पद्य ५७ से ७२ तक श्वेताश्वतरोपनिषद् का व्याख्यान दिया गया है। इसी प्रकार कई अन्य अध्यायों में छान्दोग्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् आदि के तात्पर्यों को दिखाते हुए वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म के साथ भगवान् शिव का अभेद सिद्ध किया गया है। इसीलिए इस प्रकरण को 'ब्रह्मगीता' यह नाम दिया गया है।

उक्त प्रतिपादनों से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यान्य संप्रदायों की अपेक्षा शैव-संप्रदाय का औपनिषद धारा के साथ घनिष्ठ सान्निध्य रहा है, या, कम-से-कम, दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

धर्मशास्त्र पर औपनिषद प्रभाव

मनुस्मृति

वैदिक धारा के अनन्तर सामान्य रूप से भारतीय (विशेषतः हिन्दू) धार्मिक आचार-विचार का आधार परम्परा से पुराणों और धर्मशास्त्र पर रहा है। ऊपर हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरणरूप से विभिन्न पुराणों पर औपनिषद धारा का प्रभाव दिखला चुके हैं। जहाँ तक धर्मशास्त्र का सम्बन्ध है हम सबसे प्रथम मनुस्मृति को ले सकते हैं। स्मृति-कालीन धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में निर्विवाद रूप से मनुस्मृति का महत्त्व सबसे अधिक है।

मनुस्मृति के अन्तिम भाग में, मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए स्पष्ट रूप से निःश्रेयस अथवा अमृतत्व की प्राप्ति, ब्रह्मपदावाप्ति और एकात्म-दर्शन अथवा आत्मज्ञान की चर्चा की गयी है। इस प्रकरण के पठन-मात्र से मनुस्मृति पर औपनिषद विचारधारा का गहरा प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है। उदाहरणार्थ देखिए :

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥

(मनु० १२।१०४, १२५, ८५, ९१, ११९)

अर्थात्, विप्र के लिए तप और विद्या ही विशेषतः निःश्रेयस को देनेवाले होते हैं। वह तप से पाप को विनष्ट कर देता है और विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है।

जो इस प्रकार स्वयं अपनी आत्मा को सब प्राणियों में वर्तमान देखता है, वह सर्वत्र समता का अनुभव करते हुए ब्रह्म-प्राप्ति-रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त वेदाभ्यास आदि सबमें आत्म-ज्ञान सबसे उत्कृष्ट वस्तु मानी गयी है। सब विद्याओं में वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे अमृत-पद की प्राप्ति होती है।

साम्य-भाव से सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने-वाला आत्म-ज्ञानी ब्रह्म-रूप स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है।

समस्त देवता वास्तव में आत्मा से अभिन्न हैं। सब कुछ आत्मा में ही अवस्थित है। इन शरीरधारियों के कर्म-सम्बन्धों का नियमन आत्मा द्वारा ही होता है।

औपनिषद धारा के विकास में संन्यासाश्रम का क्रमशः प्रारम्भ हुआ था और शनैः-शनैः संन्यास औपनिषद अध्यात्मविद्या का प्रधान अंग बन गया, यह हम ऊपर (परिच्छेद १० में) दिखला चुके हैं। अतः मनुस्मृति के संन्यास-प्रकरण में औपनिषद विचारों की गहरी छाप का पाया जाना स्वाभाविक है। जैसे :

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

(मनु० ६।३९,८१-८२,८५)[1]

अर्थात्, जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से संन्यास लेकर प्रव्रज्या करता है, उस ब्रह्मवादी को प्रकाशमय लोक प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त विधि से शनैः शनैः सब संगों को छोड़कर सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होकर (वह यती) ब्रह्म में ही अवस्थित हो जाता है।

जो ऊपर के पद्य में सब संगों के त्याग और द्वन्द्वों से विनिर्मुक्ति का कथन किया गया है वह सब (परमात्मा के) ध्यान से ही हो सकता है। जो अध्यात्म-ज्ञान से रहित है वह उपर्युक्त सफलता को नहीं पाता है।

(उपर दिखलाये हुए) इस क्रमिक अनुष्ठान से जो द्विज संन्यासाश्रम का ग्रहण करता है, वह इस लोक में पाप को नष्ट करके परब्रह्म को प्राप्त करता है।[2]

साहित्य और औपनिषद धारा

भारतीय साहित्य-शास्त्र के विकास में अन्ततोगत्वा प्रायेण रस के सिद्धान्त को ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। इसीलिए **अग्निपुराण** का कहना है :

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।

अर्थात्, काव्य में वाणी के वैचित्र्य की प्रधानता के होने पर भी रस को ही उसका जीवनाधायक मानना चाहिए।

इसीलिए **साहित्यदर्पण** आदि में काव्य का लक्षण ही इस प्रकार दिया गया है :

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

(साहित्यदर्पण १।३)

अर्थात्, रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, रस ही काव्य की आत्मा है।

१. इस प्रसङ्ग में औपनिषद श्रुतियों के सम्बन्ध में मनुस्मृति के इस पद्य को भी देखिए : "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ (मनु० ६।२९)।

२. इसी प्रकार के औपनिषद विचारधारा के प्रभाव के लिए देखिए याज्ञवल्क्य-स्मृति ३।६७; ३।११०, ११२; ३।१८९, १९१–१९६ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रस पदार्थ की व्याख्या में अन्ततः तैत्तिरीयोपनिषद् की निम्नस्थ श्रुति का ही उल्लेख किया जाता है :

"रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
...एष ह्येवानन्दयाति।"

(तै० उ० २।७)

अर्थात्, सर्वान्तर्यामी ब्रह्मतत्त्व ही वास्तव में रस है। प्रत्येक मनुष्य का आनन्दानुभव रस की उपलब्धि में ही निहित है। ब्रह्म ही वास्तव में आनन्द का मूल स्रोत है।[1]

इस प्रकार साहित्य-शास्त्र में रस को मूलतः ब्रह्मस्वरूप मानकर ही रस के आस्वादन को 'ब्रह्मास्वादसहोदर' अर्थात् ब्रह्म के आस्वाद के सदृश बतलाया गया है।[2]

इस प्रकार साहित्य-शास्त्र के विकास पर औपनिषद विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

व्याकरण-शास्त्र और औपनिषद धारा

आपाततः व्याकरण-शास्त्र का औपनिषद विचारधारा से कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। परन्तु जिन मनीषियों ने व्याकरण की आधारभूत दार्शनिक दृष्टि का विचार किया है उन्होंने व्याकरण-प्रतिपाद्य शब्द-तत्त्व को मूलतः वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप मूल-तत्त्व से अभिन्न ही माना है।

व्याकरण-दर्शन का मुख्य ग्रन्थ भर्तृहरिकृत सुप्रसिद्ध वाक्यपदीय ही है। उसका प्रारम्भ ही इस पद्य से होता है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

(वाक्यपदीय १।१)

अर्थात्, आदि और अन्त से रहित जो अविनाशी ब्रह्म-रूप शब्द-तत्त्व है उसका ही अर्थ-रूप में विवर्त[3] होता है जिससे संसार का कार्य चलता है।

आगे चलकर पुनः ग्रन्थकार कहते हैं :

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते॥

(वाक्यपदीय १।२२)

---

१. तु० "स एष रसानाँ रसतमः परमः परार्द्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" (छा० उ० १।१।२)।

२. तु० "सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥ लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥" (साहित्यदर्पण ३।२–३)।

३. "एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः।" (वाक्यपदीय १।१ पर पुण्यराज की टीका)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, प्रक्रियाओं के भेद से जो व्याकरण एक होता हुआ अनेक प्रकार से प्रविभक्त हो जाता है, उस व्याकरण को तत्त्वतः जानकर मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार व्याकरण-दर्शन मूलतः शब्दतत्त्व को ब्रह्म-रूप से अभिन्न मानते हुए व्याकरण को परब्रह्म की प्राप्ति का साधन मानता है।

यहाँ व्याकरण-शास्त्र पर औपनिषद विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।[1]

इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न क्षेत्रों पर औपनिषद धारा के व्यापक प्रभाव को दिखाकर अब हम, संक्षेप रूप में ही, भारतीय उत्तरवर्ती धाराओं पर उसका गहरा प्रभाव दिखाना चाहते हैं।

सन्त-धारा और औपनिषद धारा

भारतीय संस्कृति के विकास को हम जिन अनेक खण्डों में दिखाना चाहते हैं, उनमें से तीन का सम्बन्ध जैनधारा, बौद्धधारा और सन्तधारा से होगा, यह हम प्रथमखण्ड की प्रस्तावना में कह चुके हैं।

उक्त धाराओं का मौलिक सम्बन्ध वैदिक धारा से नहीं था, ऐसा हम यथास्थान दिखलायेंगे। तो भी विचारों के स्वाभाविक घात और प्रतिघात के कारण उनका एक-दूसरे से प्रभावित होना अनिवार्य था। फिर, भारतवर्ष में परस्पर विरोधी अथवा असम्बद्ध तत्त्वों के समन्वय की प्रवृत्ति बराबर चलती रही है, यह भी हमें न भूलना चाहिए।

सन्त-धारा के सिद्ध-, नाथ- और भक्ति-संप्रदायों या पक्षों का विकास भी उक्त प्रवृत्तियों के आधार पर ही हुआ था।

सन्त-धारा और औपनिषद धारा के पारस्परिक प्रभाव के सम्बन्ध में विद्वानों में दो मत नहीं हो सकते। ब्रह्मबिन्दूपनिषद[2], अवधूतोपनिषद जैसी उपनिषदों से औपनिषद धारा पर सन्त-धारा का प्रभाव अनिर्विवाद है।

इसी प्रकार कबीर, गुरुग्रन्थसाहब तथा गोस्वामी तुलसीदास पर, जिनको हम सन्तधारा का प्रतिनिधि कह सकते हैं, औपनिषद विचारधारा का गहरा प्रभाव स्पष्टतया दिखलाया जा सकता है। उदाहरणार्थ देखिए:

सन्त कबीर

सन्त कबीर की दार्शनिक दृष्टि बड़ी विचित्र थी। उसमें अनेक स्रोतों से आने-वाली विचारधाराओं का अनोखा संगम था। तो भी यह कहा जा सकता है कि वह कई अंशों में औपनिषद धारा के समीप है और उससे प्रभावित है।

---

१. तु० "पृच्छामि वाचः परमं व्योम।" "ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम" (ऋग्वेद १।१६४।३४, ३५)। "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥" (मैत्र्युपनिषद् ६।२२)।

२. देखिए : गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह (सरस्वतीभवनग्रन्थमाला नं० १८; १९२५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कबीर अपने परमतत्त्व को 'गुन-अतीत' (गुणातीत), 'निरगुन' (निर्गुण), 'निराकार', 'अलख' (अलक्ष्य , अनिर्वचनीय), 'निरञ्जन', जैसे विशेषणों से प्रायः स्मरण करते हैं। स्पष्ट ही ये विशेषण औपनिषद ब्रह्मन् में पूर्णतया गतार्थ होते हैं। वे स्वयं भी उस परमतत्त्व को प्रायः 'ब्रह्म' कहते हैं।[१]

सिक्खों के मान्य ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थसाहिब' में सिक्ख गुरुओं की रचनाओं के अतिरिक्त अन्य संतों के वचन भी संगृहीत हैं। उनमें कबीर साहब की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं। उन्हीं रचनाओं में एक वचन यह है :

कोटि जग जाकै दरबार।
गंध्रब कोटि करै जैकार।
बिद्दिआ कोटि सभै गुन कहै।
तऊ पार ब्रहम का अंत न लहै ॥

(गुरुग्रन्थसाहिब, रागु भैरउ, पद २०)

इसी प्रकार के अन्य अनेक वचनों से कबीर पर औपनिषद विचारधारा का गहरा प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

गुरु-ग्रन्थ-साहिब

सिक्ख-गुरुओं की रचनाओं के अतिरिक्त गुरु-ग्रन्थ-साहिब में अन्य अनेक सन्तों की रचनाएँ भी संगृहीत हैं, यह हमने ऊपर कहा है। इस दृष्टि से इसको हम सन्त-धारा का एक प्रामाणिक ग्रन्थ कह सकते हैं।

गुरुग्रन्थसाहिब आदि से अन्त तक वेदान्त-विचारधारा से ओत-प्रोत है, यह प्रसिद्ध है। इस कथन की पुष्टि में हम अनेक उद्धरण न देकर केवल एक महत्त्व का प्रमाण देना पर्याप्त समझते हैं।

गुरुग्रन्थसाहिब के ही अन्तर्गत गउड़ी सुखमनी म० ५ में अनेक प्रकार से परब्रह्म का बड़ा हृदयंगम वर्णन किया गया है। उसीकी आठवीं असटपदी, पूरी की पूरी, ब्रह्मज्ञानी के लक्षणों का बड़ा सुन्दर वर्णन करती है। उदाहरणार्थ, इसीप्रकरण के हम केवल दो उद्धरण नीचे देते हैं :

ब्रहमगियानी सदा निरलेप। जैसे जल महि कमल अलेप ॥
ब्रहमगिआनी सदा निरदोख। जैसे सूरु सरब कउ सोख ॥
ब्रहमगिआनी कै द्रसटि समानि। जैसे राज रंक कउ लागै तुलि पवान ॥
ब्रहमगिआनी कै धीरजु एक। जिउ बसुधा कोऊ खोदै कोऊ चंदन लेप ॥
ब्रहमगिआनी का इहै गुनाउ। नानक जिउ पावक का सहज सुभाउ ॥१॥
ब्रहमगिआनी ब्रहम का बेता। ब्रहमगिआनी एक संगि हेता ॥

---

१. देखिए : 'कबीरग्रन्थावली', साखी २० (पृ० २९), ५ (पृ० ८६); पद ४२ (पृ० १०२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मगिआनी कै होइ अचिंत । ब्रहमगिआनी का निरमल मंत ॥
ब्रहमगिआनी जिसु करै प्रभु आपि । ब्रहमगिआनी का बड परताप ॥
ब्रहमगिआनी का दरसु बड़भागी पाईऐ । ब्रहमगिआनी कउ बलि बलि जाईऐ ॥
ब्रहमगिआनी कउ खोजे महेसुर । नानक ब्रहमगिआनी आप परमेसुर ॥ ६ ॥
(गुरुग्रन्थसाहिब, गउड़ी सुखमनी म० ५।८।१,६)

इन उद्धरणों का अभिप्राय स्पष्ट है । इसी प्रकार औपनिषद विचारधारा से गुरुग्रन्थसाहिब ओत-प्रोत है ।

भक्त गोस्वामी तुलसीदास

रामचरितमानस के कर्ता गोस्वामी तुलसीदास वास्तव में भक्त कवि हैं । दशरथ-सुत राम उनके इष्टदेव हैं । उनके पूर्वगामी कबीर और नानक ने जहाँ अव्यक्त; निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया था, वहाँ तुलसीदास रघुवीर श्रीरामचन्द्र की भक्ति को ही जन-मानस में बिठाना चाहते थे । इसीलिए उनके रामचरितमानस से निकली हुई भक्ति-मन्दाकिनी अपने सुधा-सम भक्ति-रस के प्रवाह से समस्त भारत को आह्लादित और आप्लावित करने में समर्थ हो सकी ।

प्रश्न यह है कि तुलसीदास अपने उक्त लक्ष्य की प्राप्ति में कैसे सफल हो सके ? इसका कारण यही था कि उन्होंने अपने इष्टदेव राम को केवल भगवान् का अवतार ही नहीं, प्रत्युत वास्तव में वेदान्त-प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म से अभिन्न भी माना है । इसी आधार पर वे कबीर और नानक से आगे बढ़ गये और साधारण जनता के मानस को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ हो सके । क्योंकि जहाँ अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को साधारण जनता नहीं समझ सकती, वहाँ मूलतः ब्रह्म-रूप में वर्णित पर वास्तव में मानव-रूपधारी भगवान् की भक्ति में उसका मन स्वभावतः लग जाता है ।[1]

सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में दी गयी राम की स्तुति उक्त दृष्टि से द्रष्टव्य है :

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥

अर्थात्, शान्त, शाश्वत, अप्रमेय, निष्पाप, मोक्ष-रूप शान्ति के देनेवाले, ब्रह्मा, शिव और शेषजी द्वारा निरन्तर सेवनीय, वेदान्त द्वारा जानने योग्य, सर्वव्यापक, जगदीश्वर, देवों में प्रधान, माया से मनुष्य-रूप-धारी, करुणा की खान, रघुकुल में श्रेष्ठ तथा राजाओं के शिरोमणि, राम कहलानेवाले हरि को मैं प्रणाम करता हूँ ।

---

१. तु० भगवद्गीता १२।३—५ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization: eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस स्तुति में शान्त, शाश्वत, अप्रमेय, निर्वाण-शान्तिप्रद और वेदान्तवेद्य ये विशेषण विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। वे स्पष्ट रूप से मानवी राम को वेदान्त के निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से अभिन्न प्रतिपादित करते हैं।

वेदान्त-प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म का वर्णन तुलसीदास ने रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर औपनिषद विचारधारा के अनुसार किया है; जैसे :

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। चिदानंद निरुपाधि अनूपा॥
ब्यापक अकल अनीह अज। निर्गुन नाम न रूप॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड पृ० १२, ७२, ११३)

परन्तु उक्त वर्णनों के साथ ही साथ वे निर्गुण ब्रह्म से अपने आराध्य राम का तादात्म्य भी बतलाते जाते हैं; जैसे :

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यानरूप बलधामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्रगिरागोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड पृ० ५७५-५७६)

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है कि रामचरितमानस में भक्ति-रस की प्रधानता के होने पर भी, उसका दार्शनिक आधार मूलतः औपनिषद धारा पर ही है।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की परम्परा में औपनिषद धारा का अत्यन्त व्यापक प्रभाव और भी उदाहरणों द्वारा दिखलाया जा सकता है। जो बात ऊपर हिन्दी के क्षेत्र में दिखलायी गयी है, वही भारत की अन्य मध्यकालीन अथवा आधुनिक भाषाओं के क्षेत्रों से भी दिखलायी जा सकती है।

आधुनिक भारत में औपनिषद विचारधारा का जो पुनरभ्युत्थान हुआ है, उसका दिग्दर्शन हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्रहवाँ परिच्छेद

उपसंहार

विभिन्न दृष्टियों से भारतीय संस्कृति की औपनिषद धारा के सम्बन्ध में विस्तृत विचार करने के अनन्तर, प्रकृत ग्रन्थ के उपसंहार-स्वरूप इस अन्तिम परिच्छेद में, हम निम्न-निर्दिष्ट विषयों पर कुछ संक्षिप्त ही विचार करना चाहते हैं :

(क) औपनिषद धारा की देन,

(ख) औपनिषद धारा का ह्रास अथवा शैथिल्य,

(ग) औपनिषद धारा का पुनरभ्युत्थान अथवा पुनर्जागरण, तथा

(घ) औपनिषद धारा का विश्व को संदेश ।

(क)

औपनिषद धारा की देन

पिछले परिच्छेद ('औपनिषद धारा का व्यापक प्रभाव') में हमने कहा है कि भारतीय संस्कृति की उत्तरोत्तर धाराओं के अध्यात्म-चिन्तन का आधार, साक्षात् या असाक्षात् रूप से, प्रायेण औपनिषद धारा पर रहा है। उसी परिच्छेद में आगे चलकर हमने कुछ विस्तार से स्पष्टतया सिद्ध किया है कि उत्तरकालीन संप्रदायों और चिन्तन पर किसी-न-किसी रूप में औपनिषद धारा की छाप प्रायः बराबर दिखायी देती है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की परम्परा में औपनिषद धारा के व्यापक प्रभाव के स्पष्ट होने पर भी प्रश्न उठता है कि समष्टि रूप से औपनिषद धारा की स्थायी देन हमारे लिए क्या है ? यहाँ संक्षेप में हम इसी प्रश्न पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

प्रगाढ़ आत्म-विश्वास

औपनिषद धारा की सबसे प्रमुख देन को हम प्रगाढ़ तथा अटूट आत्म-विश्वास इन शब्दों में कह सकते हैं।

साधारणतया मनुष्य स्वभाव से अपने को दुर्बल और निःसहाय समझता है। जीवन के प्रारम्भ में वह अपने को वस्तुतः ऐसा ही पाता है। आगे चलकर व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करने पर वह देखता है कि वह परिस्थितियों के प्रवाह में बहता हुआ उनके प्रबल आवेगों की टक्करों से सदा पीडित रहता है। बाह्य जगत् की विभिन्न परिस्थितियों के समान ही उसकी आन्तरिक अवस्थाएँ भी उसे विक्षिप्त-सा बनाये रखती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद-पद पर वह अपने जीवन की प्रगति को तरह-तरह की विघ्न-बाधाओं से व्याप्त पाता है। नाना प्रकार के रोग, वृद्धावस्था की असमर्थता और इष्टमित्रों के वियोग की संभावनाओं से उसका वारि-तरङ्ग-चंचल और मरणशील जीवन सदा भय और आशङ्काओं से आतङ्कित रहता है। अपने हृदय की कामनाओं में वह कुछ रस अवश्य लेता है, परन्तु अन्त में वह उन्हीं कामनाओं को अपनी आन्तरिक अशान्ति का मूल कारण पाता है।[1]

अनादि काल से मनुष्य के जीवन की यही गति रही है।

उक्त प्रकार से दुर्बल, निःसहाय, भयभीत और अशान्त मानव ने ही समय-समय पर अनेकानेक धार्मिक संप्रदायों का निर्माण किया और उनमें ही अपना सहारा ढूँढा। तत्तत् संप्रदायों की प्रार्थनाओं और धार्मिक क्रिया-कलाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सब बहुत करके मनुष्य की उपर्युक्त दुर्बल, भय से विह्वल और अशान्त भावनाओं पर ही आधृत हैं।[2]

मानव की उक्त दयनीय अवस्था के साम्मुख्य में औपनिषद धारा प्रथमतः उसे अपने अथवा अपनी आत्मा के शाश्वत, अजर, अमर, अभय और स्वभावतः आनन्दमय स्वरूप[3] का बोध कराती है। तदनन्तर वह बतलाती है कि वह बाह्य अथवा आन्तरिक परिस्थितियों का, अवस्थाओं का दास, शिकार या खिलौना नहीं है। वह स्वयं ही तो इस दृश्यरूप समस्त विश्व का द्रष्टा और भोक्ता है। मानो इस सारे विश्व की स्थिति उसीके लिए है।

आत्म-स्वरूप-विद् तत्त्वज्ञानी की उपर्युक्त विचारधारा का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं :

---

१. तु० "आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते, लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः। जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्, तत्किं नाम निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम्॥" (वैराग्यशतक १०४)। तथा "स्वल्पेऽपि कारणे हर्षमुद्वेगं मोहमेव वा। भजमानो विमूढात्मा कामकामी न शान्तिभाक्॥ तरङ्गैरुह्यमानस्य विवशस्य कथा यथा। तथा भावतरङ्गौघैर्विक्षिप्तानां कथा नृणाम्॥" (जीवनज्योतिः १४।३४-३५)।

२. तु० "किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः, स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः। मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं, स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥" (वैराग्यशतक ७९)।

३. दे० जीवनज्योतिः १३।३४–३९ (आत्मनः स्वरूपम्) : "न्यूनताभावनामूलो दुःखस्यानुभवो यतः। तत आत्मा स्वभावेन पूर्णोऽस्तीति श्रुतेर्वचः॥ सुखेप्साप्रेरितो मर्त्यो यत्र तत्रानुधावति। आनन्दरूप आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः॥ जरामृत्युभयेनार्ता मानवा दुःखकातराः। आत्माऽमृतस्वभावोऽयमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः॥ रागद्वेषमहाव्याधित्रस्ताः प्रायेण मानवाः। वस्तुत आत्मनोऽद्वैतमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः॥ अवसादेन लोकोऽयं पङ्के गौरिव सीदति। प्रसादस्रोत आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः॥ यतस्तत्तत्समस्याभिरुद्विग्नं सकलं जगत्। आत्मानमिह जानीथा जन्मनीति श्रुतेर्वचः॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गतागतत्वाद् दृश्यानामस्थिराणां स्वभावतः ।
एकोऽहं निश्चलो द्रष्टा वर्ते, नैवात्र संशयः ॥
अतो मदर्थं दृश्यानि न तदर्थं ममास्तिता ।
ततस्तत्कारणात्क्षोभः सर्वथा न ममोचितः ॥

(अमृतमन्थन ४२)

अर्थात्, दृश्य आने-जानेवाले होने से स्वभाव से ही अस्थिर होते हैं। मैं अकेला उनको देखनेवाला निश्चल रहता हूँ; इसमें सन्देह नहीं है।

अतः दृश्य मेरे लिए हैं; मेरा अस्तित्व दृश्यों के लिए नहीं है। इसलिए दृश्यों के कारण मुझे क्षोभ हो, यह किसी प्रकार उचित नहीं है।

अहंकारेण निर्मुक्तं तत्त्वं यच्छुद्धमव्ययम् ।
तत् त्वं भ्रातर्न जानीषे तत् त्वं तत्ते महद्धनम् ॥
यस्याभीप्साजिहासाभ्यां व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम् ।
सार्थक्यं लभते नूनं यस्यैवेक्षणमात्रतः ॥
महत्त्वममहत्त्वं वा सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
यस्यापेक्षानुपेक्षां वा समाश्रित्यैव तिष्ठति ॥
संस्मृतिस्तस्य तत्त्वस्य नियतं ह्यनपायिनी ।
स्वरूपे संस्थितिः सत्यमात्मसंमानना मता ॥

(अमृतमन्थन ४३)

अर्थात्, अहंकार से निर्मुक्त जो शुद्ध ध्रुव तत्त्व है, भाई तुम उसको नहीं जान रहे हो। वास्तव में तुम वही हो, वही तुम्हारा बड़ा धन है।

जिसकी अपनी अभीप्सा (=प्राप्त करने की इच्छा) और जिहासा (=छोड़ने की इच्छा) से व्याप्त इस त्रिलोकी की सार्थकता उसके ईक्षण-मात्र से सम्पन्न होती है।

प्रत्येक पदार्थ की महत्ता अथवा लघुता का रहस्य जिसकी अपेक्षा अथवा उपेक्षा में ही निहित है।

उसी तत्त्व की निश्चय रूप से अविचल संस्मृति को 'स्वरूपावस्थिति' कहना चाहिए। वास्तव में 'आत्म-संमान की भावना' यही है।

सारवत्त्वमसारत्वं मूल्यवत्त्वमथान्यथा ।
वस्तूनां निर्णयापेक्षि यस्य सोऽहं न संशयः ॥
आहरन्ति बलिं यस्मै दृश्यानीमानि नित्यशः ।
विश्वभुग् विश्वसाक्षी च सोऽहं नैवात्र संशयः ॥
मांसमज्जादिभिः पूर्णो देहोऽयं पूतिपूरितः ।
मनोज्ञो रुचिरश्चापि येन सोऽहं न संशयः ॥

(अमृतमन्थन ४४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, कोई भी पदार्थ सारवान् है अथवा सारहीन, मूल्यवान् है अथवा मूल्यहीन–इस बात में जिसके निर्णय की अपेक्षा की जाती है, निस्सन्देह मैं वही हूँ।

ये सारे दृश्य पदार्थ पूजारूप में जिसके लिए अपने अनुभवों की बलि देते हैं वह विश्व का भोक्ता और साक्षी मैं ही हूँ, इसमें सन्देह नहीं है।

मांस-मज्जा आदि से पूर्ण और दुर्गन्ध से पूरित यह शरीर जिसके कारण सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, निस्सन्देह मैं वही हूँ।

अन्त में आत्मज्ञानी इसी निश्चय पर पहुँचता है :

अवस्थानामहं साक्षी नावस्था ईशते मम।

अर्थात्, बाह्य तथा आन्तरिक अवस्थाओं का मैं केवल साक्षी हूँ। उन अवस्थाओं का मेरे ऊपर कोई भी स्वामित्व नहीं है।

यह ठीक है कि साधारणतया मनुष्य अपने को परिस्थितियों के सामने बेबस और अपनी ही कामनाओं की चपेटों से आहत पाता है। पर इसका कारण उसका अपने स्वरूप का अज्ञान ही है। तत्त्व-विवेचन और अन्तः-समीक्षण से शनैः-शनैः उसको ज्ञान होता है कि वास्तव में वह शुद्ध, बुद्ध, अमृत और शाश्वत है। वह द्वन्द्वातीत है।

यही नहीं, धीरे-धीरे उसको बोध होने लगता है कि उसकी अन्तरात्मा में ही वह अखण्ड परमज्योतिः (ज्योतिषां ज्योतिः) सदा प्रकाशमान हो रही है जो सच्चिदानन्द-रूप है और समस्त विश्व का संचालन कर रही है। उसको साक्षात् अनुभव होने लगता है कि उसकी अहन्ता के पीछे जो शिवरूप परमज्योति है वह सर्वदा अवस्थित है। उसका हृदय आनन्द में विभोर होकर गाने लगता है :

विश्वात्मा भगवान् नूनं
साक्षादानन्दनिर्झरः।
तस्यान्तः संस्थितः स्वस्थः
सदानन्दो वसाम्यहम्॥

(जीवनज्योतिः १६।१०९)

अर्थात्, विश्वात्मा भगवान् साक्षात् आनन्द के निर्झर हैं। मैं अपने स्वरूप में स्थित होकर मानो उन्हीं के अन्दर संस्थित होता हुआ सर्वदा आनन्द में निमग्न रहता हूँ।

अन्त में वह उस विश्वात्मा के साथ, विश्व की समष्टि के साथ, अपने तादात्म्य का साक्षात् अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में उसकी दृष्टि स्वार्थ और परार्थ में भेद नहीं देखती। दोनों का अद्वैत हो जाता है।[१]

इस प्रकार **'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्'** के आधार पर अवस्थित प्रगाढ आत्म-विश्वास को हम औपनिषद धारा की सर्व-प्रमुख देन कह सकते हैं।

---

१. द्र० "वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः। एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः॥" (अमृतमन्थन १०१५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह आत्मविश्वास स्वभावतः मानव के अपने व्यक्तित्व में ही सीमित न रह कर क्रमशः विश्वव्यापी बन जाता है। उस अवस्था में यावद्-विश्व की समष्टि के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। औपनिषद धारा की परिभाषा में इसीको आत्म-संस्थ की ब्राह्मी स्थिति कहा गया है।

नैतिकता की दृष्टि

ऊपर दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से औपनिषद धारा की देन को हमने दिखलाया है। स्वभावतः इसमें नैतिकता की दृष्टि से उसकी देन की बात भी गतार्थ है। पिछले एक परिच्छेद (परिच्छेद ११) में औपनिषद धारा की व्यापक और मौलिक नैतिक दृष्टि को हम दिखला चुके हैं। उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। उससे यह स्पष्ट है कि अन्तः-समीक्षण से पुरस्कृत, श्रेयस् और प्रेयस् मार्गों के विवेक से सहकृत और अध्यात्म-तत्त्वज्ञान पर आधृत नैतिकता की दृष्टि को हम वास्तव में औपनिषद धारा की अद्भुत देन कह सकते हैं। स्वभावतः वह अत्यन्त गहरी और व्यापक है।

सामाजिक दृष्टि

औपनिषद धारा का मुख्य क्षेत्र आध्यात्मिक है। मनुष्य के जीवन की मौलिक दृष्टि भी अध्यात्म-मूलक ही है। अतः ऐसा हो ही नहीं सकता कि भारतीय संस्कृति की सामाजिक दृष्टि औपनिषद धारा से अप्रभावित हो। वस्तुतः सामाजिक क्षेत्र में औपनिषद धारा की देन को अनेक रूपों में दिखलाया जा सकता है। जैसे :

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (वैदिक धारा परिच्छेद ७,९,१०) में हम दिखला चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा में जन्म-मूलक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो चुका था और उसमें रूढि-मूलकता भी आ गयी थी। क्रमशः वह रूढि-मूलकता पुष्ट होती गयी और ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में उसमें पर्याप्त दृढता आ गयी थी। भविष्य में वह विषाक्त हो गयी। तो भी भारतीय संस्कृति की जीवन-धारा चलती रही, सर्वथा नष्ट नहीं हो गयी, इसका एक मुख्य कारण औपनिषद धारा ही थी।

औपनिषद धारा का सारा बल मनुष्य के बाह्य आडम्बर या कृत्रिम सामाजिक भेद-भावना पर न होकर, उसके अध्यात्म पर था जो मूलतः मनुष्य-मात्र में वर्तमान है। इस दृष्टि को हम एक प्रकार से 'आध्यात्मिक साम्यवाद' कह सकते हैं।[1] अतएव औपनिषद धारा में, जैसा कि सत्यकाम आदि के उल्लेखों में हम स्थान-स्थान पर दिखला चुके हैं, रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था की परम्परा की प्रायः अवहेलना की गयी है।

---

[1] तु० "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशोप० ७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वहाँ स्पष्टतया अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मणों का ब्रह्मविद् क्षत्रिय राजाओं की सेवा में उपस्थित होकर उनका अन्तेवासी बनना भी दिखलाया गया है।

रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में औपनिषद धारा की मौलिक उदार दृष्टि का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उपनिषत्काल से लेकर, उपनिषदों की परिभाषा में, 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ ही बदल गया।

हम अन्यत्र दिखला चुके हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त 'ब्राह्मण' शब्द के समान जाति के अर्थ में प्रयुक्त 'ब्राह्मण' शब्द का सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्ड अथवा अधिक से अधिक वेद (= ब्रह्म) से था। परन्तु उपनिषत्काल से लेकर उसका सम्बन्ध वेदान्त-प्रतिपाद्य 'ब्रह्मन्' से हो गया। उपनिषदों के अनेकानेक स्थल इस बात की पुष्टि करते हैं।[१] अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे स्थल उपलब्ध हैं। आज की लोक-प्रसिद्धि में भी 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' (= ब्रह्म को जाननेवाले को ब्राह्मण कहते हैं) ऐसा माना जाता है। **धम्मपद** के सुप्रसिद्ध ब्राह्मणवग्ग में भी 'ब्राह्मण' शब्द का ऐसा ही आध्यात्मिक अर्थ दिखलाया गया है।[२] गीता को भी 'ब्राह्मण' शब्द की ऐसी ही उदार व्याख्या अभीष्ट है।[३]

औपनिषद धारा के भविष्य-विकास पर उक्त उदार दृष्टि का स्थायी प्रभाव रहा है। यही कारण है कि उत्तरकाल में भी, जब कि अनेक अन्य कारणों से सामाजिक क्षेत्र में वर्ण-भेद तथा जाति-पाँति की पृथक्त्व-भावना में कट्टरता बढ़ती गयी है, वेदान्त के ग्रन्थों में एक ब्रह्म-जिज्ञासु के लिए उक्त भावना को अपने मन से जड़-मूल से हटाने पर ही बल दिया गया है। उदाहरणार्थ, विवेकचूडामणि में, जो श्री शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है, अनेकत्र यही बात कही गयी है।[४]

---

१. तु० "यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा···एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।··· बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" (बृ० उ० ३।५।१)। इसके भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं : "ब्राह्मणा ब्रह्मविदः।" तथा "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" (बृ० उ० ३।८।१०)। इसी सम्बन्ध में देखिए : बृ० उ० ४।४।२१,२३। तथा "यः कश्चिदात्मानमद्वितीयम्·····अखण्डानन्दस्वभावम्···साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो···यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः।" (वज्रसूच्युपनिषद्)।

२. उदाहरणार्थ, दे० "यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम्। संवृतं त्रिभिः स्थानैस्तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्" (धम्मपद ३९१ का राहुल सांकृत्यायनकृत संस्कृतानुवाद)।

३. तु० "शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥" (गीता १८।४२)।

४. उदाहरणार्थ दे० विवेकचूडामणि—"जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं···ब्रह्म तत् त्वमसि भावयात्मनि।" (२२५); "त्यजाभिमानं कुलगोत्रनामरूपाश्रमेष्वार्द्रशवाश्रितेषु" (२९८); "त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिम्" (३७८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए शंकरदिग्विजय (सर्ग ६।२१—४०) में शंकराचार्य और चाण्डाल-वेशी भगवान् विश्वनाथ की भेंट में चाण्डाल के प्रति 'हटो-हटो' कहने के कारण चाण्डाल द्वारा जात्यभिमानी शङ्कराचार्य को फटकारा गया है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि वैदिकधारा से प्रायः असम्बद्ध जैन, बौद्ध और सन्त-सम्प्रदाय आदि में रूढ वर्ण-व्यवस्था और जाति-पाँति की संकीर्णता के विरोध में बहुत-कुछ कहा गया है, तो भी इस दिशा में प्रारम्भिक शंखनाद औपनिषद धारा ने ही किया था। तब से ही प्रायः यह परम्परा-सी चल पड़ी और सबको मानना पड़ा कि कोई भी आध्यात्मिक पन्थ, मार्ग या सम्प्रदाय सिद्धान्ततः रूढिमूलक वर्ण या जाति-पाँति की संकीर्णता की पुष्टि नहीं कर सकता। अन्त में उसे कहना और मानना ही पड़ता है कि "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।"

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

परिच्छेद १२ में कहा जा चुका है कि ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य का उल्लेख उपनिषदों में ओतप्रोत है, साथ ही वानप्रस्थ आश्रम का अस्तित्व भी वहाँ एक प्रकार से स्पष्ट हो जाता है। संन्यासाश्रम के सम्बन्ध में वहाँ यही दिखलाया है कि उसकी प्रवृत्ति का प्रारम्भ औपनिषद धारा में शनैः-शनैः ही हुआ था, यद्यपि अन्त में बढ़ते-बढ़ते वह प्रवृत्ति ही उसकी एक मुख्य विशेषता बन गयी।

ऐसा प्रतीत होता है कि जनता के कोलाहल और अशान्त वातावरण से दूर शान्त एकान्त अरण्यों में निवास की प्रवृत्ति भारत के मनीषियों में चिरन्तन से चली आयी थी। इस सम्बन्ध में वैदिक संकेत की बात हम पीछे कह चुके हैं।[2]

भारतवर्ष के ज्ञानी नृपतिगण वार्धक्य के आ जाने पर युवराजों का राज्याभिषेक करके तपोवनों में जाकर रहने लगते थे, इसका संकेत कालिदास ने अपने रघुवंश में कई स्थानों पर किया है।[3] महाभारत आदि में भी ऐसे संकेत ओतप्रोत हैं।[4] इन्हीं तपोवनों के लिए आगे चलकर 'आश्रम' शब्द का व्यवहार चल पड़ा था।

इसीलिए, जैसा हम अन्यत्र दिखा चुके हैं, अरण्य-निवास का उल्लेख उपनिषदों में भी उपलब्ध है।

---

१. दे० "सोऽन्त्यजं पथि निरीक्ष्य चतुर्भिर्भीषणैः श्वभिरनुद्रुतमारात्, गच्छ दूरमिति तं निजगाद प्रत्युवाच च स शंकरमेनम्।......शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मिथ्याग्रहस्ते मुनिवर्य कोऽयम्। सन्तं शरीरेष्वशरीरमेकमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम्॥...विद्यामवाप्यापि विमुक्तिपद्यां जागर्त्ति तुच्छा जनसंग्रहेच्छा।" (शंकरदिग्विजय ६।२६, ३०, ३२)।

२. देखिए: "उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥" (ऋग्० ८।६।२८)।

३. दे० रघुवंश: "वार्धके मुनिवृत्तीनाम्" (१।८)। "गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीप-वंशजाः। पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥" (८।११)।

४. दे० चरक, चिकित्सास्थान, अध्याय १ में ग्राम्यवास की निन्दा ("ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्")।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परम्परागत इस अरण्य-निवास की प्रवृत्ति और औपनिषद धारा में शनैः-शनैः विशिष्ट स्थान पानेवाली संन्यास की प्रवृत्ति के लिए पीछे से ही 'आश्रम' की संज्ञा दी गयी और क्रमशः विद्वानों ने, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समान, चातुराश्रम्य-व्यवस्था बनायी।[1]

इसीलिए चातुराश्रम्य-व्यवस्था[2] को हम औपनिषद धारा की देन कह सकते हैं।

संन्यासाश्रम की प्रथा ने भारतवर्ष के इतिहास में, समय-समय पर बड़ा भाग लिया है। बौद्धधर्म के प्रचार और विस्तार में बौद्ध-भिक्षुओं ने और शंकराचार्य के संप्रदाय की परम्परा की रक्षा में संन्यासियों ने जो कार्य किया है वह ऐतिहासिकों से छिपा नहीं है।

अन्त में संन्यासाश्रम का जो ह्रास हुआ उसे हम आगे दिखलाएँगे। साथ में वानप्रस्थाश्रम की प्रथा तो, प्रायः क्या, वास्तव में ही, विलुप्त हो गयी, ऐसा कहा जा सकता है।

तो भी, संयत और संतुलित रूप में वानप्रस्थ और संन्यास की प्रवृत्ति को हम वास्तव में औपनिषद धारा की देन कह सकते हैं। जीवन को वास्तव में समुन्नत करने के लिए दोनों का बड़ा उपयोग है। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व के अनन्तर सांसारिक जीवन के प्रपञ्चों से अपने को हटाकर शान्त और संयत वातावरण में रहते हुए अपने ज्ञान और सत्प्रवृत्तियों को उज्ज्वल और पुष्ट करने के साथ-साथ निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा के जीवन का नाम ही वास्तव में वानप्रस्थ-आश्रम है। इसी जीवन के चरम उत्कर्ष का नाम संन्यासाश्रम है।

मनुष्य के जीवन की यह स्थिति वास्तव में दिव्य-जीवन है। इसीलिए औपनिषद धारा की इस देन का निश्चय ही अत्यन्त महत्त्व है।

रूढ़ि और वास्तविकता

परिच्छेद १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') में हम उपनिषदों और भगवद्गीता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचार कर चुके हैं। वहाँ हमने दिखलाया है कि अपनी-अपनी विशेषताओं को रखते हुए भी गीता और उपनिषदों का घनिष्ठ

---

१. तु० मनु०:—"एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥" (६।२९)। "वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥" (६।३३)। "यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥" (६।३९)। "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥" (६।८७)।

२. इस प्रसंग में 'आश्रम' शब्द का क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में कई मत हो सकते हैं। हम तो "आ समन्तात् श्रमः परिश्रमः" (अर्थात्, निरन्तर श्रम और तपस्या का जीवन) को ही 'आश्रम' समझते हैं। देखिए हमारी जीवन-ज्योतिः (१९५८) का श्रममाहात्म्य-प्रकरण (पृ० १८९-१९६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्ध है। गीता अपने स्वरूप में उपनिषदों के आधार पर ही लिखी जा सकती थी। इसलिए गीता को स्वयं यदि हम औपनिषद धारा की विशिष्ट देन कहें तो इसमें किसी प्रकार अत्युक्ति नहीं होगी। विशेषकर गीता ने परम्परागत रूढ़ियों[1] को लेकर उनके वास्तविक अभिप्राय पर जो बल दिया है उसे हम स्पष्टतया औपनिषद धारा की देन कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, नीचे निर्दिष्ट बातों को लीजिए :

(क) द्रव्यमयात्मक वैदिक यज्ञों के रूप में निष्प्राण जटिल कर्मकाण्ड का विरोध,

(ख) यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों में अन्तरवेक्षण द्वारा भाव-संशुद्धि अथवा उनकी सात्त्विकता पर बल,

(ग) परलोक में स्वर्ग-प्राप्ति के आदर्श के स्थान में यहाँ ही, इसी जीवन में, ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति का आदर्श।

गीता की इन दृष्टियों की व्याख्या हम परिच्छेद १५ में कर चुके हैं। विभिन्न परिच्छेदों में, यत्र-तत्र, इनके सम्बन्ध में औपनिषद दृष्टि को भी हम अनेक प्रमाणों द्वारा दिखला चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदें स्थान-स्थान पर प्रत्येक कर्म के करने में उसकी भाव-प्रधानता अथवा नैतिक भावभित्ति पर बल देती हैं।[2]

इसके अतिरिक्त विद्वान् गीता को धार्मिक समन्वयवाद का प्रधान पोषक ग्रन्थ समझते हैं। साम्प्रदायिक सहिष्णुता की भावना गीता में व्याप्त है।[3]

इस धार्मिक समन्वयवाद का आधार भी मूल में औपनिषद धारा का एकात्मवाद का सिद्धान्त ही हो सकता है।[4]

ऊपर दिये हुए कारणों से गीता की पूर्वोक्त विशेषताओं को भी हम औपनिषद धारा की ही देन कह सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि रूढियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त वास्तविकता की दृष्टि प्रायः सब सन्त-महात्माओं और विद्वानों को बराबर मान्य रही है, तो भी इधर चिर-परम्परा

---

१. इस सम्बन्ध में तु० कीजिए : "ऐकान्तिकी शब्दप्रमाणपरता वा, परम्परागता 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इत्येवंरूपा अन्धभक्तिरेव वा रूढिवादः। अतः स सर्वतः प्रथमं बुद्धेर्जडताया लक्षणम्।" (प्रबन्धप्रकाश, द्वितीय भाग, पृ० ११९, १९६७ संस्करण)।

२. तु० "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।" (छा० उ० १।१।१०) "अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति॥" (छा० उ० ३।१४।१)। इसी अभिप्राय को मनु ने इन शब्दों में कहा है : "वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥" (मनु० २।९७)।

३. तु० "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥" (गीता० ७।२१)।

४. देखिए रश्मिमाला की रश्मि ८ 'तत्त्वमीमांसा'। तथा "बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः। त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥" (रघुवंश १०।२६)। "शैववैष्णवसावित्रशाक्तगाणपतादयः। इष्टदैवतजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः॥" (बोधसार, पृ० २६३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से व्यवहार में उसका अनुसरण नहीं किया जाता रहा। वे अन्ध रूढियाँ और धार्मिक असहिष्णुता की भावना अब भी हमारे समाज की समस्या बनी हुई हैं। इसका कारण हमारी समझ में, अन्ततोगत्वा, तथाकथित धार्मिक नेताओं के निहित स्वार्थ और उनमें, तथा जनता में भी, व्याप्त घोर मोह और अज्ञान की अवस्था ही हैं।

प्रायः इसी कारण से औपनिषद धारा की सारी की सारी देन चिरकाल से हमसे तिरोहित और विलुप्त-सी हो रही थी। उसने विकृत रूप भी धारण कर लिया था। उसके इस ह्रास, शैथिल्य और साथ ही पुनर्जागरण का वर्णन हम आगे करते हैं।

(ख)

औपनिषद धारा का ह्रास अथवा शैथिल्य

ऊपर हमने औपनिषद धारा की महान् देन को आध्यात्मिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से दिखलाया है। उस देन का बहुत बड़ा महत्त्व है, तो भी खेद के साथ हम देखते हैं कि उसके इतिहास में एक समय ऐसा आता है जब कि उसके स्वरूप में पर्याप्त शैथिल्य का अनुभव होने लगता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसके विचार जो भी हों, व्यावहारिक जगत् में वह, बहुत अंशों में, प्रायेण अकर्मण्यता, प्रमाद, कर्तव्यभीरुता तथा राजसी जीवन का एक प्रतीक बन जाती है।

परिच्छेद ९ ('औपनिषद धारा का स्वरूप') के प्रारम्भ में औपनिषद धारा के उत्तरकालीन शिथिल विचारों का हम कुछ दिग्दर्शन करा चुके हैं। पर इस शैथिल्य अथवा ह्रास के स्वरूप को और उसके उद्गम को समझने के लिए औपनिषद धारा की प्रगति के क्रम को, उसकी आगे आनेवाली विभिन्न अवस्थाओं को, ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। उसी क्रम को दिखाने का हम यहाँ यत्न करेंगे।

गृहस्थ मनीषियों द्वारा प्रारम्भ

जैसा हम ऊपर कई परिच्छेदों में दिखला चुके हैं, औपनिषद धारा का प्रारम्भ तत्त्वज्ञानी गृहस्थ मनीषियों द्वारा हुआ था, जिनमें अनेक राज्य-शासन का भार उठानेवाले नृपति और 'महाशाल' (=महागृहस्थ) आचार्य थे। इसी जीवन में श्रेयोमय (कल्याणमय) मार्ग की यात्रा करते हुए परम-सत्य का साक्षात्कार करना ही उनका परम लक्ष्य था।[१]

संन्यास की प्रवृत्ति का प्रारम्भ

ऊपर की प्रारम्भिक अवस्था के अनन्तर एक समय ऐसा आया जब कि औपनिषद धारा में संन्यास की प्रवृत्ति ने प्रवेश पा लिया और क्रमशः वह बढ़ने लगी।

१. तु० "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (केनोप० २।५)। "एष ब्रह्मलोकः। सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः" (बृ० उ० ४।४।२३)। "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठोप० २।३।१४)। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० उ० २।२३।१)। तु० छा० उ० ८।१५।१—"यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते"।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिच्छेद १० ('औपनिषद धारा का प्रारम्भ और विकास') में इस स्थापना की व्याख्या अच्छी तरह की जा चुकी है।

प्राचीन उपनिषदों में हम यहीं तक पहुँचते हैं। अगले उपनिषदों में संन्यास की प्रवृत्ति वेग से बढ़ने लगती है, यहाँ तक कि औपनिषद धारा, एक तरह से, संन्यासियों की ही वस्तु समझी जाने लगती है। इस प्रभाव को हम दो विभागों में बाँट सकते हैं :

असंयत अथवा एकपक्षीय वैराग्य

हम अन्यत्र दिखला चुके हैं कि प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी, संन्यास की प्रवृत्ति के उल्लेख के आने पर भी, स्त्रियों की निन्दा, हाड-मांस से निर्मित काया की जुगुप्सा और सांसारिक ऐश्वर्य की अनावश्यक घोर अवहेलना के भावों को स्थान नहीं मिला है। परन्तु पीछे के उपनिषदों में तथा अन्य साहित्य में ये भाव बराबर पाये जाते हैं, और पर्याप्त उग्र भाषा में। उदाहरणार्थ, देखिए :

"भगवन् ! अस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेश्मा-
श्रुदूषिते···दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः···।"

(मैत्रायण्युपनिषद् १।२-३)

अर्थात्, भगवन् ! अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मा और अश्रुओं से दूषित इस दुर्गन्ध और निस्सार शरीर में काम के सेवन से क्या लाभ है ?[1]

न संभाषेत् स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥

(नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४।३)

अर्थात्, (संन्यासी को चाहिए कि वह) किसी भी स्त्री से भाषण न करे, पूर्व में देखी हुई का स्मरण न करे, उनकी बातचीत भी न करे और चित्रादि में अंकित स्त्री को भी न देखे।[2]

परिव्राजक के उत्कृष्ट वैराग्य की भावना का वर्णन करते हुए इसी उपनिषद् (= नारदपरिव्राजकोपनिषद्) में ऐसे भाव प्रकट किये गये हैं :

---

१. तु० "शरीरमिदं······निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम्" (मैत्रायण्युपनिषद् ३।४); "स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्। विरागकारणं तस्य किमन्दुयपदिश्यते ॥" (मुक्तिकोपनिषद् २।६६)।

२. दे० "स्त्रीणाम······व्रणस्य च। अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ चर्मखण्डं······धूपितम्।···साहसं किमतः परम् ॥" (नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४।२९-३०)। "माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥" (नारदपरिव्राजकोपनिषद् ६।३१)। "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी"; "नार्या पिशाच्या"; "विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी।" (प्रश्नोत्तरी ३, १५, १९)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा············।
प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः ॥" (३।१५)

अर्थात्, वह बिना विवाह किये हुए ही संसार को निःसार समझकर संन्यास ग्रहण कर लेता है।

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥ (३।२८)

अर्थात्, परमहंस यति के लिए केवल दो कौपीन, एक कथरी (गुदड़ी) और एक दण्ड इतनी ही सामग्री पर्याप्त है। इससे अधिक का विधान नहीं है।

मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः। (४।३२)

अर्थात्, ध्यान में तत्पर मुनि (संन्यासी) कौपीन धारण कर सकता है अथवा वह नग्न ही रहे।

संत्यजेत् सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वथा। (६।३५)

अर्थात्, उसे चाहिए कि वह सब कर्मों को छोड़ दे और लोकाचार को भी सर्वथा छोड़ दे।

"···वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव···स्त्रियमहिमिव सुवर्णं
कालकूटमिव···परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य···
स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य···वसेत्।" (७)

अर्थात्, उसे चाहिए कि वह वस्त्र को उच्छिष्ट पात्र के समान, स्त्री को सर्प के समान, सुवर्ण को महाविष के समान छोड़कर, अपने देश को भी छोड़कर, अपने शरीर को मुर्दे के समान हेय समझ कर रहे।[१]

प्रायेण उक्त मनोवृत्ति के साथ ही मृत्यु की भीषण विभीषिका और बन्ध तथा मोक्ष के विचारों की प्रवृत्ति हुई होगी। इनके स्वरूप का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि प्राचीन उपनिषदों में कारागृह-रूप संसार के बन्ध और उससे 'मोक्ष' (छुटकारा) पाने की बात कहीं नहीं कही गयी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक आश्रम के रूप में संन्यास के मान लेने पर प्रारम्भ में उसका स्थान प्रायेण चातुराश्रम्य के साथ ही था। अर्थात् संन्यासी प्रायः वे ही होते थे जो पहले तीनों आश्रमों में रह चुके होते थे। उस समय संन्यास का रूप अवश्य संयत और संतुलित रहा होगा। उपर्युक्त उग्र विचारधारा का सम्बन्ध अवश्य

१. तु० विवेकचूडामणि : "संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये" (१०), "संसारकारागृहमोक्षमिच्छोः" (२७३)। मोहमुद्गर : "नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।" (४), "इति परिभावय सर्वमसारम्" (२३)। तथा "मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी" (महाभाष्य ६।१।१५४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही उस संन्यास से नहीं था।[१] तो भी ऐसा लगता है कि उस समय भी केवल अपने वैयक्तिक कल्याण की भावना ही संन्यास की प्रेरक थी।

संन्यास की सामूहिक (सांघिक प्रवृत्ति)

ऊपर हमने प्रधानतः चातुराश्रम्य से सम्बद्ध संन्यास की प्रवृत्ति का वर्णन किया है। उसके अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी थी जिसको हम सांघिक प्रवृत्ति कह सकते हैं। इसमें पूर्ण वैराग्य और विचारों के परिणत हो जाने की बात मुख्यतः नहीं थी। किसी भी आश्रम का व्यक्ति संन्यासी बन सकता था। अपवादरूप विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर, अपरिणत वयस् में संन्यास लेनेवाले व्यक्ति औरों की देखादेखी, किसी प्रलोभन से अथवा बहकावे में आकर, संन्यासी बन जाते थे।

यद्यपि इस प्रवृत्ति के बोधक प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, तो भी इसको अधिक प्रोत्तेजन पहले तो बौद्ध संप्रदाय में और पीछे से उसकी देखा-देखी शांकर संप्रदाय में तथा कुछ वैष्णव आदि संप्रदायों में मिला।

बौद्धसंघों में इसी प्रकार के भिक्षुओं का बाहुल्य था। शंकराचार्य के शिष्यों में भी कई ऐसे थे। तदनन्तर मठों के बन जाने पर तो ऐसे ही संन्यासियों की वहाँ भरमार होने लगी होगी।

अन्य अनेक संप्रदायों की भी ऐसी ही कथा है।

वृद्ध संन्यासी भी स्वभावतः चाहते थे कि वृद्धावस्था में उनकी सेवा करनेवाले ऐसे शिष्य मिल जायँ।

मठों और संघों के जीवन में वास्तविक वैराग्य, तप और संयम की कितनी भावना थी, यह कहना कठिन है। तो भी यह तो प्रायः निश्चित है कि उससे, प्रारम्भ में न सही तो धीरे-धीरे ही, वास्तविक वैराग्य और संयम की भावना का ह्रास अवश्य हुआ होगा।

राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन की उपेक्षा

जहाँ तक हमारे राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन तथा परिस्थिति का प्रश्न है ऐसा लगता है कि संन्यास की उक्त दोनों अवस्थाओं का उस पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा।

जो संसार को मिथ्या, असार और कारागृह के समान केवल बन्ध ही समझते थे, और जिनको केवल अपनी वैयक्तिक मुक्ति की ही चिन्ता थी, उनको तो स्वभावतः

१. वैदिकधारा की परम्परा में व्यवस्थित संन्यास की विचारधारा के अनन्तर ही असंयत पर-वैराग्य-प्रधान संन्यास का प्रवेश हुआ था। मुनि-धारा का प्रभाव उस पर अवश्य था। "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबालोपनिषद् ४), ये विचार पीछे के ही हैं। इस प्रसंग में महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ११ में दिये गये अजातश्मश्रु नवयुवकों की प्रव्रज्या के वृत्तान्त (इस वृत्तान्त में पद्य १७ में 'अश्रुतीपथम्' पद बड़े महत्त्व का है) को तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी (२।१।७०) में 'कुमारीश्रमणा' तथा 'कुमारीप्रव्रजिता' उदाहरणों को भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन से नितरां उपेक्षा थी।[१] फिर उन्होंने अपने चारों ओर जो वातावरण बनाकर छोड़ा होगा, वह तो किसी भी राष्ट्र और समाज की समुन्नति के लिए घातक हो सकता है।

जो सामूहिक या सांघिक जीवन के संन्यासी या साधु थे, उनमें स्वभावतः एक प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता अवश्य आने लगी होगी; अवश्य आने लगी थी, इसमें कुम्भ जैसे मेलों पर अखाड़ों के साधुओं के दलों की अहंमन्यतापूर्ण मारपीट ही स्पष्ट प्रमाण है। मठों का जीवन सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित कुछ आराम-तलबी और मौज का अवश्य रहा है। उस जीवन में भी, 'संसार का प्रपञ्च मिथ्या है' इस आदर्श के साम्मुख्य में, राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन की उपेक्षा ही पनपती है।[२]

उक्त परिस्थिति में हमारे साधुओं और संन्यासियों की सामान्यतः दृष्टि और प्रवृत्ति की बड़ी अच्छी व्याख्या हमें गोस्वामी तुलसीदासजी की निम्नस्थ चौपाई में मिल जाती है:

नारि मुई गृह संपति नासी।
मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
(रामचरितमानस, उत्तरकांड)

ऐश्वर्य और साज-सज्जा का जीवन

औपनिषद धारा का, उपर्युक्त परिस्थितियों में से गुजरते हुए, व्यावहारिक जगत् में चरम 'विकास' या ह्रास हमें ऐश्वर्य और साज-सज्जा के जीवन में दिखाई देता है। आजकल के जगद्गुरु शंकराचार्यों और मठाधीशों के रहन-सहन के संभारों को, उनकी शोभा-यात्राओं को, उनके सिंहासनों और अनुचर-गणों को जिन्होंने देखा है वे उसमें राजसी ठाठ-बाट और शान-शौकत की प्रतिच्छाया को देखे बिना नहीं रह सकते। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' का यह राजसी चरम 'उत्कर्ष' या अपकर्ष किसीको भी आश्चर्य में डाले बिना नहीं रह सकता।[३] इसीलिए हमने अपने मित्रों में ही ऐसे व्यक्तियों को देखा है जो सर्वविध उपायों से, किसी भी ऊँचे-से-ऊँचे लौकिक पद के सदृश, शंकराचार्य की गद्दी या मठों की महन्ताई के लिए लालायित और प्रयत्नशील रह चुके हैं, सफल होना या न होना दूसरी बात है।

---

१. औपनिषद धारा के इतिहास में उत्तरकालीन वेदान्त की विचारधारा (जिसको कुछ लोग 'नवीन वेदान्त' कहते हैं) के उदय से ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को अवश्य ही बल मिला था। औपनिषद धारा में माया और अविद्या के सिद्धान्त के प्रवेश से उसके परिणाम-स्वरूप ही जगत् को और सांसारिक जीवन को असार और मिथ्या कहने और समझने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ था।

२. तु० "नाकाशात् पतितं द्रव्यं जीविका सुखदा कथम्"; "अवश्यं मरणं तर्हि कीदृशी चिर-जीविता" (बोधसार पृ० २० तथा २३९)। "इति परिभावय सर्वमसारम्" (मोहमुद्गर २३)। "संसारासारत्वकथनकुशला ब्रह्मवादिनः" (हर्षचरित, उच्छ्वास २)।

३. आपाततः वैराग्य के मार्ग पर चलनेवाले गद्दियों और मठों के महन्तों का वास्तव में ऐश्वर्य और वैभव से आकृष्ट होना एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमें संन्यासी या साधुओं के उपर्युक्त आपाततः ऐश्वर्य के जीवन से ज़रा भी असन्तोष या ईर्ष्या की भावना नहीं है। अनेकानेक उपर्युक्त पदाधिकारी बड़े तपस्वी, राष्ट्रसेवी और आदर्श-चरित्र के मनीषी देखने में आते हैं। हम उनके प्रति सर्वदा नत-मस्तक हैं। हमारा मुख्य अभिप्राय यहाँ केवल सांस्कृतिक विकास की विचित्र गतियों को दिखाने में ही है।

हम यह भी मानते हैं कि उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था के युग में ऐसे आदर्श व्यक्ति रहे हैं जिनसे जीवन के महान् आदर्शों का स्रोत बहा है। इस सम्बन्ध में जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य जैसे आचार्यों, समर्थ गुरु रामदास, रामानन्द, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सन्त महापुरुषों की कौन उपेक्षा कर सकता है? ये महात्मा वास्तव में भारतवर्ष की चिरन्तन आध्यात्मिक धारा के वाहक थे। तो भी यह देखते हुए कि देश में आज भी लाखों की संख्या में ऐसे साधु-नामधारी मौजूद हैं जो स्वयं महामोह की अवस्था में हैं, जो देश और राष्ट्र की प्रगति से नितरां सदा से उपेक्षा रखनेवाले रहे हैं, और अन्त में अपने राष्ट्र की अनेक शताब्दियों तक रहनेवाली राजनीतिक परतन्त्रता पर दृष्टि डालते हुए, हम समष्टि-दृष्टि से इस सारी परिस्थिति को औपनिषद धारा का ह्रास या कम-से-कम शैथिल्य ही कह सकते हैं।

रह-रहकर हमारे मन में प्रश्न उठता है। शंकराचार्य और मुहम्मद साहब दोनों ने प्रायः एक ही समय अपने-अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन और स्थापना की थी। मूलतः दोनों का आधार एक प्रकार से वेदान्त पर था। एक का राजनीतिक प्रभाव पृथ्वी पर फैल गया, परन्तु शंकराचार्य का प्रभाव अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की भी रक्षा न कर सका। निःसन्देह यह गम्भीर चिन्तन का विषय है।

(ग)

औपनिषद धारा का पुनर्जागरण

परिच्छेद १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') में हम दिखला चुके हैं कि औपनिषद धारा की कई अंशों में ह्रासोन्मुखता को रोकने का भगवद्गीता ने भरसक प्रयत्न किया था। यह प्राचीन युग की बात है। कालक्रम से, नयी परिस्थितियों के कारण, अनेक ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रवाह पुनः जारी होकर वर्तमान भारत के समय तक चला आया। उन प्रवृत्तियों के स्वरूप को हम ऊपर दिखला चुके हैं।

वर्तमान भारत में जो राष्ट्र-व्यापी पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ उसकी दृष्टि स्वभावतः औपनिषद धारा की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों पर भी गयी। वर्तमान भारत को उठानेवाले जो भी महान् पुरुष इस काल में हुए हैं, प्रायेण उन सबका ध्यान इस ओर गया है। सबका उद्योग यही रहा है कि भारत-व्यापिनी घोर अवसाद, अकर्मण्यता, मिथ्या-वैराग्य, कर्तव्य-भीरुता आदि की हीन प्रवृत्तियों को जन-मानस से हटाकर नवीन जागरण राष्ट्र में लाया जाय।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नवीन भारत के निर्माण में, उसमें नवीन जीवन की स्फूर्ति के संचार में, वैचारिक आधार पर जिन महान् व्यक्तियों ने क्रान्ति का कार्य किया है उनमें प्रमुख स्थान राजा राममोहन राय, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द, बंकिमचन्द्र चटर्जी, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठक्कुर, अरविन्द घोष और महात्मा गांधी का है। इन सबने अपने-अपने कार्य में वेदों का (जिनसे औपनिषद धारा का उद्गम होता है) अथवा औपनिषद धारा (उपनिषद् और गीता) का मुख्यतः आश्रय लिया था। स्पष्टतः ये सब महानुभाव वेद अथवा औपनिषद धारा को भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड समझते थे।

राजा राममोहन राय को वर्तमान भारतीय जागरण का जन्मदाता कहा जाता है। उन्नीसवीं ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के प्रचण्ड प्रवाह को रोकने के लिए उन्होंने प्रधानतः उपनिषदों का ही सहारा लिया था। उपनिषदों की शिक्षा के आधार पर ही उन्होंने ब्राह्म-समाज की स्थापना की थी। वास्तव में उपनिषदों के सिद्धान्तों को वर्तमान भारत में आधुनिक शिक्षा से दीक्षित जनता तक पहुँचाने का प्रथम प्रयत्न राजा राममोहन राय ने ही किया था। उन्होंने ही मुण्डक आदि कई उपनिषदों पर सर्वप्रथम इंग्लिश अनुवाद प्रकाशित किया। ब्राह्म-समाज की परम्परा में ही आगे चलकर रवीन्द्रनाथ ठक्कुर जैसे सुप्रसिद्ध विचारकों और लेखकों ने उपनिषदों को अपने चिन्तन का प्रधान प्रकाश-स्तम्भ बनाया।

आगे चलकर परमहंस रामकृष्ण के प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषन्मूलक वेदान्त के उत्कृष्ट सिद्धान्तों का ही शङ्खनाद करके विश्व में भारत का मस्तक ऊँचा किया था। उन्हीं के ओजस्वी तथा स्फूर्तिप्रद व्याख्यानों और उपदेशों के अद्भुत प्रभाव का फल है कि आज देश-देशान्तरों में वेदान्त-केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है और उनका प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। दार्शनिक और आध्यात्मिक भूमि के अतिरिक्त व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में भी वेदान्त को प्रतिष्ठित करना, यही प्रथमतः स्वामी विवेकानन्द का लक्ष्य था।

वर्तमान भारत के निर्माण में, उसमें आत्मचेतना के उद्बोधन में, महर्षि दयानन्द की अद्वितीय देन है। उन्होंने उपनिषदों और गीता को ही विशेष रूप से न पकड़कर, व्यापक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के मूल-स्रोत और जीवनाधायक वेदों को और वैदिक परम्परा को अपने प्रचार का आधार-स्तम्भ बनाया। उनकी दृष्टि में उपनिषद् और गीता, दूसरे शब्दों में, औपनिषद धारा वैदिक धारा में ही गतार्थ है, यद्यपि उसका अपना स्थान समस्त वैदिक धारा में सर्वोत्कृष्ट है।

स्वामी विवेकानन्द के समान ही विदेशों में वेदान्त के सन्देश को पहुँचाने के लिए स्वामी रामतीर्थ का नाम भी सुप्रसिद्ध है। उनका व्यक्तित्व वेदान्त के आदर्शों से ओत-प्रोत था। वे सारे विश्व को ब्रह्म के रूप में ही देखते थे। उनको हम मूर्तिमान्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्त ही कह सकते हैं। उनके उत्कृष्ट भाषणों आदि से और उनकी स्मृति में स्थापित 'स्वामी रामतीर्थ मिशन' आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित साहित्य से भी राष्ट्र में औपनिषद धारा के पुनर्जागरण और प्रचार-प्रसार की दिशा में बहुत कुछ कार्य हुआ है।

औपनिषद धारा से सम्बन्धित भगवद्गीता को अपने विचार और चिन्तन का प्रधान आधार मानकर कार्य करनेवालों में बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा। श्री बंकिमचन्द्र ने अपने आनन्दमठ आदि हृदयग्राही उपन्यासों और धर्मतत्त्व जैसे निबन्धों द्वारा प्रथमतः बंगाल में और तद्द्वारा भारत भर में उत्कृष्ट आदर्शनिष्ठ चारित्रिक बल के आधार पर भारत माता के प्रति गम्भीर, सर्वस्व-त्यागोन्मुख और ओजस्वी भावना के जगाने का जो अद्भुत प्रयत्न किया था उसका मुख्य आधार भगवद्गीता ही थी।

लोकमान्य तिलक का कर्मयोग के सिद्धान्त को लेकर लिखा गया गम्भीर-विद्वत्ता-पूर्ण गीतारहस्य भारतीय वाङ्मय का निःसंदेह उज्ज्वल रत्न है। गीता पर लिखे गये अत्यन्त विस्तृत साहित्य मे जनमानस में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाला यह ग्रन्थ वास्तव में अद्वितीय है।

इसी प्रकार गम्भीर दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्ण श्री अरविन्द के गीता और उपनिषदों के प्रतिपादन और व्याख्याएँ अपना अद्वितीय वैशिष्ट्य रखती हैं।

गीता के अनासक्त कर्मयोग, भगवद्भक्ति और स्थितप्रज्ञता के आदर्शों को अपने जीवन में पूर्णतः उतारकर महात्मा गांधी ने राष्ट्र में जो गीता के प्रति आस्था को दृढ किया है वह किससे छिपा है?

भारतीय संस्कृति के उन्नायक उपर्युक्त महानुभावों की उदात्त जीवन-पद्धति और उत्कृष्ट लेखों तथा भाषणों से आज विदेशों में सामान्यतः और भारतीय जीवन में विशेषतः औपनिषद धारा (उपनिषदों और गीता) को जो स्थान प्राप्त हुआ है वह, हम समझते हैं, भारतीय इतिहास के किसी अन्य काल में कभी नहीं प्राप्त हुआ था। जिस रूप में औपनिषद धारा का अध्ययन और चिन्तन आजकल हो रहा है उससे ऊपर दिखलायी हुई पिछले काल की उसकी ह्रास और शैथिल्य की प्रवृत्तियाँ, सूर्योदय से अन्धकार के समान, स्वतः नष्ट हो रही हैं।

वर्तमान भारत में स्थान-स्थान पर गीताश्रम, गीतामन्दिर, गीता-सम्मेलन और महामण्डलेश्वर विद्वान् संन्यासियों और साधुओं के गीता और उपनिषदों पर प्रभाव-पूर्ण प्रवचन, ये सब औपनिषद धारा के पुनर्जागरण के ही प्रतीक हैं।

भारतीय संस्कृति के इतिहास और विकास में औपनिषद धारा के इस पुनर्जागरण का, न केवल भारतीय राष्ट्र की दृष्टि से, किन्तु विश्वहित की दृष्टि से भी, निःसंदेह अत्यन्त महत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(घ)

औपनिषद धारा का विश्व को संदेश

मानव-जगत् की विषम स्थिति

आज के युग में मानव-जगत् की जो विषम स्थिति है उसको ठीक-ठीक समझना विचारशील व्यक्तियों के लिए भी कठिन है। जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं उनके दृष्टिकोण इतने परस्पर-विरोधी हैं कि उनके आधार पर मानव-जगत् किधर जा रहा है और उसका भविष्य क्या है, यह कहना कठिन प्रतीत होता है। आशा और निराशा के द्वन्द्व के परिणाम-स्वरूप घोर अशान्ति और असमंजस का वातावरण चतुर्दिक् छाया हुआ है।

एक ओर हम देखते हैं कि ज्ञान और विज्ञान की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है, मनुष्य अन्धकार-युग से निकलकर प्रकाश के युग में प्रवेश कर रहा है। असंख्य विश्वविद्यालय आदि विद्या-संस्थाओं द्वारा और गम्भीर अनुसंधानों में संलग्न विद्वानों द्वारा दिन-प्रतिदिन नूतन ज्ञान-प्रकाश फैल रहा है। अनेक अन्तरराष्ट्रिय स्तर की संस्थाएँ राष्ट्रों में परस्पर सुमति उत्पन्न करने में और मानव को उठाने में, उसको स्वस्थ, सदाचारवान् और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में, उसके ज्ञान की सीमाओं को बढ़ाने में संलग्न हैं, यहाँ तक कि मनुष्य अब लोकान्तरों में संचार के लिए भी तैयार बैठा है।

दूसरी ओर वह उसी ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के आधार पर घोर संहार के महाभीषण अस्त्रों और अन्य साधनों की निरन्तर आगे बढ़नेवाली खोजों के कारण किसी भी समय उपस्थित हो जानेवाले विश्व-प्रलय के कगारों पर बैठा दिखायी दे रहा है। राष्ट्रों में परस्पर भय, शंका और शत्रुता का विषैला वातावरण व्याप्त है।

उक्त अन्तरराष्ट्रिय परिस्थिति को छोड़कर भी, मनुष्य जब अपने भौतिक सुख और ऐश्वर्य के साधनों पर दृष्टि डालता है, तो वह देखता है कि यद्यपि भौतिक दृष्टि से उसको सब तरह सुखी कहा जा सकता है, तो भी उसके मन में अशान्ति घर किये हुए है, उसमें आन्तरिक रिक्तता है, वह अपरिपूर्ण है। वह अनुभव करता है कि भौतिक विषय-भोग अन्ततः उसकी शक्ति को, उसकी जीवनी शक्ति के तेज को, क्षीण ही करते हैं। उनके लिए उसे बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।[१]

आज के मानव-जगत् की ही उपर्युक्त स्थिति एक विशेषता है, ऐसी बात नहीं है। किसी-न-किसी रूप में मानव-जगत् में भय, शंका, शत्रुता और अशान्ति की स्थिति सदा ही रही है। यह अवश्य है कि आज अन्तरराष्ट्रियता के क्षेत्र के बढ़ जाने से और भौतिक उन्नति के कहीं अधिक होने से उपर्युक्त स्थिति का रूप भी अधिक व्याप्त हो गया है।

---

१. तु० "विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः" (वैराग्यशतक) ८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य की ऊपर की असन्तोषप्रद स्थिति के वारणार्थ अनेकानेक सत्प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। उदाहरणार्थ :

संयुक्तराष्ट्रसंघ फ्रांस का समता, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता का आन्दोलन, साम्यवाद, समाजवाद, मानवतावाद, नैतिक-पुनर्जागरण और विभिन्न धार्मिक संप्रदायों आदि का प्रयत्न उसी दिशा में रहा है। पर ये सब प्रयत्न पूर्णतः कारगर नहीं हो पाये हैं।

हमारा यह कहना नहीं है कि उक्त सब आन्दोलन या प्रयत्न निष्फल रहे हैं। सबने मानवता का कुछ-न-कुछ हित किया है, उसे आगे बढ़ाया है। तो भी उनका परिणाम प्रथम तो सीमित ही रहा है; नहीं तो, उनकी प्रतिक्रिया या घात-प्रतिघात का परिणाम अच्छा नहीं निकला है। उदाहरणार्थ, रूसी साम्यवाद से सम्बद्ध हिंसा और धार्मिक संप्रदायों की संकीर्णता और असहिष्णुता को ही लीजिये। उनसे मानव को अनेक कष्ट और पीडाओं का सामना करना पड़ा है।

औपनिषद धारा का समाधान

परन्तु मानव-जगत् की उक्त विषम परिस्थिति का जैसा औपनिषद धारा मौलिक और व्यापक समाधान उपस्थित करती है, वह सर्वथा अनोखा है। इसका कारण स्पष्ट है। औपनिषद धारा अपने आत्मा और ब्रह्म के सिद्धान्त तथा तन्मूलक आध्यात्मिकता के द्वारा यावद् विश्व-प्रपञ्च की दृष्टि से इतनी व्यापक और मौलिक है कि वह मानव-जगत् की प्रत्येक समस्या को जड़ से पकड़ती है।

उपनिषदों की अध्यात्म-भावना

आत्माद्वैत का सिद्धान्त

उपनिषदों की मौलिक घोषणा यही है :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोप० ६, ७)

अर्थात्, जो समस्त भूतों को, प्राणियों को, आत्मा में ही देखता है और सब भूतों में (एक ही) आत्मा को देखता है, वह इस एकात्म-दर्शन के कारण किसीसे घृणा नहीं करता।

जिस तत्त्वज्ञानी को सब भूत आत्म-स्वरूप ही दीखते हैं, उस एकात्मदर्शी के लिए शोक और मोह की स्थिति कैसे रह सकती है ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि उपनिषदों की विश्वावगाहिनी इस आत्माद्वैत की दृष्टि के बिना मानवतावाद आदि के उपर्युक्त आन्दोलन बिना नींव की भीत के समान निर्बल और बे-बुनियाद ही रह जाते हैं।

औपनिषद अध्यात्म-दृष्टि के बिना, धार्मिक संप्रदाय धर्म-पुरोहितों की आजीविका की वस्तु बनकर, धार्मिक असहिष्णुता और स्वार्थ-सिद्धि में परिणत हो जाते हैं। वे यह नहीं समझते कि

सत्यानां परमं सत्यं मूलतत्त्वं निगद्यते।
शक्तिर्माता शिवो विष्णुः सत्यमोङ्कार एव वा॥
कर्मं धम्मेश्वरो ब्रह्मेत्यादिशब्दैः कथंचन।
शब्दसृष्टिमतिक्रान्तं यदाहुः शब्दकोविदाः॥

(जीवनज्योतिः १६।१५६-१५७)

अर्थात्, मूलतत्त्व वास्तव में सब सत्यों का परम सत्य है। वह शब्द-सृष्टि से परे है। इसीलिए जो शब्दों के विद्वान् हैं वे किसी प्रकार शक्ति, माता, शिव, विष्णु, सत्य, ओंकार, कर्म, धम्म, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि शब्दों से उसका निर्देश करते हैं।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त मूलतत्त्व के सिद्धान्त पर आधारित, अनैक्य में ऐक्य अथवा भेद में अभेद का दर्शन करानेवाली औपनिषद अध्यात्म-भावना के द्वारा ही मानव वर्ग, जाति, धार्मिक संप्रदाय, राष्ट्र और वर्ण (=रंग) की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर सच्चे अर्थों में सर्वभूतहितैषिता और विश्वकल्याण के आदर्शों को अपना सकता है। सन्तों का कहना है कि हम अपने अन्दर के ईश्वरीय अंश को पहचानकर ही सर्वभूत-हित-साधन के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

विश्व के प्राणिमात्र में आत्माद्वैत की भावना जहाँ एक ओर सबके प्रति प्रेम-भाव को उत्पन्न करती है, वहाँ दूसरी ओर किसीके प्रति घृणा, द्वेष, वैर और पराये-पन को मिटा सकती है।

इसी आधार पर वैयक्तिक मुक्ति या मोक्ष के आदर्श को छोड़कर सन्तों और महात्माओं ने आर्त प्राणियों के सन्ताप को दूर करना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य समझा है। उदाहरणार्थ देखिए :

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।

(भागवत ९।२१।१२)

अर्थात्, (भगवद्भक्त रन्तिदेव कहते हैं) मैं ईश्वर से आठों सिद्धियों से युक्त उत्कृष्ट गति को नहीं चाहता हूँ, और न मुक्ति को। मैं चाहता हूँ कि समस्त प्राणियों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्दर स्थित होकर मैं उनकी पीड़ा को स्वयं ले लूँ, जिससे वे सब दुःख से रहित हो जायँ।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु
ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तम्
मोक्षेणारसिकेन किम्॥

(महायानवादी शान्तिदेवाचार्य)

अर्थात्, सांसारिक दुःखों से प्राणियों के मुक्त होने से जो (हमारे मन में) प्रसन्नता के समुद्र उमड पड़ेंगे, (हमारे लिए) वे ही पर्याप्त हैं। रस-रहित मोक्ष से क्या लाभ है?

महात्मा गांधी का सर्वोदय-आन्दोलन भी वास्तव में औपनिषद धारा की उपर्युक्त विश्वकल्याण-भावना से ही प्रेरित है। 'व्यक्ति का हित समष्टि के हित में निहित है', अथवा 'मानव का नैतिक विकास' सर्वोदय-आन्दोलन के इन मौलिक आदर्शों का आधार उपनिषदों की एकात्म-दृष्टि अथवा विश्वात्मा के साथ मानव की तादात्म्य-भावना पर ही है।

विश्वात्मा के साथ मानव की तादात्म्य-भावना

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विश्व के हित में अपना हित समझना, विश्व-कल्याण-भावना से अनुप्राणित होना—वास्तव में औपनिषद धारा का यही चरम लक्ष्य है। 'विश्वात्मा के साथ मानव की तादात्म्य-भावना' का यही अभिप्राय है।

विश्व के लिए मूलतः यही औपनिषद धारा का संदेश है।[१] इसी संदेश के आधार पर हम औपनिषद धारा को मानव-जाति के लिए आशा और शक्ति का स्रोत कह सकते हैं।

औपनिषद धारा के अन्य सब प्रतिपादन, जिनका दिग्दर्शन हम नीचे करेंगे, इसी चरम लक्ष्य को सामने रखकर किये गये हैं। जिस मार्ग पर चलकर मानव उक्त लक्ष्य तक पहुँच सकता है, प्रायः उसीकी व्याख्या उन प्रतिपादनों में अभिप्रेत है।

अध्यात्म-मार्ग में प्रवृत्त मनुष्य के लिए, उपनिषदों के अनुसार, जिस गुण की मौलिक आवश्यकता है, वह है

अन्तर्निरीक्षण की प्रवृत्ति

अन्तर्निरीक्षण को हम आत्म-समीक्षण अथवा अन्तर्दृष्टि भी कह सकते हैं। प्रकृत ग्रन्थ में इस प्रवृत्ति की व्याख्या हम कई स्थानों पर कर चुके हैं। कठोपनिषद् में,

१. देखिए: "समष्ट्याः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता। धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान् मनीषिणः॥ तस्यामेव स्थितौ तिष्ठन्नद्वैतं स्वपरार्थयोः। तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा॥" (जीवनज्योतिः १५।३६-३७) तथा "सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥" (मनु० १२।९१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह बतलाकर कि मनुष्य स्वभाव से ही बहिर्मुख होता है, बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है :

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोप० २।१।१)

अर्थात्, कोई विरला ही बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा होता है जो अमरत्व अर्थात् दिव्य शाश्वत जीवन की इच्छा से अपनी बाह्य इन्द्रियों का संयम करके अन्तर्निरीक्षण में प्रवृत्त होता है।

गीता के अनुसार हमारे प्रत्येक कर्तव्य कर्म के साथ उसकी भावात्मक पृष्ठभूमि के परीक्षण की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मनुष्य भाव-संशुद्धि कर सकता है। मनुष्य के दान, यज्ञ, नियम और तप कभी सिद्ध नहीं हो सकते, यदि उसके भाव (अभिप्राय) पवित्र नहीं हैं। आधुनिक 'नैतिक जागरण' की बात ऊपर कही जा चुकी है। स्पष्टतया सारा नैतिक जागरण भाव-संशुद्धि पर निर्भर है।

धार्मिक संप्रदायों की प्रवृत्ति प्रायः बाह्य कर्मकाण्डों की ओर होती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि कर्मकाण्ड सात्त्विक भावों से प्रेरित नहीं है, तो उसका कोई महत्त्व नहीं।

अध्यात्म-मार्ग में प्रवृत्त मनुष्य के लिए अपनी समस्त प्रवृत्तियों को अत्यन्त ऊँचे धरातल पर उठाने की आवश्यकता होती है। इसीलिए उसको अत्यन्त तत्परता के साथ निरन्तर अन्तःसमीक्षण में प्रवृत्त होना चाहिए।

आज के विश्व को उपनिषदों के इस प्राथमिक, पर महान्, संदेश की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की बात नहीं है। मनुष्य के व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास के लिए अन्तःसमीक्षण की निःसन्देह प्राथमिक आवश्यकता है; पर हमारे सामाजिक और अन्तरराष्ट्रिय जीवन में भी उक्त प्रवृत्ति के अपनाने से विश्व का कल्याण करने-वाली एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और धार्मिक संप्रदाय के सच्चे विकास के लिए उपनिषदों के इस महान् संदेश की अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग का विवेक

इस विषय की व्याख्या भी ग्रन्थ में अन्यत्र की जा चुकी है। ऐन्द्रियक अथवा भौतिक सुख और आत्म-कल्याण या आन्तरिक शान्ति के पारस्परिक द्वन्द्व की समस्या का उल्लेख प्रायः प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में आता है।

कठोपनिषद् (१।२।१-२) में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग का प्रश्न प्रत्येक विचारशील मनुष्य के सामने उपस्थित होता है। जो मन्द-बुद्धि के लोग हैं वे विषय-भोग से इन्द्रिय-तृप्ति के मार्ग को अपना लेते हैं और आत्म-कल्याण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के मार्ग की उपेक्षा कर देते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं, वे प्रेय-मार्ग में न बहकर, श्रेय-मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।[1]

वास्तव में यहाँ उक्त दोनों मार्गों के विरोध का इतना प्रश्न नहीं है, जितना उनके परस्पर सामंजस्य का।

आज के युग में जब कि चतुर्दिक् मनुष्य की भौतिक प्रगति हो रही है, सुखोपभोग और सम्पत्ति के साधन बराबर बढ़ रहे हैं, आध्यात्मिक कल्याण और आन्तरिक शान्ति की भावना को जगाने की मौलिक आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि आज पाश्चात्य देशों में सर्वाङ्गीण भौतिक प्रगति के होने पर भी आध्यात्मिकता के अभाव में सभी कुछ फीका और छूछा प्रतीत हो रहा है और वहाँ की जनता के मन में भय और आशंका व्याप्त है।

आत्म-कल्याण के लक्ष्य को सामने रखकर ही उपनिषदों में बार-बार कहा गया है :

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

(कठोप० १।१।२७)

अर्थात्, भौतिक सुखोपभोग की सामग्री से मनुष्य के अन्दर जो शाश्वत शान्ति की भूख है उसकी तृप्ति नहीं हो सकती।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

(कठोप० १।२।१०)

अर्थात्, विनशन-शील भौतिक पदार्थों के द्वारा नित्य आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इन कथनों का अभिप्राय यही है कि अध्यात्म-मार्ग में आगे बढ़ने के लिए भौतिक सुख-सामग्री की साक्षात् उपयोगिता नहीं है। अपनी आध्यात्मिक प्रगति के परम लक्ष्य की किसी प्रकार की उपेक्षा न करता हुआ साधक, संयम और तपस्या के साथ, उस सुख-सामग्री में लिप्त हुए बिना, जीवन-यात्रा के लिए उसका उपयोग कर सकता है। उसको उपनिषदों का निम्नलिखित संदेश सदैव ध्यान में रखना चाहिए :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

अर्थात्, सत्य का, वास्तविक तत्त्व का, मुख सुवर्णमय पात्र से, इन्द्रियों के लिए आकर्षक बाह्य जगत् के पदार्थों से, ढका हुआ है। हे पूषन्! सर्वशक्तियों के निधान

---

१. दे० "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ (कठोप० १।२।१-२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्वपालक परमात्मन् ! आप अनुग्रह करके उस आवरण को हटा दें जिससे उस सत्य-धर्म का, वास्तविक तत्त्व का, दर्शन, साक्षात्प्रतीति, मुझे हो सके !

ब्राह्मी स्थिति

परिच्छेद १५ ('उपनिषद् और भगवद्गीता') के अन्त में हम ब्राह्मी स्थिति का वर्णन कर चुके हैं। हमारा अभिप्राय ब्राह्मी स्थिति के लक्ष्य से यही है कि अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के सामने अपना भावात्मक लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। ब्रह्मज्ञानी को अमृतत्व की प्राप्ति मृत्यु के अनन्तर ही होती है, परम्परा-प्राप्त इस भावना के स्थान में उसकी यही आस्था होनी चाहिए कि मैं जीते जी, इसी जन्म में, अमृतत्व-प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता हूँ। मैं उसे अवश्य प्राप्त कर लूँगा।

इसी बात को उपनिषदों में इन शब्दों में स्पष्टतः कहा है :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥

(केनोप० २।५)

अर्थात्, यदि इसी जीवन में परम तत्त्व को जान लिया तब तो ठीक है; यदि इस जीवन में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है।

जीते जी इस अमृतत्व-प्राप्ति की अवस्था को गीता ने ब्राह्मी स्थिति या स्थित-प्रज्ञता इन शब्दों से कहा है और उसका द्वितीय अध्याय में, जैसा हम देख चुके हैं, बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

स्पष्ट है कि इस आदर्श के प्रकाश में अध्यात्म-मार्ग में एक सजीवता और नवीन स्फूर्ति आ जाती है। निश्चय ही आज विश्व को इस सन्देश की आवश्यकता है।

त्याग, तपस्या और सेवा का जीवन

अन्त में, 'औपनिषद धारा का विश्व को सन्देश'—इस प्रसङ्ग में हम त्याग, तपस्या और सेवा के आदर्श को एक प्रमुख स्थान देते हैं।

उपनिषदों के साथ संन्यास-भावना का परम्परया गहरा सम्बन्ध है, यह हम अन्यत्र दिखला चुके हैं। गीता ने, औपनिषद संन्यास का वास्तविक क्या अभिप्राय है, यह दिखाने का बड़ा प्रयत्न किया है। गीता के मत में कपड़े रँगकर सब कर्त्तव्य कर्मों को छोड़कर घर का त्याग कर देना सच्चा संन्यास नहीं है। गीता का कहना यही है कि कर्म-फल की आसक्ति को छोड़कर जो अपने कर्त्तव्य कर्म को करता है, वही संन्यासी है। वह नहीं, जो निरग्नि है (अर्थात् जिसने अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़ दिया है), अथवा जो अक्रिय है (अर्थात् कर्तव्य कर्मों को छोड़कर जो निठल्ला बैठा रहता है)[१]।

---

१. दे० गीता ६।१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता की इस व्याख्या के अनुसार औपनिषद धारा से अनुमोदित संन्यासी वही हो सकता है जो निश्छल भाव से बराबर त्याग, तपस्या और सेवा के आदर्श का अनुगामी है। त्याग, तपस्या और सेवा के आदर्श का जो महत्त्व भारतीय प्राचीन आध्यात्मिक वाङ्मय में यत्र-तत्र गाया गया है[1] वह सर्वथा औपनिषद धारा के अनुकूल ही है।

सुख और ऐश्वर्य में लिप्त आज के मानव-जगत् के लिए त्याग, तपस्या और सेवा के आदर्शों की अभूतपूर्व आवश्यकता है। मानव-जाति का इसीमें कल्याण है। इसीमें उसका महत्त्व है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि औपनिषद-धारा-मूलक आध्यात्मिक भावना से ही मानव-समाज के सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रिय सम्बन्धों में एक मौलिक क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और उनका आधार वास्तव में सर्वोदय का सिद्धान्त बन सकता है।

अन्त में हम कठोपनिषद् के सुप्रसिद्ध उद्बोधन के साथ इस औपनिषद धारा को समाप्त करते हैं :

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठोप० १।३।१४)

अर्थात्,

अयि अध्यात्म-मार्ग के पथिको !
उठो जागो !
श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो !
तत्त्वज्ञानी उस दुर्गम अध्यात्म-मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के समान बतलाते हैं।

---

१. बृ० उ० (५।२) में प्रजापति द्वारा देव, मनुष्य और असुरों के लिए पृथक्-पृथक् प्रथम 'द' इस अक्षर का उपदेश दिया गया है। फिर बतलाया गया है कि उक्त तीनों 'द' से अभिप्राय है दम, दान और दया का। इन दान, दम और दया की व्याख्या वास्तव में त्याग, तप और सेवा इन शब्दों में की जा सकती है। (तु० "तदेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति" बृ० उ० ५।२।३)। दान (त्याग) और दम (तप) के विषय में किसीको विवाद नहीं हो सकता। हाँ, सेवा के विषय में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में दीन-दुखी की स्वयं साक्षात् सेवा पर कम ध्यान दिया गया है। दया पर बल दिया गया है, पर एक ऊँची जाति का व्यक्ति या एक संन्यासी जाति-निरपेक्षित रोगी या दीन की स्वयं सेवा करने को मुश्किल से ही तैयार होगा। इस दुर्भावना को दूर करना हमारा कर्तव्य है। सौभाग्य से नव्य भारत का ध्यान इस ओर जा रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्धृत अथवा उल्लिखित ग्रन्थ-तालिका

अक्षमालोपनिषद्
अग्निपुराण
अणुभाष्य (= ब्रह्मसूत्र-वल्लभभाष्य)
अथर्ववेद-संहिता
अथर्ववेद-भाष्य, सायण-कृत
अथर्ववेदीय पैप्पलाद-शाखा
अथर्ववेदीय शौनक-शाखा
अपरोक्षानुभूति
अमृतमन्थन : डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री
अर्थशास्त्र, कौटिल्यकृत
अवधूतोपनिषद्
अष्टाध्यायी (पाणिनीय अष्टाध्यायी)
अष्टाविंशत्युपनिषदः (निर्णयसागर प्रेस)
आनन्दमठ : बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय
आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषासूत्र
आश्वलायन-श्रौतसूत्र
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः (निर्णयसागर प्रेस)
ईशोपनिषद् (अथवा ईशावास्योपनिषद्)
उणादिसूत्र (दशपादी)
उणादिसूत्र (पञ्चपादी)
उत्तररामचरित
उपनिषत्पदानुक्रम (विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा संपादित)
उपनिषद्वाक्यमहाकोश (१९४०, गजानन शम्भु साधले द्वारा संपादित)
ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद्
ऋग्वेद (-संहिता)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामिदयानन्द-कृत
ऐतरेय-ब्राह्मण
ऐतरेयारण्यक
ऐतरेयोपनिषद्
कठोपनिषद्
कबीरग्रन्थावली
'कल्याण' का वेदान्ताङ्क (अगस्त १९३६)
कादम्बरी
काशिकावृत्ति (पाणिनीय अष्टाध्यायी पर)
कुचोपनिषद्
कृष्ण-यजुर्वेदीय कठ-शाखा
कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा
केनोपनिषद् (अथवा तलवकारोपनिषद्, अथवा जैमिनीयोपनिषद्)
केनोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्
कौषीतक्युपनिषद्
गणपाठ, पाणिनिकृत
गर्भोपनिषद्
गीता (अथवा भगवद्गीता)
गीताध्यान
गीतारहस्य (हिन्दी अनुवाद, बाल गंगाधर तिलक)
गीता-शांकरभाष्य
गुरुग्रन्थसाहिब
गोपथब्राह्मण (Dr. D. gaastra का संस्करण, १९१९)
गोपीचन्दनोपनिषद्
गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह (सरस्वतीभवन-ग्रन्थ-माला, सं० १८, १९२५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गोविन्दभाष्य (=ब्रह्मसूत्र पर बलदेवकृत भाष्य)
गौडपादीयकारिका
गौतमधर्मसूत्र
चरकसंहिता (निर्णयसागर प्रेस, १९३३)
चूलिकोपनिषद्
छान्दोग्य-ब्राह्मण
छान्दोग्योपनिषद्
छान्दोग्योपनिषत्-शांकरभाष्य
जाबालोपनिषद्
जीवनज्योति : डा० मङ्गलदेवशास्त्री (इण्डियन प्रेस, १९५८)
जीवनज्योति : (अथवा 'वैदिक गीताञ्जलि' १६ रश्मियों में) डा० मङ्गलदेव शास्त्री कृत
जैमिनीय तलवकार-ब्राह्मण
जैमिनीयाश्वमेधपर्व
ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ताण्ड्यमहाब्राह्मण पर सायण-भाष्य
तुलस्युपनिषद्
तैत्तिरीयब्राह्मण
तैत्तिरीयसंहिता
तैत्तिरीयसंहिता पर सायण-भाष्य की भूमिका
तैत्तिरीयारण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषत्-शांकरभाष्य
देवीभागवत (म० मोर का प्रकाशन, कलकत्ता, १९६०)
धम्मपद
धम्मपद का राहुल सांकृत्यायन का संस्कृतानुवाद
धर्मतत्त्व : बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय
नारदपरिव्राजकोपनिषद्
निरुक्त, यास्ककृत
नीतिशतक (भर्तृहरिकृत, निर्णयसागर प्रेस)
नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद्
न्यायसूत्र (अथवा गौतमन्यायसूत्र)
पञ्चदशी
पूर्णप्रज्ञभाष्य (अथवा ब्रह्मसूत्र-मध्वभाष्य)
पूर्वमीमांसा (-सूत्र)
पैङ्गलोपनिषद्
प्रबन्धप्रकाश, द्वितीयभाग (संस्करण १९६७)
प्रबोधसुधाकर (शंकराचार्यकृत)
प्रश्नोत्तरी, शंकराचार्यकृत (मास्टरमणिमाला की संख्या २०७, वाराणसी)
प्रश्नोपनिषद्
बुद्धचरित
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिक
बोधसार, नरहरि स्वामी कृत (सं० १९८९)
ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्मसूत्र (अथवा वेदान्तसूत्र अथवा शारीरक मीमांसा)
ब्रह्मसूत्र-निम्बार्कभाष्य
ब्रह्मसूत्र-ब्रह्ममुनिभाष्य (स्वामी ब्रह्ममुनिकृत, होशियारपुर, १९५४)
ब्रह्मसूत्र-भास्करभाष्य
ब्रह्मसूत्र-मध्वभाष्य
ब्रह्मसूत्र-रामानुज-भाष्य
ब्रह्मसूत्र-वल्लभ-भाष्य
ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आचार्य उपवर्ष कृत
ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आचार्य बोधायन कृत
ब्रह्मसूत्रवैदिकभाष्य, श्री भगवदाचार्यकृत (अलवर १७४८)
ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य, पञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य कृत (बनारस, शकाब्द १८५९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की भूमिका, म० म० गोपीनाथ कविराज (१९३६)
ब्रह्मसूत्र-श्रीकण्ठ भाष्य (अथवा 'शैवभाष्य')
ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन (डा० रामकृष्ण आचार्यकृत)
भविष्यपुराण
भागवत (अथवा श्रीमद्भागवत)
भामती (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की व्याख्या)
भारतीय संस्कृति का विकास, प्रथम खण्ड, वैदिकधारा (द्वितीय संस्करण, १९६४)
मत्स्यपुराण (नन्दलाल मोर का प्रकाशन, कलकत्ता, १९५४)
मनुस्मृति (निर्णयसागर प्रेस)
मनुस्मृति पर कुल्लूक भट्ट की टीका
मन्त्र-ब्राह्मण
महानारायणोपनिषद्
महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
महाभारत की व्याख्या, नीलकण्ठ कृत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
महाभाष्य (=व्याकरण-महाभाष्य अथवा पातञ्जलमहाभाष्य)
महायानवादी शान्तिदेवाचार्य की कारिका
महोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
माण्डूक्योपनिषत्कारिका
मुक्तिकोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद् पर शांकर भाष्य
मैत्रायणीयोपनिषद् (अथवा मैत्र्युपनिषद्)
मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्र्युपनिषद्
मोहमुद्गर (शंकराचार्यकृत, गीताप्रेस, गोरखपुर)
यजुर्वेद (-संहिता)
याज्ञवल्क्यस्मृति (निर्णयसागर प्रेस)
योगवासिष्ठ
योगसूत्र (अथवा पातञ्जल-योगसूत्र)
योगसूत्र-व्यासभाष्य
योगोपनिषदः (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित)
रघुवंशमहाकाव्य
रश्मिमाला : डा० मङ्गलदेव शास्त्री
रसोपनिषद्
रामचरितमानस, रामदास गौड द्वारा सम्पादित (हिन्दी पुस्तक एजेन्सी द्वारा प्रकाशित, पहला संस्करण)
रामरहस्योपनिषद्
रामायण (वाल्मीकिरामायण)
वज्रसूच्युपनिषद्
वाक्यपदीय (भर्तृहरिकृत)
वाक्यपदीय पर पुण्यराज की टीका
वाल्मीकिरामायण
विज्ञानामृतभाष्य (=ब्रह्मसूत्र पर विज्ञान-भिक्षु-कृत भाष्य)
विदुरनीति
विवेकचूडामणि
विष्णुपुराण (गीताप्रेस, गोरखपुर का संस्करण, सं० १९९०)
वेदान्तपारिजातसौरभ (अथवा ब्रह्मसूत्र-निम्बार्क-भाष्य)
वेदान्तसूत्र (अथवा ब्रह्मसूत्र)
वेदान्तसूत्र-वैदिकवृत्ति, स्वामी हरिप्रसाद कृत (बम्बई, १९१४)
वेदान्तार्यभाष्य, आर्यमुनिकृत,
वैदिकपदानुक्रमकोष (विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा सम्पादित)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पं० भगवद्दत्तकृत, प्रथम संस्करण
वैराग्यशतक (निर्णय सागर प्रेस)
वैशेषिकसूत्र
वैष्णवोपदनिषदः (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, से प्रकाशित)
व्याकरणमहाभाष्य
शकुन्तलानाटक (अभिज्ञान-शाकुन्तल)
शंकरदिग्विजय, माधवाचार्यकृत
शङ्करदिग्विजय (बलदेव उपाध्याय कृत हिन्दी अनुवाद सहित)
शतपथ-ब्राह्मण
शाक्तोपनिषदः (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, से प्रकाशित)
शान्तिपाठ (कठोपनिषद् का)
शुक्लयजुर्वेदसंहिता (काण्व शाखा)
शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा
शृङ्गारशतक (भर्तृहरिकृत)
शैवोपनिषदः (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, से प्रकाशित)
श्रीकरभाष्य (= ब्रह्मसूत्र पर श्रीपतिकृत-भाष्य)
श्रीभाष्य (अथवा ब्रह्मसूत्र-रामानुज-भाष्य)
श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासोपनिषदः (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित)
सामवेद (-संहिता)
सामवेदीय तलवकार-शाखा
साहित्यदर्पण
सुबालोपनिषद्
सूतसंहिता
हरिवंश (गीताप्रेस, गोरखपुर)
हर्षचरित
हारीतस्मृति
हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र

A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, *by R. D. Ranade*, 1926.
A History of Sanskrit Literature, *by A. A. Macdonell.*
Critique of the Brahma-sutra, *by Dr. P. M. Modi.*
Lectures on Homoeopathic Philosophy, *by J. T. Kent*, Calcutta, 1957.
Proceedings and Transactions of the Second Oriental Conference. (Calcutta, 1923)
Report and Proceedings of the Sixth All India Oriental Conference.
Sarasvati Bhavana Studies, Vol, X, 1938.
The Philosophy of the Upanishads, *by Paul Deussen*, (इंग्लिश अनुवाद), 1919.
The Principal Upanishads, *by Dr. S. Radhakrishnan, 1951.*
The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads, *by A. B. Keith.*

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon